मध्ययुगीन काव्य-साधना

डॉ० रामचन्द्र तिवारी

विश्वविद्यालय प्रकाशन
गोरखपुर : वाराणसी

cat- 27008
14- 01- 13

Rajeev

मध्ययुगीन काव्य-साधना

लेखक

रामचन्द्र तिवारी, एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय

विश्वविद्यालय प्रकाशन
गोरखपुर • वाराणसी

मूल्य : चार रुपये पचास नये पैसे

प्रथम संस्करण : सितम्बर १९६२

MADHYAYUGIN KAVYA-SADHNA

by

Dr. Ramchandra Tewari

Acc. No 27925
Cost Rs. 4.50
Date 20.3.67

Sri Pratap Singh
Library
Srinagar.

H81.9
R17M

© विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर १९६२

प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, नखास चौक, गोरखपुर।
मुद्रक—ओमप्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ५८३४–१८

●

मध्य-युगकी उन महान् विभूतियोंको जिन्होंने
काव्यको जीवनकी साधनाके रूपमें
स्वीकार किया था ।

—लेखक

दो शब्द

प्रस्तुत कृतिमें हिन्दी-साहित्यके पूर्व-मध्यकालकी सीमाओंमें आनेवाले प्रतिनिधि कवियों—कबीर, जायसी, सूरदास, नन्ददास, तुलसीदास और केशवदास—का अध्ययन एवं मूल्याङ्कन किया गया है। प्रारंभमें पृष्ठभूमिके अन्तर्गत मध्ययुगके समूचे साहित्यको दृष्टिमें रखते हुए पूरे युग-जीवनकी सांस्कृतिक चेतनाकी समीक्षा की गई है। हिन्दीके इतिहास लेखकों और समीक्षकोंने पूर्व मध्यकालको काव्य-प्रवृत्तियोंकी दृष्टिसे क्रमशः भक्ति-काल और रीति-कालकी संज्ञा प्रदानकी है। विचार करनेपर विद्वानोंका यह विभाजन अधिक उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। भक्ति-कालमें रीति-काव्य कम नहीं लिखा गया है। इसी प्रकार रीति-कालमें भी भक्ति-प्रधान-काव्यकी रचना परिमाणमें बहुत कम नहीं हुई है। प्रस्तुत कृतिमें लेखकने मध्ययुगीन हिन्दी-काव्यको 'राज्याश्रयी', 'धर्माश्रयी' और 'लोकाश्रयी' शीर्षकोंके अन्तर्गत विभक्त किया है। उसका यह विभाजन मध्ययुगीन हिन्दी-काव्यकी प्रेरणा-भूमियोंके आधारपर देखने और परखनेकी प्रेरणा देता है। लेखकने काव्य-कृतियोंके अनुशीलनके आधारपर उन जीवन-मूल्योंको प्रत्यक्ष करनेकी चेष्टा की है जिनसे चिपकी रहकर मध्य-युगीन जनता अपना अस्तित्व सुरक्षित रख सकी है। कवियोंका व्यक्तिगत मूल्याङ्कन करते समय लेखकने आधुनिक समीक्षा-सिद्धान्तोंके साथ ही उन आदर्शोंको भी दृष्टिमें रखा है जो तज्जुगीन हिन्दी कवियोंको निजी तौरपर मान्य थे। लेखक 'कला' एवं 'दर्शन'को समाज-निरपेक्ष नहीं मानता। उसकी दृष्टिमें युग-विशेषके कलागत आदर्श तथा दार्शनिक विचार तज्जुगीन जीवन-चेतनाके आधारपर ही प्रतिष्ठित होते हैं। सब मिलाकर वे युगकी आकांक्षाके ही प्रतीक होते हैं। प्रस्तुत कृतिमें कवियोंका

मूल्याङ्कन करते समय लेखकने उपर्युक्त दृष्टिकोणको बराबर ध्यानमें रखा है। उसने यथासाध्य अपने मूल्याङ्कनको सन्तुलित, निष्पक्ष, निर्विवाद और विवेक-सम्मत बनानेकी चेष्टाकी है। उसने आलोच्य कृतियोंका धैर्यपूर्वक अनुशीलन किया है और अपने विचारोंको उन्हींपर आधृत रखनेकी चेष्टाकी है। लेखक उन सभी विद्वानोंका ऋणी है जिनके विचारों, निष्कर्षों एवं आदर्शोंको उसने जाने-अनजाने आधार रूपमें स्वीकार किया है।

लेखक सब कुछ कह सकनेकी महत्वाकांक्षाकी मरीचिकाके पीछे भटकते रहकर कुछ भी न कहनेको बुद्धि-संगत नहीं मानता। इसी न्यायके बलपर उसने मध्ययुगकी उपर्युक्त महान् विभूतियोंके सम्बन्धमें कुछ कहनेका साहस किया है।

कृति आजसे लगभग दो वर्ष पूर्व ही प्रस्तुतकी जा चुकी थी। प्रकाशित अब हो रही है। अनुभवी मित्रोंकी सम्मतिमें यह दीर्घ कालक्षेप अधिक नहीं है।

—रामचन्द्र तिवारी

विषय-सूची

पृष्ठभूमि पृष्ठ

प्रवेश, मध्ययुगीन हिन्दी-काव्यकी प्रेरणा भूमियाँ,—राज्याश्रय, धर्माश्रय और लोकाश्रय—राज्याश्रयी काव्यकी प्रवृत्तियाँ, मुगल और राजपूत राज्याश्रय तथा हिन्दी-काव्य, मध्ययुगीन लोकाश्रयी काव्य, मध्ययुगीन धर्माश्रयी काव्य, सगुणभक्तिका विकास, निर्गुण भक्तिका विकास, कृष्ण और राम-भक्ति-धाराओंका परवर्त्ती रूप, निर्गुण भक्ति-धाराका परवर्त्ती रूप, धर्माश्रयी काव्यका मूल्याङ्कन - सामाजिक उदारता, नैतिक दृष्टि, प्रेमकी महत्ता—मध्ययुगीन काव्यादर्श, मध्ययुगीन काव्योंके आधारपर जन-जीवनका चित्रण —प्राचीन जीवन-व्यवस्थाकी विश्रृंखलता, स्त्रियोंकी हीनावस्था, अन्धविश्वास, राजनैतिक चेतनाका अभाव, राष्ट्रीय चेतनाका अभाव, आर्थिक विषमता—मध्ययुगीन काव्यमें व्यक्तित्वका अभाव। १-३९

कबीर

प्रवेश, बौद्ध सिद्ध:नाथ पंथी योगी और कबीर, कबीरके काव्यमें सिद्धों और नाथोंकी मान्यताओंका सङ्क्रमण—उच्चवर्गीय संस्कृतिके प्रति विद्रोहकी भावना, गुरूका महत्त्व, पिण्ड-ब्रह्माण्डकी एकता, साध्यका स्वरूप, भाषा और शैली-वैष्णव-भक्ति ओर कबीर, सूफी प्रेम-तत्त्व और कबीर, इस्लामी एकेश्वरवाद और कबीर, कबीर और सन्तमतको प्रभावित करनेवाले अन्य सम्प्रदाय, निष्कर्ष, कबीरका सामाजिक दृष्टिकोण, कबीरकी दृष्टिमें जीव संसार और माया, कबीरकी भक्ति-भावना, कबीरका कविरूप, छन्द-शैली और भाषा, उपसंहार, पठनीय सामग्री। ४०-८६

मलिक मुहम्मद जायसी

प्रवेश, पद्मावतकी कहानीके मूल स्रोत, सिंहलद्वीपकी भौगोलिक स्थिति, पद्मावतकी कथाकी ऐतिहासिकता, पद्मावतकी कथानक रूढ़ियाँ, पद्मावत प्रेमगाथा है पूर्ण जीवन-गाथा नहीं, जायसीका प्रेमादर्श, काव्य सौष्ठव—भाव-व्यञ्जना, कला, जायसीका रहस्यवाद—रहस्यवाद और दर्शन, प्रेम केन्द्र-बिन्दु, साध्यका स्वरूप, रहस्यानुभूतिकी अभिव्यक्ति—सूफी-साधना

और योग-मार्ग, जायसीके रहस्यवादकी काव्यानुकूलता, जायसी-प्रशस्ति, पठनीय सामग्री । ८७-१२८

सूरदास

प्रवेश, आचार्य वल्लभका शुद्धाद्वैतवाद—ब्रह्मतत्त्व, जीवतत्त्व, जगत् तत्त्व, माया, मुक्ति—सूरदासजीकी दार्शनिक मान्यतायें— ब्रह्म, जीव, जगत् और संसार, माया, मोक्ष—सूरकी भक्ति-पद्धति—शास्त्रीय दृष्टि, साम्प्रदायिक दृष्टि, भाव-गत दृष्टि—अन्य साधनायें और सूरकी भक्ति-पद्धति, काव्य-सौष्ठव—भावानुभूति, सौन्दर्यानुभूति—सूर-साहित्यमें सामाजिक तत्त्व, अभिव्यक्ति सोन्दर्य—शैली, भाषा, छन्द-योजना, दोष, निष्कर्ष—नाभादासकी उक्ति, पठनीय सामग्री । १२९-१७६

नन्ददास

प्रवेश, दार्शनिक विचार, भक्ति-सिद्धान्त, प्रेमाभक्ति, नन्ददास वर्णित रासका स्वरूप, रासपञ्चाध्यायीमें प्रेमकी आध्यात्मिक भूमि, काव्य-सौष्ठव, नन्ददासका सौन्दर्याङ्कन, वस्तुवर्णन, अभिव्यक्ति-सौन्दर्य—भाषा और शैली—नाभादासकी उक्ति, पठनीय सामग्री । १७७-२०७

तुलसीदास

प्रवेश, तुलसीदासके दार्शनिक सिद्धान्त, तुलसीकी भक्ति-पद्धति, काव्य-सौष्ठव—तुलसीका काव्यादर्श, भाव-चित्रण—अभिव्यक्ति सौन्दर्य—शैली, अलंकरण, शब्द-संघटन—छन्द-योजना, तुलसीका समाज-दर्शन, तुलसीका नारी-विषयक दृष्टिकोण, मूल्याङ्कन, पठनीय सामग्री । २०८-२६५

आचार्य कवि केशवदास

प्रवेश, केशवका काव्य-विषयक दृष्टिकोण, आचार्यत्व, प्रामाणिक कृतियाँ, काव्य-सौष्ठव—भाव-व्यञ्जना, सहृदयताका प्रश्न, चरित्र-चित्रण, वस्तु-वर्णन, प्रकृति-चित्रण, सौन्दर्याङ्कन, संवाद, काव्य-शैली, अलंकार-योजना, छन्द-योजना, भाषा—भक्ति-भावना, व्यक्तित्व और मूल्याङ्कन । २६६-३१९

उपसंहार ३२०

सहायक ग्रंथ सूची ३२१-३२४

नामानुक्रमणी ३२५-३२८

मध्ययुगीन काव्य-साधना

पृष्ठभूमि

हिन्दी-साहित्यका मध्ययुग अपनी गरिमामें जितना महान् है, विभिन्न दृष्टियोंसे उसका अध्ययन और मूल्यांकन अभी उतना ही कम हुआ है। सामान्यतः १४०० वि० संवत्से १७०० वि० तकके समयको पण्डितोंने पूर्व-मध्यकाल और १७०० वि०से १९०० वि० तककी अवधिको उत्तर-मध्यकाल कहा है। भारतीय इतिहासके मध्यकालकी अवधि इससे थोड़ी भिन्न है। भारतीय इतिहासमें ६०० ई० (६५७ वि०) से १९०० ई० (१९५७ वि०) तक मध्यकालकी स्थिति मानी जाती है। आज जब हम मध्ययुगीन विशेषणका प्रयोग करते हैं तो हमारा तात्पर्य आधुनिक युगकी वैज्ञानिक एवं बौद्धिक चेतनाके प्रतिकूल एक विशेष प्रकारकी जीवन-चेतनासे होता है जो विश्वास-प्रधान, रूढ़िग्रस्त, आदर्शवादी, संकीर्ण, धर्मभीरु, प्रेरणा-रहित और स्थूल नैतिकताके आग्रहसे पूर्ण रही है। सत्य तो यह है कि भारतवर्षकी जनताके जीवनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन आधुनिक युगके पूर्व प्रायः नहीं हुआ है। यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि मध्यकालीन जन-जीवनमें परिवर्तन हुए ही नहीं या जैसा कि स्मिथ महोदयने कहा है कि 'उसका कोई वर्णन करने योग्य इतिहास ही नहीं है'[१], किन्तु यह सत्य है कि भारतवर्षकी सामान्य जनताके जीवनगत मूल्योंमें मैगस्थनीजके जमानेसे लेकर मध्ययुगके अंतिम चरणतक क्रान्तिकारी कहा जा सकनेवाला परिवर्तन नहीं हुआ है। प्रसिद्ध इतिहासकार श्री लेन पूल (Lane-Poole)

---

[१] "The Indian Commonality has no history that can be told."
—*Akbar the Great Mogal,* Vincent, A. Smith
p. 279, 1958

महोदयने बहुत ठीक लक्ष्य किया है कि पूर्वी-देशोंकी जनताका जीवन चाहे जितना भी करुणापूर्ण क्यों न रहा हो उसमें उबा देनेवाली एकरूपता रही है[1]। जो परिवर्तन हुए हैं, या जनताका जीवन जैसा, जो कुछ भी रहा है, उसे जाननेके महत्त्वपूर्ण साधन मध्ययुगीन काव्यग्रंथ हैं, किन्तु इस दृष्टिसे उन्हें आजतक देखा ही नहीं गया है। पूरे मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्यके अध्ययनके आधारपर हम तज्जुगीन मानव-मूल्योंकी उपलब्धि कर सकते हैं। चेतनाके विविध स्तरोंका सम्यक् बोध प्राप्त कर सकते हैं और अन्ततः भारतीय संस्कृतिकी मूलभूत विशेषताओंसे अवगत हो सकते हैं। हिन्दीके आचार्योंने इस पूरे युगको साहित्यके स्तरपर 'भक्ति-काव्य' और 'रीतिकाव्य'की संज्ञा दी है। ये संज्ञाएँ काव्यगत प्रवृत्तियोंको ध्यानमें रखकर दी गई हैं। इन प्रवृत्तियोंके मूलमें किस प्रकारकी सामाजिक चेतना कार्य कर रही थी या किन मूल्योंमें विश्वास करता हुआ भक्ति और रीति-युगका कवि जी रहा था इसे लक्ष्य करनेकी बहुत थोड़ी चेष्टा हुई है। इसके लिए आवश्यक है कि सबसे पहले हम मध्ययुगीन काव्यकी प्रेरणा भूमियोंको ठीकसे पहचानें।

प्रेरणा-भूमियाँ

पूरे मध्य-युगमें हिन्दी-काव्यका विकास जीवनकी तीन समानान्तर प्रेरणाभूमियों—राज्य, धर्म और लोक—से अनुप्राणित होकर आगे बढ़ता रहा है। जिसे हम भक्ति-काल (पूर्व-मध्यकाल) कहते हैं, उसमें राज्याश्रयी साहित्य भी लिखा गया है और जिसे रीति-काल (उत्तर-मध्यकाल) कहा गया है, उसमें धर्माश्रयी काव्य-रचनाएँ कम नहीं हुई हैं। लोकाश्रयी काव्यका निजी स्वरूप

---

[1] In the East, the people does not change and there, far more than among more progressive races, the simple annals of the poor, however moving and pathetic, are indescribably trite and monotonous, compared with the lives of those more fortunate, to whom much has been given in opportunity, wealth, power and knowledge.

—*Mediaeval India Under Mohammadan Rule*, Preface.

इस पूरे युगमें बहुत स्पष्ट नहीं है किन्तु उसने धर्माश्रयी साहित्यको बहुत-कुछ प्रभावित किया है और यदा-कदा राज-दरबारमें भी उसकी पहुँच हो ही गई है। इसलिए प्रेरणा-भूमियोंको दृष्टिमें रखकर मध्ययुगीन हिन्दी-काव्यको 'राज्याश्रयी', 'धर्माश्रयी' और 'लोकाश्रयी' काव्यके रूपमें देखा जा सकता है।

राज्याश्रयी काव्यकी प्रवृत्तियाँ

राज्याश्रयमें शृंगार, हास्य, उत्साह, नीति, सूक्ति, व्यंग्य, अध्यात्मज्ञान (कभी-कभी) काव्य-शास्त्र, इतिहास एवं अन्य उपयोगी साहित्य सम्बन्धी रचनाएँ सुविधापूर्वक प्रस्तुत की जा सकती हैं। राज्य-सत्ता जब शक्ति-सम्पन्न होती है तब प्रधानतः वीर-काव्य (उत्साह-प्रधान काव्य) लिखे जाते हैं और उनके साथ स्वस्थ-शृंगार, हास्य, नीति, अध्यात्म, सूक्ति आदि विविध प्रकारके काव्य भी अवकाश, अवसर और आवश्यकताके अनुसार रचे जाते हैं। किन्तु राज्यसत्ता जब श्री, शक्ति और स्वत्वहीन होकर लड़खड़ाने लगती है तब उसे आत्मविस्मृतिकी स्थिति में बनाये रखनेके लिए वासनापूर्ण शृंगारके मोहक चित्रोंकी सज्जा की जाती है। मध्यकालीन हिन्दी-काव्यकी राज्याश्रयी धाराके क्रमशः परिवर्तित रूपको परखनेके लिए इस पूरे युगकी राजसत्ताके इतिहासकी जानकारी उपयोगी सिद्ध होगी।

मध्ययुगीन राज्याश्रय

मध्ययुगीन हिन्दी-काव्यके उद्‌भवके पूर्व ही उत्तरी भारतके राजपूत राजवंश प्रायः नष्ट हो चुके थे। कन्नौजके गहड़वाल (१०८५-१२२५ ई०), अजमेर और दिल्लीके चौहान (११९४ ई०), बुन्देलखण्डके चन्देल (९५०-१२०३ ई०), मालवाके परमार (दसवीं शतीके प्रारम्भसे १३०५ ई०), बंगालके पाल (७२५-११७५ ई०) और सेन (१०९५-११९९ ई०) तथा गुजरातके सोलंकी (९५१-१२९७ ई०) आक्रमणकारी मुसलमानोंके साथ संघर्ष करते हुए अस्त हो चुके थे। इनके स्थानपर दिल्ली, जौनपुर और बंगालमें मुसलमानी राज्य स्थापित हो गये थे। दिल्लीमें राज्य-सत्ता चंचल रही। सन् १२०६ ई० से १५२६ ई० तक क्रमशः गुलामवंश (१२०६-१२९०), खिलजी वंश (१२९०-१३२०), तुगलक वंश (१३२०-१४१४), सैयद वंश (१४१४-१४५१), और लोदीवंश (१४५१-१५२६ ई०) के शासकोंने राज्य किया। यह ३०० वर्षोंका समय घोर संघर्षमें

व्यतीत हुआ। ऐसी स्थितिमें राज्याश्रयी साहित्यको विकासका अवसर नहीं मिला। गुलामवंशके प्रसिद्ध बादशाह बलबनके आश्रयमें अमीर खुसरो (१२५४-१३२५ ई०)का साहित्य रचा गया। अमीर खुसरो (अबुल हसन) प्रतिभा-सम्पन्न कवि था। उसने अरबी और फारसीके साथ हिन्दी खड़ी-बोलीको भी काव्य-भाषाके रूपमें स्वीकार किया। बलबनके पुत्र मुहम्मदके विनोदके लिए लिखी गई उसकी पहेलियों और मुकरियोंमें हास्य तथा चमत्कारकी अच्छी सामग्री है। सब मिलाकर खुसरोका साहित्य दरबारी मनोवृत्तिका ही प्रतिनिधित्व करता है। दिल्लीपर शासन करनेवाले इन राजवंशोंके आश्रयमें अन्य भाषा-कवि भी रहे होंगे। इन सत्ताधीशोंके लिए कवि नामधारी जीव उसी प्रकार आवश्यक थे जिस प्रकार वैद्य, संगीतज्ञ, कुछ सहभोजी सुहृद, मृगया-यात्रामें साथ चलनेवाले बाज (पक्षी) पालक, कुछ हँकवा करनेवाले साथी और गप-शप करनेके लिए कुछ कानूनदाँ मित्र। शाहजादा मुहम्मद तुगलक (१३२५-५१) के आश्रयमें अरबी, फारसी और भारतीय भाषाओंके १,००० कवि रहते थे[१]। इतिहास विधाता ऐसे कवियोंकी ओर बिना देखे आगे बढ़ते रहे हैं। इसीलिए उपरोल्लिखित पाँच राजवंशोंके शासन-कालमें केवल खुसरोका ही उल्लेख मिलता है।

जौनपुर और बंगालमें स्थापित मुसलमानी राज्योंने मुख्यतः अरबी-फारसीके कवियोंको प्रोत्साहन दिया। बंगालके हुसैनी शासकोंने अवश्य ही बंगला कवियोंको भी प्रेरणा दी। उत्तरी भारतमें बचे-खुचे छोटे-मोटे हिन्दू-रजवाड़ोंके आश्रयमें कुछ कविगण अवश्य रहे होंगे किन्तु उनमें भाषा-कवियोंकी संख्या बहुत कम रही होगी। मिथिलाके राजा शिवसिंहके आश्रयमें महाकवि विद्यापति (१३६८-१४७५ ई०) की काव्य-कला विकसित हुई। विद्यापति एक साथ संस्कृत, अपभ्रंश और भाषा तीनोंमें कविता करते थे। तूफानकी गतिसे बढ़ते हुए क्रूर मुसलमान शासकोंकी दाढ़में अटके हुए इन राजाओंके दरबारमें रहकर चेतनाके क्षणोंमें इष्टदेवकी प्रार्थना और विस्मृतिके क्षणोंमें श्रृंगार-सरितामें जी खोलकर स्नान करनेके अतिरिक्त और किया ही क्या जा सकता था? इसीलिए विद्यापतिने या तो 'शिव' 'दुर्गा' और 'गंगा'के चरणोंमें अपनी भावनाके पुष्प अर्पित किये

---

[१] *Life and Conditions of the People of Hindustan*, Dr. K. M. Ashraf, 1959, p. 37.

या 'लखिमा देइ'में रमण करनेवाले 'राजा सिव सिंघ रूपनरायन'की रस-तुष्टिके लिए श्रृंगार रसकी देवी राधाको सामान्य-कामिनीके रूपमें सज्जित करके विविध स्थितियों, क्षणों और मुद्राओंमें उपस्थित किया।

मुगल और राजपूत राज्याश्रय तथा हिन्दी-काव्य

सन् १५२६ ई० में दिल्लीका शासन मुगलोंके हाथमें आया। १५२६ से ५६ तक बाबर और उसके बाद हुमायूँ अपनी स्थिति सुदृढ़ करनेमें लगे रहे। यद्यपि ये दोनों साहित्यिक रुचि-सम्पन्न बादशाह थे किन्तु आजीवन संघर्षरत रहनेके कारण अपने आस-पास साहित्यिक वातावरणका निर्माण न कर सके। अकबरके राज्यारोहण (१५५६ ई०) के पश्चात् धीरे-धीरे परिस्थितियोंमें परिवर्तन हुआ। मुगल शासनमें दृढ़ता आई और अकबरके दरबारमें फारसीके साथ हिन्दी कवियोंको भी सम्मान मिला। रहीम (१५५३-१६२७ ई०), गंग (१५३८-१६२१ ई०), बीरबल (१५८५ ई० मृत्यु), टोडरमल (१५२३-१५८९ ई०), नरहरि (१५०५-१६१० ई०), प्रिथीराज, 'करनेस', मनोहर, होलराय, आदि कवियोंको अकबरका आश्रय प्राप्त हुआ। अकबरके शासनमें दृढ़ता थी। उसे 'महाबली' कहा जाता था। उसकी नीतिमें उदारता और हृदयमें हिन्दुओंके प्रति सम्मान था। वह एक वीर और कुशल शासक था। इसीलिए उसके आश्रित कवियोंने वीर, शृंगार, काव्यशास्त्र और नीति विषयक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। बीरबल (ब्रह्म) ने वीरता और नीति-सम्बन्धी पद्य लिखे। मनोहर कविने शृंगारके दोहे और नीतिकी फुटकल उक्तियाँ प्रस्तुत कीं। रहीमने नायिका-भेद (शृंगार) और अनुभूतिपरक नीति-काव्यकी रचना की। 'करनेस' (नरहरि कविके साथी) ने 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' और 'भूप-भूषण' नामक तीन अलंकार ग्रन्थ लिखे। प्रिथीराजने पुराणसम्मत स्वस्थ शृंगाररस मण्डित प्रेम-काव्य लिखा; और होलरायने इन सबकी प्रशंसा करके पूरी मण्डलीकी कृपा प्राप्तकी।[1] मुगल राज्यके व्यवस्थित हो जानेपर उसकी छायामें सुख-शान्तिपूर्वक

---

[1] दिल्ली तें न तख्त ह्वैहैं, बख्त ना मुगल कैसो,
ह्वैहैं ना नगर बढ़ि आगरा नगर तें।
गंग तें न गुनी, तानसेन ते न तानबाज,
मान तें न राजा औ न दाता बीरबर तें।

जीवन व्यतीत करनेवाले तथा उसके प्रभाव क्षेत्रके बाहर रहकर कभी-कभी उससे टकरा जानेवाले राजाओंके दरबारमें भी हिन्दी-कवियोंको आश्रय मिला। अकबरके समकालीन ओरछानरेश महाराज रामसिंहके छोटे भाई इन्द्रजीत सिंहके आश्रयमें हिन्दीके प्रसिद्ध कवि केशवदासकी काव्य-कला विकसित हुई। केशव दासको कुल तीन आश्रयदाता मिले थे। जोधपुरके राजा मालदेवके पुत्र चन्द्रसेन, ओरछाके इन्द्रजीत सिंह तथा वीरसिंह देव। इनके आश्रयमें केशवने अलंकार, रस, अध्यात्म, चरित और भक्ति-काव्यकी रचना की। अकबरके समयमें आमेरके 'कछवाहा', चित्तौड़के 'सिसौदिया', रणथम्भौरके 'हाड़ा' और कालिंजरके 'चन्देल' राजपूत प्रबल थे। इनके अतिरिक्त ओरछा, दतिया, जोधपुर, जयपुर, बीकानेर, जैसलमेर, मारवाड़, चरखारी, पन्ना, बूँदी आदिमें भी राजपूतोंके तेजकी चिनगारी दबी पड़ी थी। उत्तरमध्यकालमें हिन्दीके प्रसिद्ध कवि चिंतामणि, मतिराम, बिहारी, प्रतापसाहि, भूषण, लाल और सूदन क्रमशः नागपुरके भोसला राजा मकरंदशाह, बूँदीके महाराज भाव सिंह, जयपुरके मिर्जा राजा जय सिंह, चरखारीके महाराज विक्रमसाहि, महाराष्ट्र केसरी शिवाजी, बुन्देलखंडके महाराज छत्रसाल तथा भरतपुरके महाराज बदनसिंहके पुत्र सुजानसिंहके आश्रित थे। प्रसिद्ध कवि पद्माकर तो जयपुरके महाराज जगत सिंह, उदयपुरके महाराज भीम सिंह, ग्वालियरके महाराज दौलतराव तथा बूँदी नरेश आदि कई राजाओंके आश्रित रहे। अकबरके बाद जहाँगीर और शाहजहाँके दरबारमें हिन्दी-कवियोंका जमघट तो नहीं लगा किन्तु यदा-कदा उन्हें सम्मान मिल जाता रहा। शाहजहाँ बादशाहके आश्रित सुन्दर कवि (१६३१ ई० कविता काल)का उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त उत्तर मध्यकालमें अनेक छोटे-मोटे सामन्त, अमीर, उमरा, रईस, जमींदार और जागीरदार आश्रयदाताओंने छोटे-मोटे कवियोंको आश्रय देकर अपनी रसिकताका परिचय दिया। पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल (१३२५-

---

खान खानखाना तें न, नर नरहरि तें न,
हैहैं ना दीवान कोऊ बेडर टुडर तें।
नवौ खण्ड सात दीप, सात हू समुद्र पार,
हैहैं ना जलालुद्दीन साह अकबर तें।

—हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २१६ पर उद्धृत।

१८५० ई०) की लम्बी अवधिमें राज्याश्रयी साहित्यकी स्थितिमें मूल्योंकी दृष्टिसे बहुत बड़ा अन्तर नहीं लक्ष्य किया जा सकता। पूर्व-मध्यकालमें जिस समय भक्त कवि उच्चतम नैतिक मूल्योंकी स्थापनामें रत थे, दरबारी कवि आश्रय-दाताकी प्रशंसा करने और उसकी मनोवृत्तिके अनुकूल हास्य, विनोद, नीति, सूक्ति या शृंगार और नायिकाभेद लिखनेमें लीन थे। पांडित्य-प्रदर्शन भी राजकीय वातावरणका एक अंग है। राज्याश्रयोंमें जो अध्यात्म और काव्यशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान-चर्चाका साहित्य लिखा गया है, वह इसी मनोवृत्तिका परिचायक है। अकबरके समयतक दिल्ली तथा अन्य राजपूत राज्याश्रय संघर्षकी स्थितिमें होनेके कारण सशक्त थे। उसके बाद मुगल साम्राज्यकी सत्ता दृढ़ हो जानेपर उसकी छायामें जीनेवाले छोटे-मोटे राज्य न तो आपसमें लड़ सकते थे और न विदेशी आक्रामकोंसे ही सीधे संघर्ष में आ सकते थे। मुगल फौजके साथ मिलकर एक दूसरे के विरुद्ध कभी-कभी तलवारें भाँज लेना ही उनके वीरत्वकी चरम परिणति थी। अतः वे विलासिताकी ओर झुके। सौभाग्यवश जहाँगीर और शाहजहाँके राजत्व कालमें मुगल सत्ता भी मदिराकी मादकता और रमणीके नेत्रोंकी तरलतामें ही डूबने-उतराने लगी थी। जहाँगीर और शाहजहाँने जमकर विलास किया। बर्नियरने इनकी विलास-लीलाका सजीव चित्र अपने यात्रा-विवरणमें प्रस्तुत किया है।[१] इनके समयमें कन्दहारको लेकर ईरानियोंसे होनेवाली नोक-झोंक तथा कभी-कभी पुर्तगालियों, अंग्रेजों और फ्रान्सीसियोंकी समुद्रतट पर होनेवाली छोटी-मोटी हरकतोंके अतिरिक्त कोई बड़ा युद्ध नहीं लड़ा गया। इसलिए निश्चिन्त राजसत्ता विलास-धर्मके पालनमें लगी रही। इसीका अनुकरण देशी राजा, अमीर, उमरा

---

[१] "Chah-Jehan was fond of the sex and introduced fairs at every festival. x x x x. He certainly transgressed the bounds of decency in admitting at those times into the seraglio singing and dancing girls called Kenchens (the gilded, the blooming) and in keeping them there for that purpose the whole night."

—*Travels in the Mogul Empire*, A. D. 1656-1663 by Francsois Bernier (1916) pp. 273, 274.

और जागीरदार भी करने लगे। मुगल बादशाहोंका अन्तःपुर अपने आपमें छोटा-मोटा परियोंका नगर हुआ करता था। यह सौन्दर्य राशि देशके कोने-कोनेसे कुटिल कुटनियों एवं चतुर-चाकरोंके अथक प्रयत्नके परिणामस्वरूप एकत्र हो पाती थी। जब अकबर जैसे सजग शासकके हरममें ५,००० नारी रत्न दिन-रात जगमगाते रहते थे[१] तो जहाँगीर और शाहजहाँके लिए तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। सूरने बहुत दिनोंतक यह लीला देखनेके बाद लिखा होगा—

"ज्यों दूती पर बधू भोरि कै लै पर पुरुष दिखावै" और केशवने अपनी बारह पीढ़ियोंका अनुभव बटोरकर काव्य-विषयोंकी चर्चा करते हुए राज्यश्रीके प्रसंगमें लिखा होगा कि—

आखेटक जलकेलि, पुनि, विरह स्वयंबर जानि।
भूषित सुरतादिकनि करि, राज्यश्रीहि बखानि[२]॥
राजा रानी, राज सुत, प्रोहित दलपति दूत।
मन्त्री, मन्त्र, पयान, हय, गय, संग्राम अभूत॥

राजा कैसाभी क्यों न हो, काव्य-जगत्में वह दृढ़प्रतिज्ञ, पुण्यात्मा, धार्मिक, प्रतापी, प्रसिद्ध, शत्रुनाशक, बलविवेक युक्त, कृपालु, दानी, सत्यवादी, धीर, उद्यमी, और क्षमानिधान ही हुआ करता था[३]। किन्तु असलियत कहाँतक छिपती। ऐसे राजा भी अपना बहुत-सा समय कमलमुखी सुन्दरियोंके साथ जलक्रीड़ामें जलचरोंके समान प्रवृत्त होकर व्यतीत करते थे। नारी-रत्नोंको रसिक नागरिकोंकी विलास-क्रीड़ा-वृत्तिके अनुकूल सज्जित करनेके लिए सखियों और दूतियोंकी आवश्यकता हुई। धाय, दासी, नाइन, नटी, पड़ोसिन, मालिन, तमोलिन, चितेरिन, मनिहारिन, सुनारिन, गोसांइन, सन्यासिन और पटवाइन इस महान् कार्यके

---

१. "The imperial harem constituted a town in itself. No less than five thousand women dwelt within the walls and each of them had a separate apartment."

—*Akbar the Great Mogul*, 1958
Vincent A. Smith, pp. 261.

२. 'कवि प्रिया', आठवाँ प्रभाव, पृष्ठ ११६।

३. वही, ” छन्द ३, ४; पृ० ११६।

लिए उपयुक्त समझी गई[1]। जो कुछ जिन्दगीमें जिया जा रहा था वही काव्यमें उतरता आ रहा था। इन सखियों और दूतियोंका काम था शिक्षा देना, विनय करना, मनाना, हृदयका भेद लेना, विरह-सुनाना, और येन-केन-प्रकारेण नायिकाको नायकसे मिला देना[2]। राज्याश्रयोंमें जीवनकी गम्भीर वृत्तियोंके उदात्त स्वरूपकी अभिव्यक्तिकी आवश्यकता न थी। वहाँ तो कोई ऐसी फड़कती हुई चीज सुनानी पड़ती थी कि महाराज और दरबारियोंके मुँहसे वाह-वाह निकल जाय। इसीलिए उत्तर मध्यकालीन हिन्दी-काव्य (जो एक प्रकारसे राज्याश्रयोंमें ही लिखा गया है) में या तो चमत्कृत कर देनेवाले अलंकारोंकी धूम है या शृङ्गारके नामपर विविध प्रकारकी नायिकाओंकी अनेक मुद्राओंके मुग्धकारी रूप-चित्रोंकी चहल-पहल। जो कवि राज्याश्रय नहीं प्राप्त कर पाते थे वे भी ऐसी ही रचनाएँ लेकर आश्रयकी खोजमें भटकते रहते थे। महाकवि देवको न जाने कितने नरनाहोंकी 'नाहीं' सुननी पड़ी थी[3]। ठाकुर जैसे कविको भी राजसभामें बड़प्पन पानेवाला कवि ही भाता था[4]। इस कालके रीति-मुक्त कहे जानेवाले शृंगारी कवि—घनानन्द, बोधा, आलम और ठाकुर—भी राज्याश्रयी ही थे। घनानन्द, मुहम्मद शाहके मीर मुंशी थे। बोधा, पन्ना नरेशके आश्रित थे। अलम, औरंगजेबके बेटे मुअज्जमके आश्रित थे। ठाकुर, जैतपुर नरेश पारीछतके दरबारी थे। इनके शृंगार-वर्णनमें (विशेषतः बोधा और घनानन्दमें) जो गम्भीरता आ गई है उसका कारण है लौकिक प्रेमकी असफलताके कारण इनकी भावनाका अध्यात्मोन्मुख हो जाना।

उत्तर मध्यकालमें औरंगजेबकी धर्मान्धताकी प्रतिक्रिया हुई। दक्षिणमें शिवाजी-

---

[1] 'रसिक प्रिया', केशवदास, १२, १, २।

[2] निज चतुराई ठानिकै भेद हियेको लेहि।
विरह सुनावै हेत धरि मिलवै मग संग देहि॥

हिततरंगिणी, 'हिन्दी साहित्यपर संस्कृत साहित्यका प्रभाव', पृ० २३७ पर उद्धृत।

[3] आजुलौं केतिक नरनाहनकी नाहीं सुनि
हार लो निहोरि होरि बदन विलोकतौं॥—**देव**

[4] ठाकुर सो कवि भावत मोंहि जो राजसभामें बड़प्पन पावै।
—**ठाकुर**

के नेतृत्वमें मराठे, मथुराके आस-पास गोकुल, जाटके नेतृत्वमें वहाँके हिन्दू किसान, ओरछामें बुन्देले राजपूत, दिल्लीके पश्चिम नारनौलमें सतनामी सन्त, पंजाबमें गुरु तेगबहादुरके नेतृत्वमें सिक्ख, राजस्थानमें मेवाड़के राणा राजसिंह और मारवाड़के सरदार दुर्गादासके नेतृत्वमें राजपूत संगठित हो गये। इस संगठनको सम्भव बनानेमें १५वीं और १६वीं शताब्दियोंके धार्मिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलनोंके माध्यमसे जनतामें व्याप्त नवचेतना भी कार्य कर रही थी। शिवाजीके व्यक्तित्वका विकास समर्थ गुरु रामदासकी देख-रेखमें हुआ था। सिक्खों और सतनामियोंका संगठन भी मूलतः नवीन धार्मिक जागृतिके कारण सांस्कृतिक स्तरपर किया गया था। छत्रसालके मनमें दृढ़ता उत्पन्न करनेका कार्य सन्त साधक अक्षरअनन्यने किया था। इस प्रकार हिन्दुत्वकी प्रतिष्ठा एवं जन्मभूमिकी रक्षाकी भावनासे भावित होकर जब इन वीर राजपूतोंने शस्त्र उठाया तो इनके आश्रयमें 'भूषण', 'सूदन' और 'लाल'ने शुद्ध वीर-काव्यकी रचना की। इसी प्रकार राणाप्रतापके शौर्यसे प्रभावित होकर दुरसाजी-चारणने 'प्रताप चौहत्तरी' लिखी थी[1]। राज्याश्रयके वातावरणमें परिवर्तन होनेपर राज्याश्रयी साहित्यका स्वरूप निरन्तर परिवर्तित होता रहा है किन्तु घूम-फिरकर वह वीर, शृंगार, नीति, प्रशस्ति, सूक्ति, हास्य और रीतिकी परिधिमें ही चक्कर काटता रहा है। कुछ अपवादोंको छोड़कर यह सारा काव्य मुक्तक शैलीमें ही लिखा गया है। दरबारमें प्रबन्ध-काव्यके लिए क्या स्थान हो सकता है? महाराज पोथा नहीं सुनते थे। इसीलिए वीर-काव्यकी रासो-पद्धति धीरे-धीरे लुप्त हो गई। मुसलमानी दरबारोंमें तो हिन्दी-कवियोंको उर्दूके शायरोंसे मोर्चा लेना पड़ता था। उधरसे वे शेर पढ़ते या गज़ल गाते थे, इधरसे ये कवित्त, सवैया या दोहा भनते थे[2]। इसलिए राज्याश्रयी काव्य (चाहे वह भक्तिकालका हो चाहे रीतिकालका) की मूल-प्रवृत्ति प्रायः एक-सी रही है। यह जन-जीवनसे दूर रहा है। आश्रयदाता जब जनसमर्थित और लोकप्रिय होता था तब कविकी वाणी जनतामें भी गूँज उठती थी अन्यथा वह दरबारमें ही स्फुटित होकर रह जाती थी। कभी-कभी नायिकाभेद लिखते समय कुछ ग्रामीण नायिकायें दरबारोंमें

---

[1] १. 'भूषण', विश्वनाथप्रसाद मिश्र, भूमिका, पृ० ३९।

[2] २. 'बिहारी', विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १०।

पहुँच जाती थीं[1]; या महाराजके लिए विनोदकी सामग्री प्रस्तुत करते समय कुछ देहाती किस्से और पहेलियाँ भी राजसिंहासनतक पहुँचनेकी जुर्रत दिखा देती थीं;[2] नहीं तो कहाँ सरकार, दरबार, हाकिम और हुजूर कहाँ बेचारा बेकस गाँव मजबूर। जो लोग यह मानकर चलते हैं कि रीतिकालमें सामान्य जनता—किसान और कारीगर—भी नायिकाओंके साथ उलझी हुई थी वे भारतीय इतिहासके प्रति अपना अज्ञान व्यक्त करते हैं। पूर्व मध्यकालमें सामान्य जनतापर सर्वाधिक प्रभाव धार्मिक साहित्यका था। उत्तर मध्यकालमें धीरे-धीरे किसान जागीरदारोंके चंगुलमें और कारीगर महाजनोंके पंजेमें फँसते जा रहे थे[3]। वे शृंगार-काव्यकी ओर प्रवृत्त नहीं हो सकते थे। उनपर स्थानीय (आंचलिक) भक्तों और सन्तोंका व्यापक प्रभाव था। औरंगजेबके विरुद्ध संगठित होनेवाले 'सतनामी' किसान ही थे। गोकुल जाटके नेतृत्वमें किसानोंका ही पौरुष उबल उठा था। गुरु तेगबहादुर और गोविन्द सिंहका साथ देनेवाले सिक्ख सामान्य श्रेणीके गृहस्थ ही थे। ध्यान रखना होगा कि 'रसिक प्रिया' लिखनेवाले केशव जैसे कवियोंको सुन्दरदास जैसे सन्त कवियोंने खूब फटकारा था[4] और पद्माकरके समसामयिक श्री भूधरदासने शृंगारिक काव्योंकी खूब भर्त्सना की थी। निश्चय ही यह भर्त्सना बढ़ती हुई विलास-प्रियताको देखकरकी गई थी केवल शृंगार-काव्य लिखनेके कारण नहीं।[5] हाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि उत्तर

---

[1] बिहारीकी 'छीबरवारी छोहरी' और रहीमकी 'बाँस चढ़ी नटनंदिनी' आदि नायिकायें गाँवोंसे ही ली गई हैं।

[2] अमीर खुसरोंकी मुकरियों और पहेलियोंकी प्रेरणा जन-जीवनसे ही ली गई हैं।

[3] 'भारतीय इतिहासका उन्मीलन', जयचन्द्र विद्यालंकार, पृ० ६३८, १९५६, ५७।

[4] रसिक-प्रिया रस मंजरी और सिंग रहिं जानि।
चतुराई करि बहुत विधि विषै बनाई आनि।
विषै बनाई आनि, लगत विषयनिको प्यारी।
जागै मदन प्रचंड सराहै नख सिख नारी।
ज्यों रोगी मिष्ठान्न खाइ, रोगहिं विस्तारै।
सुन्दर यह गति होइ, जुतौ 'रसिक-प्रिया' धारै॥
—ब्रजभाषा और उसके साहित्यकी भूमिका, पृ० १२३ पर उद्धृत।

[5] राग उदय जग अंध भयो,
सहजै सब लोगन लाज गवांई।

मध्यकालमें राज्याश्रयी साहित्य कई सीढ़ियों नीचे उतरकर छोटे-छोटे रजवाड़ों, सामन्तों, जागीरदारों और जमींदारोंकी गढ़ियोंमें जी रहा था। तात्पर्य यह कि पूरे मध्यकालमें राज्याश्रयी साहित्यकी गतिविधिमें कोई विशेष अन्तर नहीं आया था। बलबनसे लेकर बहादुरशाहतक और पृथ्वीराजसे लेकर जयपुरके जगत सिंहतक उसकी एक धारा प्रवाहित हुई है। उसमें अन्तर उसी सापेक्षितामें आया है जिस सापेक्षितामें राज्यों और दरबारोंके वातावरणमें परिवर्त्तन हुआ है। जनतामें होनेवाले परिवर्तनोंका इसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। पूरे मध्यकालमें राजसत्ता निरंकुश रही है। यह दूसरी बात है कि अपनी सांस्कृतिक परम्पराओंके अनुसार व्यक्तिगत स्तरपर कुछ हिन्दू राजे और कुछ मुसलमान बादशाह संयमी, विवेकी, उदार और न्यायनिष्ठ हुए हों और इसीलिए उनके आश्रित कवियोंमें नैतिक मूल्योंकी प्रतिष्ठा हो सकी हो। वातावरणके स्थितिशील होनेके कारण ही दरबारी (राज्याश्रयी) काव्य एक ही लीकपर चलता रहा। "वाणीका सार था 'श्रृंगार' और 'श्रृंगार'के सार-रूप थे किशोर-किशोरी" बस यही वह महान् मूल्य था जिसे इन कवियोंने उपलब्ध किया था। इसीलिए काव्यशास्त्रीय ग्रन्थोंकी रचना करते समय भी इन कवियोंने अपना ध्यान किशोर-किशोरियोंपर ही रखा और किसी प्रकारका मौलिक विवेचन न प्रस्तुत कर सके। इस काव्यमें जीवनकी अभिव्यक्ति हुई है किन्तु वह रईसोंका जीवन है—जिसमें गुलगुली गिलमें, गलीचा, गजक गिजा, सजी सेज, सुराही, प्याला, चाँदनी, चिक, चिरागोंकी माला, सुबाला, दुशाला, विशाला-चित्रशाला, तान-तुक-ताला तथा गुनीजनों द्वारा प्रस्तुत 'विनोदके मसाला' की भरमार रहती थी। जिस जाड़ेमें राजा और रईस ऊपर गिनाये गये मसालोंका सेवन करके सुखकी नींद सोते थे, उसी जाड़ेमें साधारण जनता शीतसे ठिठुरती रहती थी—

सीख विना नर सीखत है,
विषयानिके सेवनकी सुघराई।
तापर और रचैं रसकाव्य,
कहा कहिए तिनकी निठुराई।
अन्ध असूझिनी की अँखियानि में
झोंकत है रज राम दुहाई।

—व्रजभाषा और उसके साहित्यकी भूमिका, पृ० १२३ पर उद्धृत।

'आयो जड़कालो जोर, परत प्रबल पालौ
लोगन कौ लालौ पर्‌यौ जियै कित जाइ कै।
ताप्यौ चाहै बारि कर तिन न सकत टारि,
मानौ हैं पराये ऐसे भये ठिठराइ कै॥'

—सेनापति

किन्तु इन ठिठुरनेवालोंको नहीं देखा गया। जिन कवि महोदयने इन्हें देखा वे भी वास्तवमें काव्य-रीतिपर चलते हुए षट-ऋतुओंको देख रहे थे। उनके नेत्र चिरागोंकी मालासे चौंधियाये नहीं थे, इसलिए उनकी दृष्टि ऐसोंपर भी पड़ गई जिनके लिए जीवन दूभर हो गया था।

मध्ययुगीन-लोकाश्रयी-काव्य (जन-काव्य)

लोकाश्रयी काव्यसे तात्पर्य उस काव्यसे है जिसमें लोक-भावनायें सुरक्षित रहती हैं। लोक-भावना लोक-हृदयका सरल, कोमल और निश्छल भावोच्छ्वास है जो जड़-चेतन सभीको अपनी तरलतासे सिक्त कर देता है। 'लोक' सदैव 'मतिका भोरा' रहा है। वह विश्वासोंपर जीवित रहा है। विश्वासोंके अन्धे हो जानेपर भी प्रायः उनसे चिपका रहा है। इसलिए 'वेद'के समानान्तर 'लोककी लीक' बराबर चलती रही है। लोक-साहित्य अपनी सहजता और निश्छलताके कारण सदैव सहृदय-संवेद्य रहा है। वह अपनी भावुकतामें अपराजेय रहा है। लोक-साहित्य और लोक-भावनाको समझनेके लिए तत्त्वदर्शी होनेकी आवश्यकता नहीं, 'धरती' को समझनेकी आवश्यकता है। लोक-कवि इसी धरतीपर खड़े होकर जगत्‌के व्यापारोंको देखता रहा है। उसके आग्रहपर चन्द्रमा रुक जाता है, नदी अपना प्रवाह मन्द कर देती है; पवन, मेघ, पंथी और पंछी रुककर सन्देश ले लेते हैं। वह धरतीकी हरियालीके साथ गा उठता है। वसन्तके उल्लासमें हुलस उठता है। प्रकृति उसकी सहचरी है। पशु उसके साथी हैं। विश्वास उसका जीवन है। सहृदयता उसकी निधि है। उसके काव्य-नायकपर आपत्ति आनेपर 'गौरा-पार्वती-महादेव' सहसा प्रकट हो जाते हैं। अन्याय होनेपर धरती फट जाती है और उसके पात्र उसमें समा जाते हैं। लोक-कविकी आस्था कभी खण्डित नहीं होती। उसका उत्साह कभी नहीं थकता। उसके

काव्यमें जीवनका अक्षय स्रोत है। वह राजाओं, धर्माधिकारियों और नेताओंका मूक-आलोचक है। उसके पास कुछ थोड़े-से काव्य रूप हैं—गीत, कहानियाँ, पहेलियाँ, उक्तियाँ और सूक्तियाँ। वह कृतित्व छोड़ जाता है, नाम नहीं। अभिजात साहित्य ताजगीके लिए सदैव उसका मुखापेक्षी रहा है। मध्ययुगके लोकाश्रयी साहित्यकी निजी सत्ताके विषयमें तो आज विश्वासपूर्वक अधिक नहीं कहा जा सकता किन्तु यह स्पष्ट है कि इस युगके धार्मिक साहित्यको इसने बहुत दूरतक प्रभावित किया है। विद्यापति और तुलसीके गीतोंमें लोकगीतोंका स्वर सुरक्षित है। जायसीके प्रेमाख्यानको आधार-शिला लोक-कहानी ही है। गोरख और कबीरकी उक्तियाँ लोक-समर्थित होकर लोकोक्ति बन गई हैं। तुलसीकी ग्राम-बधुयें लोक-बधुयें ही हैं जिनका सरल-स्नेह राम और सीताको विभोर कर देता है। उत्तर मध्यकालमें देवकविकी 'माखनसे मन' और 'दूधसे जोवनवाली अहीरी' लोक-साहित्यसे ही उधार ली गई है। सूर-साहित्यके मधुरतम प्रसंग—गोप-जीवनकी सरसता—की अवतारणा पशुचारणकालके लोक-जीवनके स्मृति-स्थित-अवशेषके आधारपर ही की गई है। जिसे आचार्य शुक्लने 'देशकी अन्तर्वर्त्तिनी मूल भावधारा' कहा है[१] वह लोक-जीवनमें प्रवाहित होनेवाली स्वस्थ सरस लोक-काव्य-धारा ही है जो प्रायः लोक-गीतोंमें मुखरित हुई है। सूर सागरको लोक-भावसिक्त देखकर ही शुक्लजीकी पारदर्शी दृष्टिने अनुमान लगाया था कि—'सूर सागर किसी चली आती हुई गीत-काव्य-परम्पराका—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है'[२]। इधर विभिन्न विद्वानों द्वारा जो लोक गीतोंके संग्रह प्रस्तुत किये गये हैं उन्हें देखनेसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बहुत-से गीतोंकी रचना मुसलमानी सामन्तोंके निरंकुश शासनकालमें हुई होगी। हिन्दी-प्रदेशकी सभी बोलियोंमें ऐसी सती साध्वी स्त्रियोंके छोटे-छोटे गीत-बद्ध आख्यान मिलते हैं जिसमें वे किसी क्रूर अत्याचारी और रूप-लोलुप सामन्तसे अपने सतीत्वकी रक्षा करनेके लिए सती हो गई हैं। सन् १८५७ की क्रान्तिके लोक-प्रिय नेताओंकी वीरता और शौर्यको लेकर—विशेषतः बाबू कुँवर सिंह, महारानी लक्ष्मीबाई और राना बेनीमाधो सिंह—कई लोकगीत लिखे गये थे, जो

---

१. हिन्दी-साहित्यका इतिहास, पृष्ठ १६६।

२. हिन्दी साहित्यका इतिहास, पृष्ठ १६५।

इधर प्रकाशमें आए हैं। इस प्रकारके अनेक गीत पूर्व-मध्ययुगमें भी लिखे गये होंगे जिनके अध्ययनसे तत्कालीन लोक-जीवन और लोक-भावनाका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। आज भी जो गीत-संगृहीत किये गये हैं उनमें जाने कितने प्राचीन युगके लोक-संस्कार लोक-मानसने संचित कर रखे हैं। कौन-सा गीत इतिहासके किस अज्ञात पृष्ठकी कहानी छिपाये है, यह बताना आसान नहीं है। फिर भी यह निर्विवाद है कि मध्ययुगीन धर्माश्रयी साहित्यपर लोक-भावनाका बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा है। धर्मका प्रचार लोक-जीवनमें उतरकर ही किया जाता रहा है। मध्ययुगके भक्तों और आचार्योंने लोकको वेदसे समर्थित करनेकी चेष्टामें ही मूल्योंकी स्थापना की है। मध्ययुगका धर्माश्रयी साहित्य इस दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण है।

मध्ययुगीन धर्माश्रयी साहित्य

धर्म, भारतीय जन-जीवनका सर्वाधिक सचेष्ट और जीवित अंग रहा है। धर्मकी रक्षामें मृत्युको भी वरण करना यहाँकी जनताके लिए साधारण-सी बात रही है। भारतवर्षकी जनतामें होनेवाले क्रान्तिकारी परिवर्तन धार्मिक क्षेत्रोंमें ही हुए हैं। मध्ययुगमें धर्माश्रयी साहित्य मुख्यतः दो स्रोतोंमें होकर प्रवाहित हुआ है। एक नाना पुराण निगमागम सम्मत सगुण भक्ति-धारा और दूसरी जैनियों, बौद्धों, योगियों, सूफियों, वैष्णवोंके सम्मिलित प्रभावको लेकर चलनेवाली तथा तर्क, अनुभव और आत्म-विश्वासको महत्त्व देनेवाली निर्गुण भक्ति-धारा। वस्तुतः वैदिक युगसे ही हम भारतके सांस्कृतिक धरातलपर दो समानान्तर विचार-धाराओंको प्रवाहित होते हुए लक्ष्य कर सकते हैं। एकको, सुविधाके लिए वैदिक धारा और दूसरेको वेद-विरोधी धारा कह सकते हैं। 'लोकायत', 'चार्वाक', 'आजीवक' आदि वेद-विरोधी मत थे। आगे चलकर जैन और बौद्ध मत भी वेद-सम्मत ब्राह्मण धर्मसे बराबर टकराते रहे। आचार-प्रधान और आडम्बरपूर्ण-विधिविधान-रहित होनेके कारण ये जनतामें शीघ्र अपनी जड़ें जमानेमें समर्थ हो सके थे। वैदिकमत वेदों, उपनिषदों और भगवद्गीताके माध्यमसे क्रमशः युगानुकूल परिवर्तनोंको स्वीकार करते हुए आगे बढ़ता रहा।

सगुण भक्तिका विकास

गुप्त-युगमें वेद समर्थित भक्ति-प्रधान भागवतधर्म 'वैखानस', 'सात्वत',

'पांचरात्रिक' और 'ऐकान्तिक' आदि कई रूपोंमें विकसित हुआ, किन्तु बौद्ध[1] और जैन धर्मोंका आकर्षण कम नहीं हुआ था।[2] यह भागवत धर्म शुद्ध वैदिक धर्म नहीं था। इसे वेद-सम्मत सिद्ध करनेकी आवश्यकता पड़ी थी। बहुत सम्भव है, शक्ति सम्पन्न आर्येतर जातियोंको समाजकी उच्चतर भूमिपर प्रतिष्ठित करनेके लिए उनके विश्वासों और आचारोंके साथ उनका धार्मिक उन्नयन किया गया हो और इस प्रयत्नमें भागवत धर्म प्रतिष्ठित हुआ हो। हर्षके समयतक (६०६-४३) भारतवर्षमें बौद्ध और शैव मतोंका विशेष प्रभाव था। ब्राह्मण धर्म प्रभावहीन था। आठवीं शतीतक आते-आते भारतीय जनताका जीवन शताधिक जातियों, उपजातियों, धर्मों, सम्प्रदायों और मतोंमें विभाजित होकर खण्ड-खण्ड हो गया। विदेशोंसे आई हुई अनेक जातियाँ—हूँण, शक, सीथियन, कुशन, पल्लव, आभीर—कुछ कालतक संघर्ष करनेके बाद यहाँ आबाद हो गई थीं। दक्षिणके मलाबार तटपर अरब यात्रियों और ईसाइयोंका समागम हो चुका था। सातवीं सदीमें अरब सौदागरोंने मलाबार तटपर इसलामका प्रचार करना प्रारम्भकर दिया था और बल्लभीके शासकोंसे उन्हें प्रोत्साहन भी मिला था। सातवाहन युग (ईस्वी सन् १३० तक) में ही कुछ ऐसी जातियाँ पनप चुकीं जिन्हें चतुर्वर्णोंके अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता था। १५० ई० पूर्व मनुस्मृति लिखी जा चुकी थी। सातवाहन युगमें याज्ञवल्क्य स्मृति लिखी गई, जिसमें 'वर्ण जाति विवेक वर्णन' करनेकी आवश्यकताका अनुभव किया गया। आचार्य शंकरने इन समस्त भेद-प्रभेदोंसे ऊपर उठकर अभेद-दर्शनकी प्रतिष्ठा की। उन्होंने समस्त सृष्टिमें एक शाश्वत चेतन सत्ता (ब्रह्म) की सत्यता स्वीकारकी और जीवको उससे अभिन्न सिद्ध किया। जगतकी सत्ताको उन्होंने विवर्तात्मक (अध्यासात्मक) माना। जगत्के समस्त स्थूल उपादानोंको पीछे छोड़कर आत्माके अस्तरपर स्थापित यह अभेद-दृष्टि

---

[1] चौथी शताब्दीके अन्तमें पेशावरमें 'आसंग' और 'वसुबन्धु' जैसे महान् बौद्ध दार्शनिक हुए थे। पाँचवीं शताब्दीके प्रारम्भमें मगधमें 'बुद्धघोष' जैसा पण्डित हुआ था।
—भारतीय इतिहासका उन्मीलन, पृ० २३७।

[2] ४५३ ई० में सुराष्ट्रकी वलभी नगरीमें जैन विद्वानोंने जैन धर्मके सभी ग्रन्थोंका सम्पादन किया था।
—वही, पष्ठ २७३।

व्यवहारिक जीवनमें अधिक उपादेय न सिद्ध हो सकी। किन्तु इससे एक लाभ हुआ। बौद्ध दार्शनिकोंने जगतकी नित्यताको अस्वीकार कर दिया था किन्तु सभी पदार्थोंकी आन्तरिक एकता स्वीकार की थी।[१] शंकरने उपनिषदोंके आधारपर इसी सत्यको प्रतिपादित करके उन्हें हतप्रभ कर दिया।

जिस समय आचार्य शंकर आत्माके स्तरपर अभेदकी स्थापना कर रहे थे उसी समय दक्षिणके तमिल प्रदेशमें आडवार भक्त, भावना (भक्ति और प्रेम)-के स्तर पर सभीको समान मानकर चल रहे थे। ये प्रेमको जगतका सारभूत तत्त्व मानते थे और विष्णुके दोनों रूपों—राम और कृष्ण—के प्रति व्यक्तिगत रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके निष्काम भावसे उनकी उपासना करते थे। इनकी भक्ति दास्य, वात्सल्य और कान्ता इन तीनों भावोंकी है। इन भक्तोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र सभी थे। भावना-क्षेत्रकी यह समता, जो सामाजिक जीवनको भी प्रभावित कर रही थी, मध्ययुगकी बहुत बड़ी उपलब्धि है। प्रेमके क्षेत्रमें सभी एक हैं। भगवान् प्रेम-वश प्रकट हो जाते हैं। उनसे प्रेम करनेका अधिकार सभीको है। इस प्रकारकी स्थापनाओंसे भारतीय धर्म-साधनामें एक नवीन युगका द्वार खुल गया। ग्यारहवीं शताब्दीमें रामानुजाचार्य (१०३७-११३७ ई०) ने आडवार भक्तिको वेद-सम्मत सिद्ध किया। ११वीं शताब्दीसे लेकर १६वीं शताब्दीतक होनेवाले सभी आचार्यों—रामानुज, मध्व (११९९-१३०३ ई०), निम्बार्क (११६२ ई०), विष्णु स्वामी, वल्लभ (१४७९ ई० जन्म) ने भक्तिको वेद-सम्मत बताया। प्रेमके क्षेत्रमें सबकी एकता स्वीकार की और जाति-भेदको साधनाके क्षेत्रमें व्यर्थ माना। इन आचार्योंने समस्त उत्तरी भारतमें भक्तिका प्रचार किया। दक्षिणसे उमड़नेवाला यह भक्तिका प्रबल प्रवाह प्राचीन पांचरात्रिक भक्तिसे मिलकर समस्त उत्तरी भारतमें छा गया। श्रीकृष्णस्वामी आयंगरके शब्दोंमें भक्तिका यह विकास भारतीय संस्कृतिके प्रति दक्षिण भारतकी

---

१. The Philosophy of idealisatic absolutism that was started by Maitreya and Asanga and elaborated by Vasubandhu denies the existence of the eternal objective world and ends in the affirmation of oneness of all things.

—*The Legacy of India*, p. 119.

एक बहुत बड़ी देन है ।[१] ११वीं शतीमें ही उत्तरी भारतका नक्शा बदल गया था । बौद्ध मत, शाक्त और तान्त्रिक मतोंमें घुल-मिलकर बंगालमें जी रहा था । जैन मत गुजरात और राजपूतानामें सीमित था । शेष भारत वैष्णवधर्मके प्रभावमें आ गया था । १५वीं शतीतक तो सम्पूर्ण भारतमें वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन छा गया । इस वैष्णव भक्तिका स्वरूप बहुत-कुछ भगवद्गीता, श्वेताश्वतर उपनिषद और महायानी बौद्ध धर्मके सम्मिलित प्रभावसे संघटित हुआ था । जातीय-भेद-भावके प्रति उदारताका दृष्टिकोण बौद्ध और जैन धर्मोंके प्राचीन और शुद्ध रूपसे लिया गया है किन्तु इसमें निहित उष्ण और अहेतुक प्रेम, आत्महीनता और प्रपन्नता तथा प्रगतिशील सहजताकी व्याख्या पंडित लोग प्राचीन ग्रन्थों एवं वैदिक भक्तिके आधारपर नहीं कर पाते । पांचरात्रादि भक्ति मूलक तन्त्रोंके लिए कहा जाता है कि इनका निर्माण वेद-बाह्य समझे जानेवाले व्यक्तियोंकी रक्षाके लिए केशवने शिवसे प्रेरित होकर किया था[२] । बहुत सम्भव है भक्तिका यह स्वरूप आर्येतर जातियोंकी देन हो और इस तथ्यकी पौराणिक ढंगसे उपर्युक्त व्याख्या कर ली गई हो । अनेक विदेशी और कुछ देशी विद्वानों—बर्नेल (Burnell), वेबर (Weber) लॉगन (Logan), हॉपकिन्स (Hopkins) पोप (Pope), ग्रियर्सन (Grierson) और भंडारकर—ने वैष्णव भक्तिकी प्रगतिशीलताको ईसाई धर्म-प्रेरित माना है । कुछ विद्वानोंने इसे इस्लामके प्रभाव रूपमें स्वीकार किया है । इसलामका अर्थ ही प्रपन्न होता है । डॉ० ताराचन्दने अंदाज लगाया है कि बहुत सम्भव है रामानुजने यह प्रपन्नता इस्लाम से ग्रहण कर ली हो ।[३] किन्तु ये सभी मान्यतायें सम्भावना-साध्य ही हैं । 'शरणा-

---

१. *Some Contribution of South India to Indian Culture*, भूमिका, पृ० १४ ।

२. तस्माद् वै वेद वाह्यानां रक्षणार्थाय पापिनाम्
विमोहनाय शास्त्राणिकरिष्यावो वृषध्वज ॥ ११६ ॥
चकार मोह शास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः ॥ ११७ ॥
—कूर्म पुराण, अध्याय १४, भक्तिका विकास, डॉ० शर्मा, पृ० २४८ पर उद्धृत ।

३. The word Islam means surrender, and the Muslim is varily a *Prapanna*. It has been shown that the submission to the

गति'की भावना तो 'गीता'में भी मिलती है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' कहकर भगवान्‌ने जीवमात्रको पापमुक्त होनेके लिए 'शरणागति' को ही एकमात्र और अंतिम साधन बताया है। गीताके ही निष्काम कर्मको भक्ति-क्षेत्रमें प्रतिष्ठित कर देनेसे 'अहेतुकी भक्ति'की उद्भावना भी की जा सकती है। गीताकी रचना (मूल रूपमें) ई० पूर्व २०० मानी जाती है। किन्तु उसको वर्तमान रूप किस समय दिया गया, नहीं कहा जा सकता। विद्वानोंका अनुमान है कि भागवत धर्मके लोकप्रिय होनेपर औपनिषदिक मान्यताओंको नवीन परिस्थितियोंके अनुकूल मोड़नेके प्रयत्न में 'गीता' जैसे महान् ग्रन्थकी रचना हुई होगी। भागवत धर्मकी प्रतिष्ठा महाभारत कालमें ही किसी-न-किसी रूपमें हो गई थी। महाभारतको ईसा-पूर्व चौथी शताब्दीमें ही वर्तमान रूप प्राप्त हो चुका था। यदि मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलनमें निहित प्रेम और समताकी भावनाका प्रेरक स्रोत ईसाई धर्मको माना जाय तो भी घूम-फिरकर भारतवर्षमें ही लौट आना पड़ता है क्योंकि ईसाई धर्म भी बौद्ध-धर्मसे प्रभावित माना गया है। बौद्ध और जैन व्यापारियोंके अलेक्जैंड्रिया (Alexandria) में बसनेकी बात बहुत पुरानी है। अशोकने मेसीडोनियामें भी बौद्ध भिक्षुओंको प्रचारार्थ भेजा था और इन भिक्षुओंके अलेक्जैंड्रियामें पहुँचनेकी बात तो विदेशी विद्वान् भी स्वीकार करते हैं।[1] जो भी हो, ११ वीं शतीतक उत्तर भारतमें वैष्णव भक्ति प्रतिष्ठित हो चुकी

---

will of God is an essential part of the Muslim religious consciousness. Historically also there is no insuperable difficulty in supposing that Ramanuja adopted it from Islam.

—*Influence of Islam on Indian Culture,*
—Dr. Tarachand, p. 114.

[1] "Whether the yellow robed messengers of the Law of Piety ever actually reached Macedonia or Epirus may be regarded as doubtful, but there is no reason to suppose that they did not get as far as Alexandria and Antioch."

—*The Legacy of India,* p. 11.

थी और आडवार भक्तोंके भावावेशमय गीतोंसे लेकर भागवत पुराण, विष्णु पुराण तथा अन्य भक्ति-ग्रन्थों तकमें धार्मिक उदारता एवं जातिगत एकताकी भावनाका समर्थन किया जा चुका था।[१] इसी भावनाका विकास मध्ययुगीन हिन्दी सगुण भक्त कवियोंमें देखा जा सकता है। सूर तथा अन्य 'अष्टछापी' कवि और तुलसी तथा अन्य रामभक्त कवि भक्तिके क्षेत्रमें जाति-भेदको व्यर्थ मानते हैं और प्रेमको सर्वोपरि सम्मान देते हैं।

निर्गुण-भक्तिका विकास

निर्गुण-भक्तिधाराका विकास कुछ भिन्न मार्गोंसे हुआ। ब्राह्मण धर्मकी पुनः प्रतिष्ठाके बाद बौद्ध धर्मानुयायी कहीं खो नहीं गये। वे जनतामें घुल-मिल गये। ११ वीं शतीमें बंगाल प्रान्तमें इनका थोड़ा बहुत प्रभाव शेष रह गया था। ये वज्रयान और सहजयान सम्प्रदायोंमें बँटकर तांत्रिक हो गये थे। सहजयानी सिद्धोंमें शाक्त-तान्त्रिकोंके प्रभावसे गुह्य साधनाओंका प्रचार भी हो गया था। अब बौद्ध लोग सिद्ध हो गये थे। इनकी स्थिति स्पष्ट करते हुए राहुल सांकृत्यायनने लिखा है—"गुह्य समाज एकत्रित होने लगे, जहाँ स्त्री-पुरुषोंको मद्य-मैथुनकी पूरी स्वतन्त्रता दी गई··सहज मार्गसे पाखंड-मार्ग पकड़ना अधिक आसान था, इसलिए सरहपाका सहजयान, तन्तर-मन्तर, भूत-प्रेत, देवी-देवता, सम्बन्धी हजारों मिथ्या-विश्वासों और ढोंगोंके पैदा करनेका कारण बना"।[२] इसकी प्रतिक्रिया नाथ-पंथी योगियोंकी आचारनिष्ठा-मूलक-धर्म-साधनामें हुई। यह नाथधर्म भारतवर्षका बहुत पुराना धर्म था। इसको माननेवाले ब्राह्मण-धर्म व्यवस्थाके कायल नहीं थे। ब्राह्मण धर्मके उत्थान कालमें इनकी सामाजिक मर्यादाका ह्रास हुआ होगा। गोरखनाथ जैसे महापुरुषोंके नेतृत्वमें यह धर्म-

---

[१] The Vishnu-Puran says that to look upon all beings as equal to One's-Self and to love them all as one would love one's own self is the service of God for God has incarnated Himself in the form of all Living beings,"

S. N. Das Gupta, *The Legacy of India*, p. 122.

[२] हिन्दी काव्य-धारा, पृष्ठ ३५।

साधना पुनः जीवित हो उठी। १४ वीं शतीतक इन जोगियोंमें भी अनेक प्रकारके वाह्याचार प्रविष्ट हो गये। ठीक इसी समय दक्षिणसे प्रगतिशील रामभक्तिकी जीवन-प्रेरणा लेकर राघवाचार्य उत्तर भारतमें आये। इन्हींके शिष्य प्रसिद्ध रामभक्त रामानन्दजी थे। उत्तरके योगके थालेमें भक्तिका बीज इन्हीं रामानन्दने डाला था। इन दोनों धार्मिक मतों (भक्ति और योग) के संयोगसे निर्गुण-भक्ति-सम्प्रदायके सन्तोंकी परम्परा पुष्ट और पल्लवित हुई। उत्तर भारतमें अनेक वयनजीवी (बुनकर) जातियाँ थीं जिनका सम्बन्ध नाथ-पंथसे था। बंगालमें तो 'जुगी' जाति ही है जो कपड़ा बुननेका कार्य करती है।[१] कबीरदासजी ऐसी ही किसी जातिके जुलाहे थे। इस समयतक उत्तरी भारतमें मुसलमानोंका शासन स्थापित हो गया था। ब्राह्मण-धर्म-व्यवस्थामें जिन जातियोंको सामाजिक सम्मान नहीं मिला था वे सामूहिक रूपसे मुसलमान धर्म स्वीकार कर रही थीं। मुसलमानी शासकोंके साथ कट्टर एकेश्वरवादी मुल्ला और मौलवी तथा उदार प्रेमी सूफी-साधक भी इस देशमें आये थे। इन नवागंतुकोंके प्रति जनतामें पर्याप्त आकर्षण था। सूफी साधक अपनी सहजता, प्रेमनिष्ठा और उदारताके कारण हिन्दू जनताको अधिक प्रभावित कर सके थे। कबीरने अपने चारों ओर देखा। एक ओर बौद्ध-सिद्धों और योगी-साधकोंकी छिन्न-भिन्न परम्परा चल रही थी। दूसरी ओर वैष्णव भक्तों और आचार्योंकी लोकप्रियताके आगे इस्लामके आगमनसे (और परिणामस्वरूप मन्दिरों और मन्दिरोंके ध्वस्त होनेसे) प्रश्नका चिह्न लग गया था। तीसरी ओर शाक्तोंकी गुह्य और तान्त्रिक साधना अपनी अलग करामात दिखा रही थी। और, चौथी ओर कट्टर एकेश्वरवादी मुसलमानोंकी विजयके तेजसे जगमगाती हुई संगठित भ्रातृ-भावना निम्नवर्गीय जनताको आकर्षित कर रही थी तथा उन्हींके साथ आये हुए सूफी-साधकोंके प्रेमकी पीड़ा सहृदय हिन्दुओंके चित्तको द्रवीभूतकर रही थी। उन्होंने इन सभी धार्मिक मतोंको मानवताके सहज स्वरूपसे कुछ भिन्न पाया। इसलिए वे किसी एकके प्रति पूर्ण निष्ठा न व्यक्तकर सके। उन्होंने योगियोंसे (शायद) द्वैताद्वैत विलक्षण (निर्गुण-सगुणसे परे) 'समतत्व'के रूपमें अपने आराध्यको ग्रहण किया। बौद्ध-सिद्धोंसे सहज-साधना (आडम्बर रहित आचारनिष्ठाके रूपमें) ली। वैष्णवोंसे

---

[१] कबीर, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७।

अहिंसा, अनन्यता और समर्पणका तत्त्व लिया और सूफियोंसे प्रेमकी पीड़ा लेकर सहज मानवधर्मकी प्रतिष्ठा की। कबीर द्वारा प्रतिष्ठित इस भक्ति-धाराको सामान्यतः निर्गुण-भक्ति कहा गया है। इस निर्गुण परम्पराके विकासमें कबीरके साथ नानक, पीपा, सेन, रैदास आदि सन्तोंने यथेष्ट योग दिया। इस्लामके प्रवेशके साथ ही इस देशमें आये हुए सूफी साधकोंने अपनी कई परम्परायें चला दी थीं। इनमें 'चिश्ती', 'सुहरावर्दी', 'कादिरी', 'शत्तारी' और 'नक्शबन्दी' परम्परायें अधिक प्रसिद्ध हुईं। मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्यके विकासमें इन सूफी साधकोंने भी पर्याप्त योग दिया। कुतुबन, मंझन, जायसी और उसमान जैसे कवि इन्हीं परम्पराओंकी देन हैं। इनमें कुतुबन और मलिक मुहम्मद जायसी चिश्ती परम्परामें आते हैं। इन सूफी कवियोंको भी निर्गुण-भक्ति-परम्परामें स्थान दिया गया है। सन्तों और सूफियोंकी भक्तिको अलग करनेके लिए एकको ज्ञानाश्रयी और दूसरेको प्रेमाश्रयी कहा गया है। इस प्रकार पूर्वमध्यकालीन धर्माश्रयी हिन्दी-साहित्यके निर्माताके रूपमें कबीर, नानक, रैदास, पीपा, सेन, दादू, मलूक, सुन्दरदास, दरियादास आदि सन्त कवि; कुतुबन, मंझन, जायसी, उसमान आदि सूफी कवि; सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्द दास, कुम्भनदास, चतुर्भुज दास, मीराँ बाई आदि कृष्ण-भक्त-कवि; और तुलसीदास, अग्रदास, नाभादास, हृदयराम आदि राम-भक्त कवियोंको प्रमुख स्थान दिया जा सकता है।

कृष्ण और राम-भक्ति-धाराओंका परवर्ती रूप

कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति धारायें मूलतः एक ही वैष्णव-भक्ति परम्परासे उद्भूत थीं किन्तु मध्ययुगमें इनका विकास निजी विशेषताओंके साथ अलग-अलग हुआ। कृष्णभक्ति अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत क्षेत्रमें प्रचलित हुई। मराठी, गुजराती और बंगाली क्षेत्रोंमें इसका व्यापक प्रचार हुआ। १५ वीं और १६ वीं शताब्दीमें इस भक्तिधारामें अनेक परिवर्तन हुए। चैतन्य (बंगालमें) निम्बार्क और वल्लभ सम्प्रदायों (विट्ठलनाथके समयमें) में राधा-तत्त्वकी प्रतिष्ठा हुई। हिन्दी-प्रदेशमें हितहरिवंशजीने (१५६५ ई० में वर्तमान) राधावल्लभीय सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा की। स्वामी हरिदास (१५४३-१५६० ई० कविताकाल) ने 'टट्टी' सम्प्रदाय चलाया। वल्लभाचार्यजीके मतमें भी हरिराम, रसखानि

27225

आदि प्रसिद्ध कवि हुए। निम्बार्क सम्प्रदायमें श्री भट्टजी (१५६८ ई० कविता-काल) तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायमें 'व्यासजी' (१५६३ ई० कविताकाल) अच्छे कवि हुए। कृष्णभक्ति परम्परामें राधातत्त्वको प्रतिष्ठा और उन्हें कृष्णसे भी अधिक महत्त्व देनेके कारण एक नये अध्यायका आरम्भ हुआ। सर आर० जी० भण्डारकरने इसे वैष्णवभक्तिके ह्रासोन्मुख होनेका कारण माना है[1]। तुलसीदासके बाद रामभक्ति-शाखामें भी भक्तिका मर्यादित रूप स्थिर न रह सका। 'रामभक्तिमें रसिक भावना'का विकास हुआ। रसिक भक्तोंने स्वयं तुलसीदासको 'तुलसी सखी' बना दिया। उत्तर मध्यकालमें 'रसिक भावना'की भक्तिका विकास ठीक उन्हीं पदचिह्नोंपर हुआ जिसपर चलकर कृष्णभक्ति ह्रासोन्मुख हुई थी। १९वीं शतीके आरम्भमें रसिकाचार्य महात्मा रामचरणदास-ने रसिक सम्प्रदायको संगठित किया[2]। सम्प्रदायकी प्राचीनता दिखानेके लिए वेद, उपनिषद, पुराण, संहितायें, वाल्मीकि रामायण तथा तन्त्र-ग्रन्थोंसे उद्धरण प्रस्तुत किये गये। 'गोलोक'के स्थानपर 'साकेतधाम'की कल्पना हुई। राम-भक्त भगवान् रामके प्रति 'मधुर', 'सख्य', 'दास्य', 'वात्सल्य' और 'शान्त' भावकी सम्बन्ध-स्थापना करने लगे। भगवान् राम एक पत्नीव्रत त्यागकर आठ पट-रानियोंके नायक हुए। वे भी सीताकी अनन्त सखियोंके साथ लीला करने लगे। भक्त लोग सखा भावसे उस लीलामें प्रवेशकर कृतकृत्य हुए। मधुर भावकी साधना चाहे जिस सम्प्रदायमें हो, आत्माके स्तरपर कुछ विशिष्ट साधकोंके जीवनमें ही चरितार्थ हो सकती है। जनसामान्यमें उसका प्रचार होनेपर वह शारीरिक भोग-विलाससे ऊपरकी वस्तु नहीं रह पाती। रामको 'छबीले छैला'

---

[1] The introduction of Radha's name, and her elevation to a higher position even than Krisna's operated as a degrading element in Vaisnavism, not only because she was a woman, but also because she was originally a mistress of the cowherd god, and her amorous dealing were of an overt character.

—*Vaisnavism, Savism & Other Cults*, p. 125, (1929)

[2] रामभक्तिमें रसिक सम्प्रदाय, पृ० १४७

—डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह।

कहनेमें, पता नहीं क्यों, मेरे संस्कारोंको तो ठेस ही लगती है। जो भी हो, साहित्यिक और सामाजिक मूल्योंकी दृष्टिसे उत्तर-मध्यकालीन राम-भक्ति किसी नवीन दिशाकी ओर संकेत नहीं करती। पूर्व-मध्यकालीन कृष्ण और राम-भक्ति धाराओंकी भाँति इसमें जातिगत उदारता भी नहीं दृष्टिगत होती। प्रारम्भमें इसका स्वरूप गुह्यात्मक था और बादमें भी यह कुछ राजों-महराजों, सेठों और उनके कृपापात्र सन्तों-महन्तोंमें ही सीमित रही।

निर्गुण-भक्तिका परवर्ती रूप

निगुण भक्ति-परम्पराके सन्तोंमें भी आगे चलकर वह उत्साह न रह गया। उत्तर-मध्यकालमें भी अनेक सन्त सम्प्रदायों और पंथों—बाबालाली सम्प्रदाय, धामी सम्प्रदाय, सत्तनामी सम्प्रदाय, धरनीश्वरी सम्प्रदाय, दरियादासी सम्प्रदाय, दरियापंथ, शिवनारायणी सम्प्रदाय, चरणदासी सम्प्रदाय, गरीब पंथ, पानप पंथ, रामसनेही सम्प्रदाय आदि—का प्रवर्त्तन किया गया। किन्तु इन सन्त सम्प्रदायोंके द्वारा जीवनमें किसी नये मूल्यकी प्रतिष्ठा न हो सकी। ये अवतारवादकी ओर झुक गए। इनमें समझौते और समन्वय (तथा कभी-कभी अनुकरण) की प्रवृत्ति पनपने लगी। इनमें भी कर्मकाण्ड और पूजापद्धतिके विविध-विधानोंका समावेश हुआ। इनका प्रभाव आंचलिक रह गया। सिक्ख पंथ अवश्य ही नवीन चेतना और स्फूर्तिसे प्रेरित होकर एक संगठित एवं शक्ति सम्पन्न सम्प्रदायके रूपमें परिणत हुआ और अदम्य उत्साहके साथ औरंगजेबकी शक्तिको क्षीण करता रहा। गुरु गोविन्दने (१६७५ ई० के आस-पास) सिक्खोंके सांस्कृतिक संगठनको एकताके साँचेमें ढालकर राजनीतिक दृष्टिसे पूर्णतः संगठित करके खालसा दलमें परिणत कर दिया।[१] तुर्कोंके

---

[१] All, he said, must become as one; the lowest were equal with the highest; caste must be forgotten; they must accept the 'Pahul' or initiation from him, and the four races must eat as one out of one vessel. The Turks must be destroyed, and the graves of those called Saints neglcted.

—*History of the Sikhs*, by Joseph Davey,
Cunningham, p. 63, 1955.

विनाशके लिए कृत-संकल्प गुरु गोविन्दसिंह द्वारा फूँकी गई यह नव-चेतना एक प्रकारका प्रतिक्रियात्मक मजहबी जोश था जो अब भी राष्ट्रीयताके प्रशस्त मार्गपर एक मजबूत ढोंकेके समान अड़ा हुआ है। प्रेममार्गी सूफी साधक उत्तर मध्यकालमें भी प्रेमाख्यान लिखते रहे। शेख नबीका 'ज्ञानदीप' (१६१९ ई०), कासिमशाहका 'हंस जवाहिर' (१७३१ ई०) नूरमुहम्मदकी 'अनुराग-बाँसुरी' (१७६४ ई०) आदि रचनाएँ इसी युगमें लिखी गईं। कुछ संत कवियोंने भी सूफियोंके अनुकरणपर प्रेमकाव्य प्रस्तुत किया। दुःखहरनदासकी 'पुहुपावती', और धरणीदासका 'प्रेम परगास' ऐसी ही रचनायें हैं। इन सभी कृतियोंमें परम्परा-पालनकी प्रवृत्ति ही लक्षित होती है। शाहजहाँके उदारमना सुपुत्र दाराशिकोहने सूफी सन्तोंको आश्रय दिया था। बर्नियरने शाहजहाँके शासनकालके अन्तिम दिनोंका विवरण देते हुए सूफी सम्प्रदायको 'एक महान् रहस्यवादी सम्प्रदाय' कहा है और दारा तथा शुजा दोनोंको सूफियोंसे प्रभावित माना है।[१] दारा शिकोहकी मृत्युके बाद सूफियोंका प्रभाव प्रेरणा और आश्रयके अभावमें क्रमशः क्षीग होता गया। तात्पर्य यह कि पूरे पूर्व और उत्तर मध्यकालके धर्माश्रयी साहित्यके उत्कृष्ट रूपकी अभिव्यक्ति कबीर, जायसी तथा सूर और तुलसीकी कृतियोंमें ही हुई है। अतः धर्माश्रयी साहित्यके मूल्योंकी चर्चा इन्हींको लक्ष्यमें रखकर की जा सकती है।

धर्माश्रयी साहित्यका मूल्यांकन

सामाजिक उदारता—यह कहा जा चुका है कि वैष्णव भक्तिकी प्रतिष्ठाके रूपमें एक प्रकारसे भक्ति-भावनाके क्षेत्रमें अभेद या एकता स्थापित करनेकी चेष्टा की गई थी। सूर और तुलसी दोनोंमें यह धार्मिक उदारता लक्ष्य की जा

---

[१] In conclusion, I shall explain to you the Mysticism of a great sect (Le Mystere d' une grande Cabole) which has laterly made great noise in Hindustan, in as much as certain Pendets or Gentile Doctors had instilled it into the minds of Dara and Sultan Sujah, the elder sons of Chah-Jehan.

—*Travels in the Mogul Empire.*
Francois Bernier, p. 345, 1916.

सकती है। किन्तु इन कवियोंके काव्यमें व्यवहारिक स्तरपर सामाजिक-अभेदकी भावनाकी पुष्टि नहीं की गई है। इनकी उदारताका इतना ही अर्थ है कि भगवान्से प्रेम करनेका अधिकार सभी वर्णों और जातियोंको है। जहाँ भगवान्के प्रति सच्ची निष्ठा है वहीं वे निवास करते हैं। भगवान् पुरुष और नारी तथा कुलीन-अकुलीनका भेद-भाव नहीं करते। सूरके एक पदमें यह भावना स्पष्ट रूपमें व्यक्त हुई है:—

> "कियौ सुर-काज गृह चले ताकैं।
> पुरुष औ नारी को भेद-भेदा नहीं, कुलिन अकुलिन अवतर्यौ काकैं।
> दास-दासी कौन प्रभु निप्रभु कौन है, अखिल ब्रह्माण्ड इक रोम जाकैं।
> भाव साँचौ हृदय जहाँ, हरि तहाँ है, कृपा प्रभुको माथ भाग वाकैं।
> दास दासी स्याम भजनहुँ तै जिये, रमा सम भई सो कृष्न दासी।"[1]

तुलसीके काव्यमें भी यह भावना अनेक स्थलोंपर प्रकट हुई है। 'विनय-पत्रिका' में लगभग सूरके ही स्वरमें वे भी कहते हैं कि गुह जैसे कुलहीन गरीबने, जिसने भला किस जीवका भक्षण नहीं किया था, पावन प्रेमके प्रभावसे सखाका सम्मान प्राप्त किया—

> "गुह गरीब गत-ज्ञाति हूँ जेहि जिउ न भखा को
> पायो पावन प्रेम ते सनमान सखा को।"[2]

यही तुलसी रामराज्यका वर्णन करते हुए 'वरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद-पथ लोग' कहकर वर्ण और आश्रम धर्मके प्रति अपनी आसक्ति व्यक्त करते हुए वैष्णव भक्तिके सामाजिक दृष्टिकोणकी व्यञ्जना करते हैं। इसी प्रसंगमें वे यह भी कहते हैं—'विप्र चरन सेवक नर नारी'। इस प्रकार उन्हें ब्राह्मण वर्गकी सामाजिक उच्चता पूर्णतः मान्य है। सूरने भी कुब्जा और कृष्णके साथको वैसा ही अशोभन और अनुचित माना है जैसा ब्राह्मण और शूद्रका एक साथ भोजन करना।[3] सारांश यह कि मध्य युगमें वैष्णव-भक्ति-साहित्य (हिन्दी) के माध्यमसे

---

[1] सूरसागर दशम स्कन्ध, ३७१९ पद, पृ० १३२०, सभा संस्करण।

[2] विनयपत्रिका, पद १५२; तुलसी ग्रन्थावली, पृ० ५३६।

[3] 'भोजन साथ सूद्र ब्राह्मनके तैसो उनको साथ' सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद, ३७७०।

मनुष्य मात्रकी सामाजिक एकताकी प्रतिष्ठा नहीं की गई। भगवान्‌के दरबारमें सब एक माने गये किन्तु समाजमें जो जहाँ था वहीं रहा। जायसीके सामने सामाजिक समता या एकताका प्रश्न ही नहीं था। उनके लिए प्रेम सर्वस्व था और उस क्षेत्रमें भेद-अभेदका प्रश्न नहीं था। वर्ण-व्यवस्था या जन्मजात उच्चता और नीचताको तर्क, विश्वास, शक्ति और दृढ़ताके साथ प्रबल चुनौती (हिन्दी कवियोंमें) सबसे पहले कबीरने दी। उन्होंने पंडितोंके गढ़ काशीमें डंकेकी चोट कहा—

"एक बूँद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उतपनां, कौन बाँम्हन कौन सूदा॥"[१]

'मनुष्य होनेके नाते हम सब एक हैं' और 'यह एकता सामाजिक स्तरपर भी मान्य होनी चाहिये' निर्गुण सन्तोंकी यह बहुत बड़ी उपलब्धि थी। इस सामाजिक मूल्यका उदय इसलामी प्रभावसे ही हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि बौद्धों और योगियोंने भी वर्ण-व्यवस्थाको चुनौती दी थी। कबीरने तो मुसलमानोंको भी उनके आडम्बरके लिए फटकारा था। भारतवर्षमें आकर उनमें भी सैयद, तुर्क और पठानका भेद-भाव उत्पन्न हो गया था। सन्त कवियोंकी वाणियोंमें जिस मनुष्य-सत्य, सामाजिक एकता और मानवधर्मकी प्रतिष्ठा मध्ययुगमें हुई वह हिन्दीके लिए गौरव और गर्वकी वस्तु है। खेद है कि व्यवहारिक जीवनमें उसकी प्रतिष्ठा आज भी नहीं हो सकी है। मध्ययुगमें उसकी चरितार्थताकी बात सोचना तो मनोराज्यमें विचरण करना था। स्वयं तुलसीदासको, जो सारे संसारको 'निज प्रभुमय' तथा 'सीय राम मय' देखते थे और जिनका किसीसे कोई विरोध नहीं था, सन्तोंके उपर्युक्त कथन खटके ही नहीं, चुभे भी थे। फिर औरोंसे क्या आशाकी जा सकती थी?

नैतिक दृष्टि—मध्ययुगके भक्त कवियोंकी दूसरी बड़ी उपलब्धि, जो सभीमें समान रूपसे पाई जाती है, उनकी नैतिक दृष्टि है। आचरणकी शुद्धताको इस भारत भूमिमें सदैव महत्त्व दिया गया है। स्वयं रामानुजाचार्यने भक्तियोगकी साधनाके लिए 'यम नियम आसन' आदि अष्टांग योगके अभ्यासके साथ

---

[१] कबीर ग्रन्थावली, पदावली, ५७, पृ० १०६, सभा संस्करण, १९२८ ई०।

ही पवित्रता, सत्यता, अहिंसा, सहानुभूति, उदारता आदि मानवीय गुणोंके अभ्यासको भी आवश्यक माना था।[१] कबीरने 'कथनी-करनीकी एकता', 'मनकी पवित्रता', 'साधु-संगति', अहंकारत्याग', 'सत्यनिष्ठा', 'अहिंसा', 'सहानुभूति' आदि गुणोंकी आवश्यकतापर ध्यान दिया है। जायसी भी अपनी लम्बी प्रेम कहानीमें अवसर निकालकर 'दानमहिमा', 'विनम्रता', 'उपकार', साहस' और 'सत्यनिष्ठा' आदिका विशद् वर्णन करते हैं।[२] सूरसागरके विनय सम्बन्धी पदोंमें नैतिक आदर्शोंकी प्रतिष्ठा की गई है। 'तजि अभिमान, राम कहि बौरे', 'तजौ मन हरि-विमुखनको संग', 'रे मन, छाँड़ि विषय कौ रँचिवौ', 'अबकै नाथ मोहिं उधारि,' आदि पदोंमें आचार-निष्ठा और नैतिकतापर बल दिया गया है। दशम स्कन्धमें एक स्थानपर वे कहते हैं कि माया, मोह, लोभ और मान व्यक्तिके लिए फांस तुल्य है।[३] तुलसीदासकी कृतियोंमें तो नैतिकताकी सीख स्थल-स्थलपर दी गई है। उत्तर-कांडमें भरतकी जिज्ञासाके उत्तरमें भगवान् रामने जो सन्तोंके लक्षण गिनाये हैं वे सभी नैतिक मूल्योंकी प्रतिष्ठा करनेवाले हैं।[४] युद्ध-भूमिमें रामने विभीषणको जिस 'धर्मरथ' का अलंकारिक ब्यौरा दिया है, वह भी जीवनका नैतिक दृष्टिसे किया जानेवाला मूल्यांकन ही है। विनयपत्रिकामें स्वयं तुलसीदास जिस प्रकारके जीवनकी कामना करते हैं, वह एक प्रकारकी शुद्धाचारपूर्ण नैतिक जीवन-व्यवस्था ही है[५]। इन भक्त-कवियोंकी परम्परामें होनेवाले परवर्ती कवियोंने भी इन मूल्योंको बार-बार दुहराया है। कुछ जैन और सन्त कवियोंको तो उत्तर मध्यकालमें [शृंगाररसका अत्यधिक प्रचार अशोभन लग रहा था और उन्होंने उसका विरोध भी किया।

---

[१] Vaisnavism, Saivism and Minor Religous Systems, p. 77.

[२] आचार्य रामचन्द्र शुक्लने जायसी ग्रन्थावलीकी भूमिकामें इन प्रसंगोंसे संबद्ध पंक्तियोंको एकत्र कर दिया है।—देखिये, पृ० १६५, तृतीय संस्करण।

[३] माया मोह लोभ अरु मान। ये सब नर कौ फाँस समान।—दशम स्कन्ध, पद ५९१९

[४] देखिये उत्तर काण्ड, दोहा ३७ और ३८ में आनेवाली चौपाइयाँ।

दशम स्कन्ध, पद ४९१९

[५] कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
यथा लाभ सन्तोष सदा काहू सो कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरन्तर मन क्रम वचन नेम निवहौंगो। पद १७२।

प्रेमकी महत्ता—नैतिकताको आवश्यक और श्रेष्ठ मानते हुए भी मध्ययुगके उपर्युक्त सभी कवि प्रेम-तत्त्वको उससे अधिक महत्त्व देते रहे हैं। 'मानस'में स्पष्ट कहा गया है कि—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तं प्रगट होहिं मैं जाना॥
अगजगमय सब रहित विरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।"[1]

सूरदासजी भी गोपियों द्वारा अपनी बात प्रकट करते हुए कहते हैं—

प्रेम प्रेम तैं होइ, प्रेम तें पारहिं जइयै।
प्रेम बध्यौ संसार प्रेम परमारथ लहियै।
साँचौ निहचै प्रेम कौ जीवन मुक्ति रसाल।
एकै निहचै प्रेम कौ जतै मिलै गोपाल।

—दशम स्कन्ध, पद ४७१३

कबीर और जायसी तो 'प्रेम तत्त्व' को ही सब कुछ मानते थे। वस्तुतः मध्ययुगके हिन्दी-भक्त-कवियोंने भेदकी सभी खाइयोंको प्रेमकी स्निग्धतासे ही भरना चाहा था। तुलसीके काव्यमें नैतिक मूल्योंको, व्यवहारिक जीवनमें, प्रेमसे कम महत्त्व नहीं दिया गया है किन्तु कबीर, जायसी और सूरके काव्यमें तो प्रेमको नेमकी तुलनामें श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है।

काव्यादर्श—मध्ययुगकी काव्यकृतियोंके आधारपर तत्कालीन जनजीवनकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करनेके पहले हम संक्षेपमें धर्माश्रयी कवियोंकी काव्य-धारणा सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण देनकी चर्चा आवश्यक समझते हैं। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि सभी कवियोंने अलंकार-शास्त्रके सीमित दायरेसे अलग 'मति अनुरूप' इष्ट देवके गुणगानको ही श्रेयस्कर माना। राज्याश्रय और उनके प्रलोभनोंको ठुकरा दिया। व्यक्तित्व-संस्कार और लोक-संग्रहको काव्यका लक्ष्य स्वीकार किया। जन-भाषाको अभिव्यक्तिका माध्यम बनाया। तुलसीने लोक-गीतोंको भी काव्य-रूपमें प्रतिष्ठित किया। सूरने काव्यकी कीर्तन-पद-शैलीको पुष्ट किया। संगीत-कलाको काव्य-कलाके उत्कर्षमें सहायक माना। गौड़ीय वैष्णव कवियों और सम्भवतः उनसे प्रभावित नन्ददास आदि अष्टछापी कवियोंने

---

[1] मानस, बालकाण्ड, पृ० १८७।

रूपगोस्वामीके 'उज्ज्वल नीलमणि', (भक्ति-शास्त्रीय ग्रन्थ)के आधारपर मधुर, या उज्ज्वल रसकी प्रतिष्ठा की, जो प्राचीन रस शास्त्रपर आधृत होते हुए भी चेतन या दिव्य आध्यात्मिक सत्ताके प्रति व्यक्त प्रेमसे पुष्ट होनेके कारण लौकिक शृङ्गार और उसकी जड़-विषयक रतिसे सर्वथा भिन्न कोटिका है। उपर्युक्त मान्यताओंकी प्रतिष्ठासे लोक-रुचिमें परिवर्तन हुआ। परवर्ती संस्कृत कवियों की अलंकृत वर्णन विशदता और चमत्कारपूर्ण शब्द-क्रीड़ाके स्थानपर सरल सुबोध शैलीमें आदर्श-चरित्र-विधायक-काव्योंकी रचना करके इन कवियोंने जनताके हृदयमें स्थान प्राप्त किया। हिन्दीके श्रेष्ठ प्रबन्ध और मुक्तक काव्योंकी रचना इसी युगमें हुई। मुसलमानों और हिन्दुओंके सांस्कृतिक सम्पर्कसे उस भाषाका जन्म हुआ जिसकी एक शैली आजकी खड़ी-बोली हिन्दीके रूपमें मान्य है और दूसरी उर्दूके रूपमें। काव्यकी परम्परागत मान्यतामें परिवर्तन और परिष्कार उपस्थित करनेवाले इन तत्त्वोंकी उपेक्षा आज भी नहीं की जा सकती।

जन-जीवनका चित्रण—मध्ययुगीन काव्योंके आधारपर तत्कालीन जन-जीवनका चित्रण स्वतन्त्र अध्ययनका विषय है। राज्याश्रयी साहित्य जन-जीवनकी अभिव्यक्तिसे दूर रहा है। उसमें राजाओं-महाराजाओं, अमीरों, सामन्तों, नवाबों आदिका विलासमय जीवन चित्रित है। सामान्य जन-समाजको ध्यानमें रखते हुए थोड़ेमें कहा जा सकता है कि इस युगमें हिन्दुओंकी प्राचीन सांस्कृतिक जीवन-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी, यद्यपि अभी उसका लोप नहीं हुआ था। संयुक्त-परिवार एवं सहयोग, धैर्य, सन्तोष, श्रद्धा, स्नेह, विनय, त्याग आदिपर आधृत कौटुम्बिक व्यवस्था ज्यों-त्यों चल रही थी। कौटुम्बिक जीवनमें मनाये जानेवाले संस्कारों—जातकर्म, नामकरण, कर्णवेध, अन्नप्राशन, चौल, विद्यारम्भ, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि आदि—का पालन किया जाता था।[1] किन्तु कुछ सीमित लोगों और आदर्श परिवारोंमें ही। अन्यथा 'मानस'के आरम्भमें तुलसीको यह न लिखना पड़ता कि—

सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव विप्र गुरु मान न कोई।[2]

---

[1] 'करनबेध उपबीत बिआहा। संग-संग [illegible] उछाहा।'

[2] 'मानस', बालकाण्ड, पृ० १८५, चौ[illegible]

Library

गुण और कर्मके आधारपर प्रतिष्ठित चतुर्वर्ण-व्यवस्था विशृङ्खलित हो गई थी। अनेक नवीन जातियोंका उदय हो चुका था जो प्राचीन वर्ण-व्यवस्थाको चुनौती दे रही थीं।[1] जायसीने राजपूतोंमें ही ३६ कुलों का उल्लेख किया है।[2] ब्राह्मणोंमें भी अनेक उपजातियाँ हो गई थीं। कहीं-कहीं एक ही जातिके कुछ लोग हिन्दू रह गये थे कुछ मुसलमान बन गये थे और इस प्रकार विचित्र स्थिति पैदा हो गई थी[3]। हिन्दुओंके धर्म कर्म और जटिल होते जा रहे थे। देवगिरिके अन्तिम यादव राजाके मन्त्री हेमाद्रिके 'चतुवर्ग चिन्तामनि' ग्रन्थमें पूरे वर्षमें २००० व्रतों-अनुष्ठानोंका विधान है। इसी प्रकारके ग्रन्थ काशी और मिथिलाके पंडितोंने भी लिखे थे।[4] संकीर्णता बढ़नेके साथ व्यवस्था बिगड़ती ही गई और अधम वर्ण तेली, कुम्हार, स्वपच, किरात, कोल, कलवार भी वैभवहीन होनेपर संन्यासी बनने लगे।[5] विप्र लोग अपढ़, लोभी, कामी और आचरणभ्रष्ट होने लगे।[6] शूद्र लोग जप-तप-व्रत करने लगे[7]। सारी व्यवस्था ही उलट-पलट गई। तुलसीको ही नहीं सूरको भी शूद्र और ब्राह्मणका एक साथ भोजन करना खला था। कृष्ण और कुब्जाके मिलनको लेकर उनकी गोपियाँ कहती हैं—

'भोजन साथ सूद्र बाम्हन के तैसों उनकौ साथ'

—दशम स्कन्ध, ३७७० पद।

---

[1] 'भये बरन-संकर कलि भिन सेतु सब लोग'

—दोहा १००, उत्तर काण्ड।

[2] 'भै अहान पदुमावति चली। छत्तीस कुरी भै गोहने भली।'

'पद्मावत,' बसंत खण्ड, १८५।१

[3] भारतीय इतिहासका उन्मीलन, पृ० ४३८।

[4] वही, पृ० ४३९।

[5] जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा।
नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं सन्यासी।

—मानस, उत्तर काण्ड, ९९।३

[6] विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी।

—वही, ९९।४

[7] सूद्र करहिं जप तप व्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना।

—वही, ९९।५

स्त्रियोंकी हीनावस्था—सबसे दयनीय दशा स्त्रियोंकी थी। वैराग्य मूलक-धर्मोंके उदयके साथ ही बेचारी स्त्रियोंको 'सन्देहोंका भँवर, अविनयोंका भवन, दुःसाहसोंका नगर, दोषोंकी अक्षयनिधि, सैकड़ों कपटोंवाली, स्वर्गद्वारका विघ्न, अविश्वासोंकी जन्मभूमि, नरकपुरीका द्वार, मायाओंकी पेटी, ऊपरसे अमृतमय और भीतरसे विषमय तथा प्राणियोंको बाँधनेका पाश' कहा गया[1]। पंचतन्त्रमें उनके दोषोंकी चर्चा करते हुए 'अनृत, साहस, माया, मूर्खता, लोभ, अशौच और निर्दयताको उनके लिए स्वभावज कहा गया[2]। इसीका अनुवाद-सा करते हुए तुलसीदासने कहा—

"नारि स्वभाव सत्य कवि कहई। अवगुण आठ सदा उर रहई।
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक अशौच अदाया[3]॥"

मध्यकालीन हिन्दी-भक्त कवियोंने उपर्युक्त विचार परम्परासे पाया था। उनकी वकालत करनेकी आवश्यकता नहीं। यह सत्य है कि मध्ययुगमें विलासी सामन्तोंके लिए सुराही और प्यालाके साथ सुबाला भी विलासका मसाला बन गई थी। शक्ति और शौर्यपूर्ण सामन्तोंके लिए भी वह 'खड्गकी चेरी'के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी[4]। पंडितोंके लिए, संस्कारहीन होनेके कारण, वह शूद्रवत् थी और भक्तोंके लिए साक्षात् मायामूर्ति थी। यह होनेपर भी भक्त कवियोंको उसका 'सती' रूप अब भी आदर्श प्रतीत होता था और दरबारी कवि भी उसके 'रानी' रूपकी प्रशंसा ही करते थे। केशवने सलाह दी थी कि रानीका वर्णन करना हो तो आँखमूँदकर उसे सुखदा, सुन्दरी, पतिव्रता, शुचि-रुचि सम्पन्ना, लज्जाशीला, बुद्धिमती और मानिनी लिख दीजिये[5]। कृष्ण भक्त कवियोंमें, राधाकी प्रतिष्ठा

---

[1] भर्तहरि, शृंगारशतक, श्लोक ७६

[2] अनृतं साहसं माया मूर्खत्वं अति लोभता। अशौचं निर्दयत्वंच स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः
—मित्रदेव, श्लोक २०७।

[3] मानस, लंका काण्ड, १६।१, २।

[4] 'तिरिया पुहुमि खरगकी चेरी। जीतै खरग होइ तेहि केरी।
पदमावत ६।१८।४

[5] सुन्दरि, सुखद, पतिव्रता, शुचि रुचि शील समान।
यदि विधि रानी बरणिये, सलज सुबुद्धि निधान।
—कविप्रिया, आठवाँ प्रभाव, छन्द ६।

होनेके कारण, स्त्रियोंके प्रति थोड़ी सम्मानकी भावना जाग उठी थी। इसीलिए सूरकी गोपियाँ, कृष्णकी निष्ठुरतापर उपालम्भ दे सकीं[1]। अन्यथा मध्ययुगकी नारीको बोलनेका अधिकार भी नहीं था। तुलसीने कुछ आदर्श नारी-पात्रोंकी सृष्टि अवश्य की किन्तु सामान्य नारी वर्गके प्रति उनकी भावना भी सहानुभूति-पूर्ण नहीं थी। उत्तर मध्यकालमें औरंगजेबकी कट्टर धार्मिक नीतिकी प्रतिक्रियाके रूपमें जब महाराष्ट्र और बुन्देलखंडमें जातीय भावनाका जोश उबल पड़ा तो पुरुषोंके साथ युद्ध-क्षेत्रमें उनकी वीरांगनाओंके रण-कौशलकी झाँकी भी देखनेको मिली[2]। आंचलिक लोक-साहित्यमें इन नारियोंकी गाथा अवश्य किसी-न-किसी रूपमें सुरक्षित होगी। इससे यह तो प्रकट है कि मध्ययुगमें भी भारतीय नारीके तेजकी चिनगारी नहीं बुझी थी किन्तु वैराग्य मूलक प्रवृत्तिके कारण या तो उनको हीन समझकर उपेक्षाका पात्र माना गया या अतिशय राग वृत्तिके कारण विलासकी वस्तुके रूपमें उनका संग्रह करके राजमहलोंकी शोभा बढ़ाई गई।

अंध विश्वास

मध्ययुगकी सामान्य जनताकी मनोभूमिमें अनेक अंधगह्वर थे। इसीलिए वह टोना, टोटका, शकुन, अपशकुन, झाड़-फूँक, भूत-प्रेत, तन्त्र-मन्त्र, और जादू-जन्तरके चक्करमें पड़ी रहती थी। इन्हें लोक-विश्वास कहें या अन्धविश्वास, इनका प्रचलन खूब था। जायसी, सूर, तुलसी आदि सभी कवियोंकी कृतियोंमें इनका जगह-जगह उल्लेख मिलता है। इससे प्रकट है कि अनेक धार्मिक आन्दोलनोंके बावजूद साधारण जनताकी मनःस्थितिमें कोई विशेष अन्तर नहीं आया था।

राजनैतिक चेतनाका अभाव

मध्ययुगमें जनसामान्यमें राजनैतिक चेतनाका अभाव था। जनताको

---

[1] एक स्थलपर तो वे यहाँ तक कह देती हैं कि ‘पुरुष कौ री सबै सोहै कूबरी किहि काज’,
—सूरसागर, सभा-संस्करण, दशम स्कन्ध, ३७६८ पद।

[2] जुझार सिंहके साथ ‘पार्वती’, चम्पतरायके साथ ‘काली कुमारी’ और छत्रसालके साथ ‘कमलावती’के रण-क्षेत्रमें जाने और युद्ध करनेका उल्लेख मिलता है।
—भारतीय इतिहासका उन्मीलन, पृ० ६३९।

शासनमें अधिकार तो किसी प्रकारका नहीं था किन्तु उसके कर्त्तव्योंकी सीमा नहीं थी। राज्य द्वारा निर्धारित कर देना तो अनिवार्य ही था; कर उगाहनेवाले कर्मचारियोंको भी हिस्सा देना पड़ता था। यही कारण था कि राज्यसत्तामें होनेवाले परिवर्तनोंमें जनताकी दिलचस्पी नहींके बराबर थी।[1] 'पद्मावतमें' रत्नसेनके बन्दी होनेपर उसे मुक्त करनेका प्रयत्न उसके नज़दीकी सामन्त गोरा और बादल करते हैं। जनता मौन है। 'मानस'में रामके राज्याभिषेककी चर्चा करते हुए भरतका पक्ष समर्थन करनेवाली मंथरा यह कहकर कि 'कोइ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छोड़ि अब होब कि रानी।' जनसामान्यकी तत्कालीन मनोवृत्तिका ही प्रकाशन करती है। सूरके कृष्णके राजा हो जानेपर ब्रजमें प्रसन्नताकी लहर नहीं दौड़ पड़ती। क्योंकि राजा होनेका तात्पर्य था जनतासे दूर हो जाना, ब्रजको छोड़कर कंचनकी नगरीमें निवास करना। जनताकी उदासीनताका अनुमान मुगल कालकी कुछ अविस्मरणीय घटनाओंके आधारपर भी लगाया जा सकता है। शाहजहाँका ज्येष्ठ पुत्र दारा पर्याप्त लोकप्रिय था। जब वह औरंगजेबकी आज्ञासे दयनीय दशामें दिल्लीकी गलियोंमें घुमाया जा रहा था तो उसकी दुर्दशा देखनेके लिए अपार जनसमूह एकत्र होकर रो रहा था। फ्रेंच यात्री बर्नियर (जो स्वयं इस दृश्यको देख रहा था) को आश्चर्य हुआ कि उसकी रक्षाके लिए एक भी तलवार म्यानसे बाहर नहीं निकली। कुछ फकीरों और गरीबोंने धोखा देकर पकड़वानेवाले पठानपर थोड़से कंकड़ फेंककर अपना क्रोध प्रकट कर लिया।[2] कोई अन्य राजकुमार पकड़ा गया होता तो कदाचित् यह

---

[1] The masses of the people had no place in the Government, no share in political power. They had very few rights, if any. Their duty principally consisted in paying heavy taxes to the State, which were usually realized through the headman of a village and a staff of revenue officers, all of whom oppressed them, and managed to keep a share of the sum realized for themselves, thus becoming very wealthy.

—*Life and Conditions of the People of Hindustan*,
Dr. K. M. Asharaf, pp. 54-55, 1959.

[2] I observed some Fakiras and several poor people throw

भी न होता। स्टेनले लेनपूलने मध्यकालीन भारतीय जनताकी राजनीतिक चेतनाके प्रति बहुत सही निर्णय दिया है। वह कहता है—'जनताने अपनी चिरकालीन उदासीनताके साथ हर राजाकी आज्ञाका पालन किया, चाहे वह आर्य, हूण, यूनानी, फारसी, राजपूत, तुर्क, अफगान, मंगोल या अंग्रेज जो भी था।'[1] इस उदासीनताके कारण थे। एक तो भारतीय जनता जीवनके चढ़ाव उतारको पूर्वकृत कार्योंका अनिवार्य परिणाम मानती थी; दूसरे राजसत्ताके परिवर्तनसे उसपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। उत्तर मध्यकालमें औरंगजेबके राजत्वकालमें थोड़ा-सा जन-जागरण हुआ था। सतनामियों और सिक्खोंका विद्रोह जनताका ही विद्रोह था। शिवाजी और छत्रसालको जनताके एक बहुत बड़े वर्गका समर्थन प्राप्त था। किन्तु सब मिलाकर यह जागरण भी आंचलिक ही था।

राष्ट्रीय चेतनाका अभाव

मध्यकालीन जनतामें राष्ट्रीयताकी भावनाके विकासका भी कोई संकेत नहीं मिलता। लोग स्वामिभक्त होते थे; जन्मभूमिको प्रेम भी करते थे किन्तु समूचे भारत राष्ट्रको जन्मभूमिके रूपमें न देखकर उस स्थान या राज्यको ही जन्मभूमिका गौरव देते थे जहाँ वे उत्पन्न होते थे। पद्मावतमें बादल अपनी नवागता पत्नीसे यह कहकर कि—'हे गजगामिनी, यदि तू गौने आई है, तो मेरा भी गमन वहाँ है जहाँ मेरा स्वामी है'[2]—अपनी स्वामिभक्ति प्रकट करता है। तुलसी और सूर दोनोंके राम अपनी जन्मभूमि अयोध्याके प्रति अपना विशेष अनुराग व्यक्त करते हैं।[3] सूरके कृष्ण भी कहते है—

---

stones at the infamous patan; but not a single movement was made, no one offered to draw his sword, with a view of delivering the beloved and compassionate prince.

Travels in the Mogul Empire,—pp. 99-100.

[1] मध्यकालीन भारत, हिन्दी संस्करण, पृ० ४३।

[2] "जौ तूं गवन आइ गजगामी। गवन मोर जहवाँ मोर स्वामी।"

[3] मानस, उत्तर काण्ड, पृष्ठ ८७३; सूरसागर, नवमस्कन्ध, पद १६५।

'रुकमिनि चलौ जन्मभूमि जाहिं,
जो क्रीड़ा श्री वृंदावन मे, तिहुँ लोक में नाहिं ।'[१]

मेवाड़के राजपूत जननी जन्मभूमि और अपने स्वामी महाराणाके लिए ही युद्ध करते रहे। यही स्थिति प्रत्येक राजपूत राज्यकी थी। राजपूतानेके अन्तर्गत प्रत्येक राजपूत अपने स्वामीके राज्यकी सीमातक ही अपनी जन्मभूमिकी कल्पना करता था। सिक्ख बराबर लड़ते रहे किन्तु केवल पंजाबके लिए। १८५७ की क्रान्ति भी व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिके अभावमें ही असफल हुई। शिवाजीके नेतृत्वमें जिस राष्ट्रीयताका उदय हुआ था वह अधिकसे अधिक हिन्दू राष्ट्रीयता थी। सांस्कृतिक एकताके बावजूद मध्ययुगके भारतीय जीवनमें राष्ट्रीय चेतनाका अभाव बराबर खटकता रहा है।

आर्थिक विषमता

मध्ययुगीन जन-जीवनकी आर्थिक स्थितिका चित्र सबसे अधिक करुण है। तुर्कोंकी विजयके साथ राजनैतिक जीवनमें जो परिवर्तन हुए उनका अनिवार्य प्रभाव समाजके आर्थिक ढाँचेपर पड़ना ही था। तुर्क विजेता विजयके बाद इलाके आपसमें बाँट लेते थे। वे किसानोंको खेती-बारी तो करने देते थे, किन्तु उनका शासन स्वयं करते थे। जो काम पहले शिल्पियोंकी श्रेणियाँ और ग्राम पंचायतें करती थीं, उसका बहुत-सा अंश इन जागीरदारोंने अपने हाथमें ले लिया। यह जागीरदारीकी प्रथा सम्भवतः कुछ पहलेसे प्रारम्भ हो गई थी किन्तु मुसलमानी विजयके बाद इसका विकास तेजीसे हुआ।[२] धीरे-धीरे कारीगर और किसान इनके चंगुलमें आते गए। अलाउद्दीन खिलजीने तो हिन्दुओंको (प्रजा-वर्गको ही समझिए) विनम्र बनानेका एक ही नुस्खा ईजाद किया था कि उन्हें अधिकसे अधिक गरीब बना दिया जाय।[३] बीचमें शेरशाह और अकबरके समयमें कुछ राहत मिली थी किन्तु जनताकी स्थितिमें अधिक सुधार नहीं हुआ। शेरशाहके समकालीन जायसीने वियोगिनी नागमतीकी दयनीय स्थिति अंकित

---

[१] दशम स्कन्ध, पद, ४८९१

[२] भारतीय साहित्यका उन्मीलन, पृ० ४३७।

[३] मध्यकालीन भारत, हिन्दी संस्करण, लेनपूल, पृ० ७३।

करते समय उसे जिस सामान्य नारीकी भूमिकामें उपस्थित किया है वह वस्तुतः तत्कालीन ग्रामीण नारीका चित्र है, जिसके घरमें न ठीकसे 'छप्पर' है, न 'थूनी' है, न 'थंभ', न 'कोरो', न 'मूंज'। —पद्मावत ३५६। दोहा

तुलसीदासजी ने अपने समय की स्थिति को ईमानदारी से उपस्थित किया है। उन्होंने देखा कि पेट की आग बड़वाग्नि से भी भीषण है। इसके लिए लोग अनेक प्रकारके ऊँच-नीच कर्म करते हैं, यहाँ तक कि बेटा और बेटी भी बेचते हैं। सारी दुनिया 'दारिद-दसानन' के द्वारा आक्रान्त है। न किसान बेचारेको ठीकसे खेतीकी सुविधा है न वणिकको व्यापारकी और न चाकरको चाकरीकी। भिखारीको भीख भी नहीं मिलती। लोग जीविका विहीन होकर दुःखीचित्तसे एक दूसरेसे कहते हैं 'कहाँ जायँ ? क्या करें ?'[१] समाजकी आर्थिक हीनताका इससे अधिक प्रामाणिक साक्ष्य इतिहास ग्रन्थोंमें ढूँढ़ना व्यर्थ है। अकबरके सम-सामयिक कवि नरोत्तमदासने सुदामाकी पत्नी द्वारा जो गृहस्थीका चित्र अंकित कराया है—'या घर ते कबहूँ न गयो पिय, टूटो तवा अरु फूटी कठौती'—वह कोरी कल्पना नहीं है। घर-घरकी यही स्थिति थी। बर्नियरने शाहजहाँ और औरंगजेबके जमानेके भारतको अच्छी तरह देखा था। उसने तत्कालीन कृषकोंका जीवन-चित्र अंकित करते हुए लिखा है—'ये बेचारे गरोब लोग, जब अपने लोलुप प्रभुओंकी माँगकी पूर्ति नहीं कर पाते तो न केवल उनकी जीविका छीन ली जाती है वरन् उनके बच्चोंको भी छीनकर गुलाम बना लिया जाता है। इस घृणित अत्याचारसे टूटकर प्रायः बहुतसे किसान गाँव छोड़कर नगरों और कैम्पोंमें बोझा ढोने, पानी पहुँचाने या सईसी करनेका पेशा अख्तियार कर लेते हैं।'[२] वस्तुतः मध्ययुगमें शाही खानदानके लोग, उनके समर्थक जागीरदार और सामन्त, धार्मिक नेता (उलमा और काजी) दरबारी कवि और गायक

---

[१] कवितावली, छन्द संख्या ९६, ९७।

[२] "These poor people, when incapable of discharging the demands of their rapacious lords, are not only often deprived of the means of subsistence, but are bereft of their children, who are carried away as slaves. Thus it happens that many of the peasantry, driven to despair by so execrable

सुन्दरी नर्तकियाँ तथा ऐसे और लोग जो किसी रूपमें शाहंशाहके जीवनको मधुमय बनानेमें योग दे सकते थे, सुखी थे। उनके लिए पैसेका प्रश्न तुच्छ और नगण्य था। शेष जनता अर्थाभावसे पीड़ित थी। वह श्रम करती थी किन्तु उसका फल भोग करनेवाले मधुपुरियोंमें निवास करते थे। वहाँ उसकी पहुँच नहीं थी वह अपने पूर्वजन्मके कल्पित पापोंको कोसकर चुप रह जाती थी।

मध्ययुगीन काव्यमें व्यक्तित्वका अभाव

मध्ययुगीन हिन्दी-काव्यकी प्रेरणा भूमि, उपलब्धि, महत्ता, मूल्य और उसके माध्यमसे व्यक्त होनेवाली जन-जीवनकी संक्षिप्त गाथा समाप्त करनेके पहले उसके विषयमें हम एक बात और कहना चाहेंगे। पूरे मध्ययुगीन साहित्यमें, आजका पाठक, व्यक्तित्वका स्पन्दन बहुत ही कम पाता है। कबीरकी अटपटी वाणी, तुलसीकी चीख (कवितावलीमें) देवका अनुताप और घनानन्दकी विवशता यदि मुखर न हुई होती तो शेष सब-कुछ आदर्श अनुकरण और परम्पराके कटघरेमें आसानीसे बन्द हो जाता। जायसीके नैनोंका जल भी पद्मावती-रत्नसेनकी गाढ़ी प्रीतिमें घुल-मिलकर रह गया है। 'वस्तुनिष्ठ' काव्यों (प्रबन्ध काव्यों) की बात तो जाने दीजिए जिसे हम मध्ययुगकी 'व्यक्तिनिष्ठ' (subjective) कविता कहते हैं उसमें भी एक बँधी-बँधायी प्रवृत्तिको ही व्यक्त किया गया है। सूर और तुलसीके विनय-गीत भी व्यक्तित्वकी व्यञ्जना नहीं करते एक प्रवृत्ति (tendency) की अभिव्यक्ति करते हैं। मीराके करुण गीतोंमें उनके निजी जीवनकी विवशताका संकेत ही ग्रहण किया जा सकता है वह सीधे ढंगसे व्यक्त नहीं हुई है। रीति-काल तो मेरे एक मित्रके शब्दोंमें 'व्यक्तिकी पराधीनताका युग है'। तो, भक्ति और रीति-युग या पूर्व-मध्य और उत्तर-मध्यकाल वस्तुतः भारतीय जनताके संघर्ष और पराजयके युग हैं। संघर्ष कालमें हम कभी-कभी चीख-पुकार सके हैं किन्तु पराजित होनेपर तो पराधीन होना ही पड़ता है।

---

a tyranny, abandon the country, and seek a more tolerable mode of existence either in the towns, or camps; as bearers of burdens, carriers of waters, or servants to horsemen"

—*Travels in the Mogul Empire*—p. 205.

अन्तमें हम भूमिकाके आरम्भमें कही हुई अपनी बात एक बार फिर दुहराना चाहेंगे कि मध्यकालीन हिन्दी काव्यको 'भक्ति' और 'रीति'के आधारपर नहीं उसकी प्रेरणा-भूमिओंके आधारपर समझना अधिक उचित होगा; नहीं तो भक्तिमें 'रीति' मिल जायगी और रीतिमें 'भक्ति' और कुछ फुटकर कवि फिर भी छूट जायेंगे।

कबीर

मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्यका प्रथम चरण भीषण सांस्कृतिक संघर्ष एवं जीवन-मूल्योंके संक्रमणका युग है। उस युगमें समस्त भारतीय और अभारतीय साधना-धाराओंको आत्मसात् कर जीवनकी सहज अनुभूतियोंके आधारपर कबीरने जिस मानव-सत्यकी प्रतिष्ठाकी वह आज भी अनुकरणीय है। कबीरसे पूर्व इस महान् देशके विशाल धरातलपर जितनी धार्मिक साधनायें प्रचलित थीं वे सभी जीवनकी गतिशीलता एवं प्राणवत्ताके अभावमें रूढ़ि-जर्जर एवं प्रेरणाहीन हो चुकी थीं। उनका जीवन्त, स्फूर्तिदायक एवं पोषक तत्त्व खो चुका था। परम्परागत मान्यताओंके आधारपर प्रत्यक्ष समस्यायें नहीं सुलझाई जा सकतीं। यही कारण है कि युग-विशेषका महान् व्यक्तित्व जो अपने जीवनको प्रयोगशालाके रूपमें ग्रहण करता है, कभी भी परम्पराओंकी सीमामें नहीं बँध सकता। कबीरने सत्यके अन्वेषणके लिए आजीवन प्रयोग किया था। उन्हें अपने पर अखण्ड विश्वास था। उनकी प्रतिभा विलक्षण थी। उनके जैसा आकर्षक व्यक्तित्व पूरे मध्ययुगमें दूसरा नहीं। कबीरको समझनेके लिए उनके पूर्व-युगकी समस्त साधनाओंके प्रकाशमें उनकी मान्यताओंको देखना होगा। कहा गया है कि 'कबीरदासकी वाणी वह लता है जो योगके क्षेत्रमें भक्तिका बीज पड़नेसे अंकुरित हुई थी'।[1] यह योगका क्षेत्र बौद्ध-सिद्धोंकी ऊँची-नीची साधना-भूमिको पाटकर बनाया गया था जो भावके अभावमें सूखकर कड़ा पड़ गया था। दक्षिणसे वैष्णव भक्तिका जो सरस प्रवाह उमड़कर उत्तर-भारतमें प्रवाहित हुआ उससे यह भूमि न केवल रस-रिक्त हो गई वरन् इसमें रामानन्दके रूपमें एक अँखुआ भी फूट पड़ा।[2] इसलामके साथ आए हुए सूफियोंके प्रेम-जलसे सिञ्चित होकर यह अँखुआ कबीररूपी लताके रूपमें पल्लवित हुआ।[3]

---

[1] कबीर, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १५३; १९५३।

[2] "रामानन्दमें ही आकर नाथ मत एवं वैष्णव सम्प्रदायका स्पष्ट सम्मिलन हुआ था"—'हिन्दी काव्यमें निर्गुण सम्प्रदाय' : भूमिका भाग, पृष्ठ [ञ]।

[3] कबीरकी भक्तिमें सूफ़ी तत्त्व, श्री जी० यच० वेस्टकॉट, डॉ० बड़थ्वाल।

इस प्रकार कबीरकी साधनाका सीधा सम्बन्ध बौद्ध-सिद्धों, नाथ-पंथी योगियों, वैष्णव भक्तों तथा इसलाम और उसके साथ आए हुए सूफी प्रेमियोंसे है। किन्तु उन्होंने किसीको ज्योंका त्यों स्वीकार नहीं किया है। आगेके पृष्ठोंमें हम उपर्युक्त साधना-धाराओंके संदर्भमें कबीरकी मान्यताओंको प्रस्तुत करेंगे।

बौद्ध सिद्ध : नाथपंथी योगी और कबीर

बौद्ध सिद्धों और नाथपंथी योगियोंसे कबीरकी समता मुख्यतः निम्नलिखित पाँच आधारोंपर दिखाई जा सकती है—(क) उच्चवर्गीय संस्कृतिके प्रति विद्रोहकी भावना, (ख) गुरुका महत्व, (ग) पिण्ड-ब्रह्माण्डकी एकता (सत्यका अन्तस्में सन्निवेश), (घ) साध्यका स्वरूप, (ङ) भाषा और शैली।

(क) उच्चवर्गीय संस्कृतिके प्रति विद्रोहकी भावना—उच्चवर्गीय संस्कृतिके प्रति विद्रोहकी भावना उपनिषदोंके युग या उससे और पहलेसे ही लक्ष्य की जा सकती है। लोकायत, चार्वाक, जैन, बौद्ध-सिद्ध और नाथपंथी योगियोंसे होती हुई यह परम्परा कबीर-साहित्यमें चली आयी है। यह विद्रोह पुस्तक-ज्ञान, वर्णव्यवस्था, तीर्थव्रत, मूर्तिपूजा, तथा अन्य धार्मिक विधि-विधान सभीके प्रति व्यक्त हुआ है। बौद्ध-सिद्धोंमें प्रसिद्ध सरहपा (७६० ई०) और कण्हपा (८४० ई०) ने 'पाखंड-खंडन' और 'पंथ-पंडित निन्दा' के रूपमें उच्चवर्गीय सांस्कृतिक मान्यताओंकी खिल्ली उड़ाई है।[१] गोरक्षपा (गोरखनाथ) (८४५ ई०)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास, तथा अन्य अनेक विद्वानोंने स्वीकार किया है और 'पण्डित चन्द्रबली पाण्डेयने तो कबीर, दादू, यारी, दरिया आदि सन्तोंको 'आजाद' सूफी माना है'।—तसव्वुफ अथवा सूफीमत, —पृष्ठ १८८

[१] बम्हणहि म जाणन्त हि भेउ। एँवइ पड़िअउ ए चउवेउ॥
मट्टि पाणि कुस लई पढन्त। घरहीं बइसी अग्गि हुणन्त॥
—'सरहपा'—हिन्दी काव्य-धारा, पृष्ठ ४।

× × ×

आगम-वेअ-पुराणे˘ (ही), पण्डिअ माण वहन्ति।
पक्क-सिरीफले˘ अलिअ जिम, वाहेरीअ भमन्ति॥
—'कण्हपा'—हिन्दी काव्य-धारा, पृष्ठ १४६।

ने भी 'जंत-मंत वेदंत' छोड़ने तथा 'पढिबा, गुणिबा, पूजा, पाठ, जाप' आदिसे मुख मोड़नेका उपदेश दिया है।[१]

जैन कवि रामसिंह (१००० ई०) और योगीन्द्र (१००० ई०) ने भी पुस्तक-ज्ञान और देवी-देवता, तीर्थ-वेद काव्य आदि सभीकी निन्दा की है।[२] कबीरने इसी परम्पराका अनुसरण करते हुए कहा था—

"वेद पुरान पढ़त अस पाँडे, खर चंदन जैसैं भारा।
राम नाम तत समझत नाहीं, अंति पड़ै मुखि छारा॥"[३]

× × ×

"कबीर दुनियाँ देहुरै सीस नवाँवण जाइ।
हिरदा भीतर हरि बसै, तू ताही सौं ल्यो लाई॥"[४]

ब्राह्मणों की सामाजिक उच्चताके प्रति सहजयानी सिद्ध सरहपादने जिन आक्रोश पूर्ण शब्दोंमें विरोध प्रदर्शन किया है, ठीक उन्हीं शब्दोंमें कबीरने भी उनकी श्रेष्ठताको चुनौती दी है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदीने 'जनरल ऑव दी डिपार्टमेण्ट ऑव लेटर (वॉल्यूम २८) कलकत्ता विश्वविद्यालय'में प्रकाशित

---

[१] 'छाड़ौ तंत मंत वेदंत। जंत्र गुटिका धातपपंड'

× × ×

छोड़ौ वैद-वणज-व्यौपार। पढ़िबा गुणिबा लोकाचार।
पूजा पाठ जपौ जिनि जाप। जोग मांहिं बिटंबौ आप।
—गोरखनाथ : हिन्दी काव्य-धारा, पृष्ठ १६३।

[२] पंडिय पंडिय पंडिया; कणु छंडिवि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठोसि, परमत्थु न जाणहि मूढोसि।
—रामसिंह, हिन्दी काव्य-धारा, पृष्ठ २५६।

× × ×

देउलु देउवि सत्थु गुरु, तित्थुवि वेउ वि कव्वु।
वच्छु जु दीसै कुसुमियउ, इंधण होसइ सव्वु।
—जोगिन्दु (जो इन्दु): हिन्दी काव्य-धारा, पृष्ठ २४८।

[३] कबीर ग्रन्थावली, पदावली, ३९।

[४] कबीर ग्रन्थावली, साखी, ४३६।

सरहपादके एक दोहेको गद्यमें इस प्रकार उद्धृत किया है—"ब्राह्मण ब्रह्मके मुखसे पैदा हुए थे, जब हुए थे तब हुए थे। इस समय तो वे भी वैसे ही पैदा होते हैं जैसे दूसरे लोग। फिर ब्राह्मणत्व कहाँ रहा?"[1] कबीर भी ठीक यही बात कहते हैं—

"एक बूँद एकै मलमूतर, एक चाँम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उतपनां कौन बाम्हन कौंन सूदा॥"[2]

इस प्रकारकी अनेक उक्तियाँ उद्धृतकी जा सकती हैं जिनमें बौद्ध-सिद्धों नाथ-पंथी योगियों और कबीरमें समता ही नहीं एकता भी है किन्तु जैसा कि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने लक्ष्य किया है—"कबीरके पूर्ववर्ती सिद्ध और योगी लोगोंकी आक्रमणात्मक उक्तियोंमें एक प्रकारकी हीनभावनाकी ग्रन्थि या इन-फीरियारिटी कम्प्लेक्स पाया जाता है। × × उनमें तर्क है पर लापरवाही नहीं है; आक्रोश है पर मस्ती नहीं हैं, तीव्रता है पर मृदुता नहीं है। कबीरदासके आक्रमणोंमें भी एक रस है।"[3] यह 'लापरवाही', 'मस्ती', 'मृदुता' और 'रस' उस अखण्ड आत्मविश्वासकी देन है जो भक्ति और प्रेमकी प्रगाढ़ अनुभूतिसे उत्पन्न हुआ था।

(ख) गुरुका महत्त्व—गुरुको महत्त्व देनेकी बात केवल सिद्धों जैनियों और नाथों तक ही सीमित नहीं है, यह भारतीय साधनाके सभी रूपोंमें एक महत्त्वपूर्ण तत्त्वके रूपमें मान्य है। तन्त्र-साधनासे प्रभावित होनेके कारण सिद्धों और नाथोंने गुह्यातिगुह्य शारीरिक क्रियाओंका समावेश अपनी साधनामें कर लिया था। साधनाकी इस जटिलताने उनके लिए गुरुका महत्त्व बढ़ा दिया था।[4] सिद्ध सरहपाद, और जैन साधु रामसिंह दोनोंने गुरुके उपदेशके प्रति पूर्ण आस्था

---

[1] कबीर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १३३।

[2] कबीर ग्रन्थावली, पदावली, ५७।

[3] कबीर, पृष्ठ १६५।

[4] "बौद्ध तन्त्र पद्धतिके अनुसार गुरु इस भूतलपर परमेश्वरका प्रतिनिधि माना जाता है। तिब्बतीय लामा धर्म जो बौद्ध धर्मका ही एक परिवर्तित रूप है 'गुरु धर्म' है और 'लामा' शब्दका अर्थ भी गुरु ही होता है। गुरुके लिए यही महत्त्व हम गोरखनाथियोंमें

रखनेकी बात कही है।[1] योगी गोरखनाथने कहा है कि शरीर-कुंजके भीतर स्थित वाटिकामें सद्‌गुरु द्वारा तत्त्वकी बेल रोपी गई है।[2] गुरुको महत्त्व प्रदान करनेवाली कबीरकी उक्तियाँ उपर्युक्त कथनोंके मेलमें हैं। उन्होंने मुक्त हृदयसे गुरुका महत्त्व प्रतिपादित किया है! कभी वे कहते हैं कि 'गुरु कुम्हार और शिष्य घड़ा है। गुरु, शिष्य रूपी घटको ठोंक-पीटकर सुधार देता है।' कभी कहते हैं कि 'अध्यात्मका बीज जो पहलेसे धरतीमें मौजूद है तभी पुष्पित और फलित हो सकेगा जब गुरु बादलकी भाँति उसपर अपने उपदेशोंकी वृष्टि कर देगा।' कभी वे 'गुरुको गोविन्दको लक्षित करानेवाला मानते हैं' और कभी संशयको नष्ट करनेवाला।' एक स्थानपर तो वे यहाँतक कह देते हैं कि 'हरि'के रूठनेपर तो 'गुरु'की शरणमें स्थान मिल जायगा किन्तु गुरुके रूठनेपर तो कहीं ठौर नहीं है।[3] किन्तु बौद्ध-सिद्धों और नाथ-योगियों द्वारा प्रतिपादित गुरु-महत्त्व और कबीर द्वारा स्वीकृत गुरु-महिमामें एक मौलिक अन्तर है। सिद्धों और योगियोंमें

भी पाते हैं और वहाँसे रामानन्दके द्वारा गोरखनाथियोंके प्रभावमें कुछ और अधिक आ जानेके कारण इसका प्रवेश निर्गुण मतमें भी हो जाता है।"

—हिन्दी काव्यमें निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ३०७।

[1] चित्ताचित्ति वि परिहरहु तिम अच्छहु जिम बालु
गुरु बअणे दिढ़ भत्ति करु, होइ जइ सहज उलालु।

—सरहपा, हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १०।

× ×

अह गुरु उवएसे चित्ति ठाइ। तं तेम धरंतिहि कहिं मि ठाइ।

—रामसिंह, हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ २५८।

[2] 'काया कुंजर तेरी बाड़ी अवधू, सतगुरु बेलि रुपांणी।'

—गोरखबानी, शबदी, ६९।

[3] कबीर ते नर अंध हैं, गुरुको कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर हैं, गुरु रूठे नहिं ठौर॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २।

मिलाइये—गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्गतिः
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन॥

—मंत्रयोग संहिता, पृष्ठ १७।

'गुरु' एक भौतिक आवश्यकता भी है[1] क्योंकि उनकी साधना शारीरिक भी थी जब कि कबीरकी दृष्टिमें गुरु एक आध्यात्मिक आवश्यकता मात्र है। कबीरकी जिस सहज-साधनामें 'न तो आँख मूँदनेकी आवश्यकता थी न कान रुँधनेकी न कायाको कष्ट देनेकी' उसमें गुरु केवल मनको ईश्वरोन्मुख करनेके लिए एक प्रेरक तत्त्वमात्र था।

(ग) पिण्ड-ब्रह्माण्डकी एकता—[अन्तस्‌में सत्यका सन्निवेश] योग-साधनाके उद्‌भवके साथ ही पिण्ड (मानव शरीर) और ब्रह्माण्ड (समष्टि पिण्ड) की एकताका रहस्य साधकोंने लक्ष्य किया होगा। नाथ-योगियोंकी मान्यताके अनुसार इसी मानव शरीरमें (व्यष्टि पिण्डमें) समष्टि पिण्ड (ब्रह्माण्ड) की अनुभूति की जा सकती है। जिस प्रकार व्यक्तिकी आत्मा विश्वात्मासे अभिन्न है उसी प्रकार व्यक्ति पिण्ड, समष्टि पिण्डसे अभिन्न है। जब आत्मा और विश्वात्मा तथा पिण्ड और ब्रह्माण्डका भेद मिट जाता है और एक ही शक्ति-युक्त शिव भीतर और बाहर सर्वत्र अनुभूत होता है तभी 'समरस करण'की स्थिति आती है। इसी मानसिक स्थितिकी उपलब्धि योगीके जीवनका आदर्श है।[2] कबीरने 'ब्रह्मंडे सो प्यंडे जांनि, मानसरोवर करि असिनांन' कहकर इसी सत्यकी ओर संकेत किया है।[3] पिण्ड और ब्रह्माण्डकी एकता हठयोगकी साधनाका दार्शनिक आधार है। कबीर आत्मा और विश्वात्माकी एकतापर अवश्य विश्वास करते थे क्योंकि उन्होंने बार-बार 'आतमराम'को पहचाननेकी बात कही है।[4] जब व्यष्टि पिण्डमें स्थित आत्मा

---

[1] Moreover many of the tantric practices are secret practices involving complex procees of esoteric yoga. Because of this stringent nature of the tantric practice the help of *Guru* is enjoyned to be sought at every step.

—*Obscure Religious Cults*, p. 101.

[2] 'नाथ योग : एक परिचय', अक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय, पृष्ठ, ५७, ५८ (हिन्दी संस्करण)।

[3] कबीर ग्रन्थावली, पदावली. ३२८।

[4] कबीर औंगुण नां गहै, गुंण ही कौं ले बीनि।
घट-घट महु के मधुप ज्यूँ पर-आत्म ले चीन्हि॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५५।

और समष्टि पिण्ड (ब्रह्माण्ड) में स्थित विश्वात्मा एक है तो पिण्ड और ब्रह्माण्डकी स्थिति भी अभेदात्मक मानी जा सकती है । कबीरको पिण्ड और ब्रह्माण्डकी एकता इसी रूपमें मान्य थी क्योंकि वे हठयोगकी शब्दावलीमें बात करते हुए भी कायाको कष्ट देने—'हठेन बलात्कारेण योगसिद्धि'के पक्षमें नहीं थे । वे तो 'निरवाण पद प्राप्ति' का एक ही अर्थ समझते थे कि 'आपा पर सब एक समान' समझा जाय ।[1] इसीलिए वे शरीरको साधनेकी अपेक्षा मनको साधना आवश्यक समझते थे ।[2] पिण्ड और ब्रह्माण्डकी एकताका अर्थ कबीरके लिए यह नहीं था कि 'पदको पाताल, सिरको आकाश, मध्य शरीरको भूमध्य सागर, माँसको मिट्टी, रक्तको जल, नसोंको जलधारा, हृदयको गहरी नदी, हड्डीको पहाड़, बालको बन-उपबन', कहकर ब्रह्माण्डकी समस्त वस्तुओंको शरीरके भीतर गिनाया जाय । यह प्रवृत्ति तान्त्रिकोंमें थी वहाँसे नाथ पथी योगियोंमें आई । कुछ परवर्ती संतोंने भी योगका निरूपण करते समय ब्रह्माण्डकी सभी वस्तुओंको मानव शरीरमें निदर्शित किया है ।[3] किन्तु कबीरके सम्बन्धमें ऐसा नहीं कहा जा सकता । इतना लम्बा सिलसिला उन्हें नहीं स्वीकार हो सकता था । जिन तत्त्वोंसे ब्रह्माण्डकी रचना हुई है उन्हींसे पिण्डकी भी । इसलिए ब्रह्माण्डका रहस्य, पिण्डके रहस्यसे भिन्न नहीं है; विश्वात्मा, आत्मासे भिन्न नहीं है । सत्य बाहर नहीं भीतर है । विश्वात्माको संसारके विस्तारमें नही हृदयकी शुद्धिमें ढूँढ़ना चाहिए । इसीलिए वे कहते हैं—

× × ×

'हरि हिरदै रे अनत कत चाहौं', ग्रन्थावली, पद १७० ।

× × ×

'का नांगेका बाँधे चाम, जौ नहीं चीन्हसि आतम-राम—ग्रन्थावली, पद १३२ ।
'ते हरि के आवैहि किहि कामा जे तहिं चीन्है आतमरामा ।'—ग्रं० पद, १३७ ।

[1] ग्रन्थावली, पद, १६७ ।

[2] केसों कहा बिगाड़िया, जे मूँडै सौ बार ।
मन कौं काहे न मूंडिए, जामैं विषै विकार ॥—ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६ ।

[3] देखिये, 'सन्तकवि दरिया : एक अनुशीलन' —पृष्ठ, ८३, ८४ ।

रे मन बैठि कितै जिनि जासी।
हिरदै सरोवर है अविनासी॥

इसी सत्यकी व्याख्या रूपमें वे कहते हैं—

काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी।
काया मधे कवलापति, काया मधे बैकुंठ वासी॥[1]

जो लोग पिण्ड और ब्रह्माण्डकी एकताको शब्दशः ग्रहण करना चाहते हैं उनके लिए तो कबीर कुछ दूसरी ही बात कहते हैं—

प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अंत न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिए, कहै कबीर हरि सोई॥[2]

जो अनादि और अनन्त है वह पिण्ड और ब्रह्माण्डकी सीमामें कैसे आ सकता है? ब्रह्माण्ड भी तो सीमित है? कबीरका 'हरि' इससे भी परे है।

(घ) साध्यका स्वरूप : सहज, समतत्त्व और राम—बौद्ध सिद्धोंने सहज मार्गपर चलकर जिस 'सहज तत्त्व'की उपलब्धि की थी वह एक प्रकारकी मानसिक स्थिति थी जिसमें 'महासुख'की अनुभूति होती थी। अनुभूतिके क्षणोंमें साधक आत्म और परका भेद भूल जाता था। यह महासुखात्मक अनुभूति आदि, मध्य, अन्त, भव और निर्वाण सभीसे परे थी।[3] सहजयानी सिद्धोंका यह 'सहज तत्त्व' प्रारंभिक बौद्धोंके 'निर्वाण'की तुलनामें अधिक पॉजिटिव (धनात्मक) है।[4] किन्तु मूलतः अनीश्वरवादी होनेके कारण बौद्ध सिद्ध इस 'सहज तत्त्व' को

---

[1] कबीर ग्रन्थावली पद १७१।

[2] कबीर ग्रन्थावली, पद १८०।

[3] आइ ण अन्त ण मज्झ णउ, णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुह, णउपर णउ अप्पाण॥
—हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ, ६।

[4] And this conception of the final state of the Buddhist *Sahajiyas* differd from that of the early buddhist in this that the Mahasukh state of Nirvana is a difinitely positive state, while the earlier Buddhistic tendency was towards negation.
—*Obscure Religious Cults* p. 139.

सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रियाके मूलमें स्थित आदि तत्त्व (ब्रह्म, परमात्मा, शिव आदि) के समकक्ष (पूर्ण धनात्मक) न ला सके। नाथ योगियोंने भी सहज और शून्यकी चर्चा की है। गोरखनाथको मत्स्येन्द्र नाथने बताया था कि—

"दुबध्या मेटिं सहजमें रहै। ऐसा विचार मछिन्द्र कहै।
× × ×
सहज सुंनि मन तन थिर रहै। ऐसा विचार मछिन्द्र कहै॥"[१]

अर्थात् मनकी द्वन्द्वातीत अवस्था ही सहज अवस्था है। इस अवस्थामें काया और मन दोनों स्थिर रहते हैं। इस अवस्थामें योगी-साधक शिव और शक्तिके आनन्दमय एकत्वकी अनुभूति करता है।[२] इस एकत्वकी स्थितिमें शक्ति, शिवके अभ्यन्तर स्थित रहती है। वस्तुतः शिव और शक्ति एक दूसरेसे शाश्वत रूपसे आलिंगित रहते हैं—'शिवस्य अभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेर अभ्यन्तरे शिवः' इसीलिए यह अवस्था 'द्वैताद्वैत विलक्षण समरसावस्था' है। अतः यह कहा जा सकता है कि योगियोंकी सहजावस्था एक प्रकारकी समरसावस्था ही है जिसमें वे समतत्त्वकी अनुभूति करते हैं। कबीरदासजीने भी सहज और शून्यकी चर्चा की है किन्तु उनका 'सहज' 'राम' का पर्याय हो गया है। सिद्धोंका सहजसुख (महासुख) उनके लिए 'रामरस' हो गया है। रामसे 'एकमेक' होनेकी अनुभूति ही उनकी सहजानुभूति है।

सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजै हरिजो मिलैं, सहज कही जै सोइ।[३]
× × ×
सहजै सहजै सब गये, सुत-बित कामिणि काम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्यौ, दास कबीरा राम॥[४]

---

[१] हिन्दी-काव्यधारा, पृष्ठ १५९।

[२] "गोरख कहै अम्हे चंचल ग्रहिया। सिव सकती ले निज घर रहिया।"
—हिन्दी काव्यधारा, पृ० १६१।

[३] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२, साखी ४।

[४] वही " " ३।

उपर्युक्त अध्ययनसे प्रकट है कि बौद्धोंसे योगियों तकके संक्रमण-कालमें 'सहज' तत्त्व क्रमशः धनात्मक (पाज़िटिव) होता आया है। कबीर-साहित्यमें वह 'हरि' और 'रामसे' अभिन्न हो गया है। अब देखना यह है कि क्या कबीरके 'राम' योगियोंके 'द्वैताद्वैत विलक्षण समतत्त्व' (शिव) से अभिन्न हैं ?

कबीरके निर्गुण राम (साध्य)—कबीरदासको बाबू श्यामसुन्दरदास और डाक्टर बड़थ्वाल ब्रह्मवादी और अद्वैतवादी मानते हैं।[1] अतः उनकी दृष्टिमें निर्गुण रामसे तात्पर्य अद्वैतके निर्गुण ब्रह्मसे है।[2] परम्परागत मान्यता यही रही है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने कबीरके रामकी नई व्याख्या दी है। वे कबीरके निर्गुण रामको योगियोंके 'द्वैताद्वैत विलक्षण समतत्त्व' का समानार्थी मानते हैं। वे कहते हैं—"इसी त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत-विलक्षण, भावाभावविनिर्मुक्त अलख अगोचर अगम्य प्रेम पारावार भगवान्‌को कबीरदासने 'निर्गुण राम' कहकर संबोधन किया है।"[3] डॉ० द्विवेदीने कबीरको जितना पढ़ा और समझा है कदाचित् हिन्दीके किसी अन्य विद्वान्‌ने नहीं। किन्तु उनके अध्ययनमें एक विरोध दिखाई देता है। एक ओर तो वे कहते हैं—"हमने कई बार कहा है कि कबीरदास योगियों द्वारा प्रभावित तो बहुत हैं पर वे स्वयं वही नहीं हैं जो योगी हैं। हम यहाँ फिर एकबार कहते हैं कि कबीरदास योगिक क्रियाओंको भी बाह्याचार ही मानते थे।"[4] दूसरी ओर वे कबीरके निर्गुण रामको एकदम योगियोंके 'शिव' (समतत्व) से अभिन्न मान लेते हैं।[5] योगियोंके 'द्वैताद्वैत विलक्षण समतत्त्व-वाद' में भक्तिका तत्त्व नहीं है। तुलसीने गोरखनाथको 'भक्तिको भगानेवाला' माना है। कबीरने भक्ति-तत्त्व वैष्णवोंकी परम्परासे (रामानन्दसे) प्राप्त किया है। ऐसी स्थितिमें उनके आराध्यको भी रामानन्दकी

---

[1] हिन्दी काव्यमें निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ११५, [हिन्दी संस्करण]।

[2] 'रामसे उनका तात्पर्य निर्गुण ब्रह्मसे है'।

—कबीर ग्रन्थावलीकी भूमिका, पृष्ठ ३३।

[3] 'कबीर', डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १२६।

[4] 'कबीर', डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ९३।

[5] 'कबीर', डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ३२।

एतद्विषयक मान्यताओंके अनुकूल होना चाहिए।[1] यदि यह कहा जाय कि प्रारम्भमें कबीरदास योगियोंसे प्रभावित थे बादको रामानन्दसे हुए। (जैसा कि डॉ० द्विवेदीने कहा भी है) तो उनके दो राम होने चाहिए। यदि यह माना जाय कि कबीरदासजीने प्रेमका तत्त्व सूफियोंसे प्राप्त किया था [सूफियोंका प्रभाव आजतक किसीने अस्वीकार नहीं किया है] तो यह भी सम्भव है कि उन्होंने प्रेमके आस्पदको भी वहींसे लिया हो[2]। उनकी रचनाओंसे कहीं-कहीं इसका संकेत भी मिलता है? स्वयं कबीरका तो कहना है कि मुझे गुरु-द्वारा तत्त्व-ज्ञान प्राप्त हुआ था किन्तु मैंने मूलको विस्तृत अनुभवके बलपर परखकर ग्रहण किया है।[3] अन्यत्र भी उन्होंने 'जगभव'का गावना क्या गावै अनुभव गावै सो रागी है' या 'करत विचार, मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया' कहकर अनुभव ज्ञानको अधिक महत्त्व दिया है। अपने अनुभवके बलपर कबीरने जिस रामको समझा था वह 'अलख', 'निरंजन', 'निरभै', 'निराकार', 'रूप-रेखासे परे', 'बरन-अबरनसे मुक्त', 'आदि मध्य अंत रहित', 'अकथ्य' 'सृष्टि और लयसे परे' है। वह जैसा है तैसा ही है। वाणीके माध्यमसे जैसा व्यक्त किया जाता है वैसा वह नहीं है।[4] जब पवन, पानी, सृष्टि, पिण्ड, धरती, आकाश, कली, फूल, गर्भ, मूल, शब्द, स्वाद, विद्या, वाद, गुरु, शिष्य, आदि कोई भी नहीं था उस समय जो अविगत तत्त्व विद्यमान था उसकी गति कैसे कही जा सकती है।[5] यह अविगत तो निराधार है। इसका वार-पार नहीं जाना जा सकता। यह लोक-वेद और संसारसे परे है। इसका न रूप है न रेखा न गुण न वेश (बाना)। न तो वह युवा है न वृद्ध न बालक! ऐसा राम

---

[1] रामानन्दजीकी संस्कृत रचनाओंमें—'वैष्णवमताब्जभास्कर', 'रामार्चनपद्धति'—में सगुण भक्तिका निरूपण किया गया है।

[2] अला एकै नूर उपाया, ताकी कैसी निन्दा,
ता नूर थैं सब जग कीया कौन भला कौन मंदा।
—ग्रन्थावली, पद, ५१।

[3] सत गुर तत कह्यौ विचार, मूल गह्यौ अनभै विस्तार।
—ग्रन्थावली, पद, ३८६।

[4] ग्रन्थावली, अष्टपदी रमैणी, पृष्ठ, २३०।

[5] ग्रन्थावली, रमैणी, पृष्ठ, २३८।

सर्वथा पूर्ण है। उसका निरूपण नहीं किया जा सकता।[1] अपनी साखियों में भी कबीरने यही कहा है कि यदि मैं उसे भारी कहता हूँ तो डरता हूँ (यह सोचकर कि सत्य नहीं कह रहा हूँ)। और हलका कहता हूँ तो झूठा सिद्ध होता हूँ। जिसको कभी स्थूल नेत्रों से नहीं देखा उसे कैसे जान सकता हूँ ![2] यदि देखा भी है तो व्यक्त कैसे करूँ क्योंकि मेरे कहे का कोई विश्वास ही नहीं करता। हरि जैसा है वैसा ही रहै। मैं तो (कबीर) प्रसन्नता-पूर्वक उसके गुण गाता हूँ। कबीर ने अपने रामको निर्गुण-सगुणसे परे अवश्य माना है[3] किन्तु उनके लिए निर्गुण-सगुणसे परेका अर्थ 'समतत्त्व' ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने 'शिव' और 'शक्ति' तत्त्वके उपासकों और शरीरमें विभूति लगानेवाले जटाधारी साधुओं (सम्भवतः योगियों) की निन्दा की है।[4] ऐसी स्थितिमें उनके दार्शनिक सिद्धान्तको ज्योंका त्यों ग्रहण कर लेना स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। पं० परशुराम चतुर्वेदीका तो निश्चित मत है कि 'कबीर साहबकी विचार-पद्धतिकी भित्ति स्वानुभूतिपर ही खड़ी है।'[5] उनके राम तो निर्गुण-सगुणसे ही नहीं समस्त संसारसे और जो कुछ वाणीके माध्यमसे कहा गया है या कहा जा सकता है उस सबसे परे हैं। उसके लिए यदि शब्द है तो एक—पूर्ण। थहाते-थहाते थक जानेपर कबीरने यही कहा था—"तूँ पूरा रहिमान"।[6]

निष्कर्ष रूपमें यह कहा जा सकता है कि कबीर अपने रामको 'निरपेक्ष' सत्यके रूपमें अनुभव करते थे और उसे अनिवर्चनीय मानते थे। उसे अनेक नामोंसे अभिहित करनेका अर्थ यही है कि वह तत्वतः सभी नामोंसे परे है।

(ङ) भाषा और शैली साम्य—बौद्ध-सिद्धों और नाथ-योगियोंकी विचार-धाराके साथ ही उनकी भाषा और शैलीका प्रभाव भी कबीरपर कम नहीं पड़ा

---

१. ग्रन्थावली, पृष्ठ, २४२।

२. ग्रन्थावली, जर्णा कौ अंग, साखी १, पृष्ठ, १७।

३. निर्गुण सर्गुण ते परे तहाँ हमरो ध्यान। —ग्रन्थावली।

४. ग्रन्थावली, पद ३८०, पृष्ठ ११४।

५. उत्तरी भारतकी संत परम्परा, पृष्ठ १८८।

६. ग्रन्थावली, पृष्ठ १७, साखी २ [लाँबि कौ अंग]।

है। कहीं-कहीं तो कबीरने सिद्धों और नाथोंके वाक्योंको प्रायः ज्योंका त्यों स्वीकार कर लिया है। उदाहरणके लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

सिद्ध सरहपा—जहि मण पवण ण संचरइ, रबि ससि णाह पवेस।
तहि वढ़! चित्त विसाम करु, सरहें कहिअ उएस[1] ॥

कबीर—जिहि बन सीह न संचरै, पंषि उड़े नहीं जाइ।
रैनि दिवस का गमि नहीं, तहाँ कबीर रह्या ल्यौ लाइ[2] ॥

सिद्ध सरहपा—पंडिअ सअल सत्थ वक्खाणइ।
देहहिं बुद्ध बसन्त ण जाणइ ॥[3]

कबीर—पढ़ि पढ़ि पंडित वेद बषांणै।
भीतरि हूती बसत न जांणै ॥[4]

सिद्ध तंतिपा (टेंटणपा)—बरुद बिआअरु गविआ बाँझे।
पिटहु दुहिअइ ए तिनो साँझे ॥

× × ×

निति सिआला सिंहे सम जूझअ।
टेण्टण पाएर गीत विरले बूझअ ॥[5]

कबीर—बैल बियाइ गाइ भई बाँझ।
बछरा दूहै तीन्यूँ साँझ ॥

× × ×

नित उठि स्याल स्यंघ सूँ झूझै।
कहै कबीर कोइ विरला बूझै ॥[6]

---

[1] देखिये 'हिन्दीके विकासमें अपभ्रंशका योग', परिशिष्ट [अपभ्रंश दोहा-संग्रह] दोहा, ४।

[2] ग्रन्थावली, पृष्ठ १८ साखी, १।

[3] हिन्दी-काव्यधारा, पृष्ठ १०, छंद ६८।

[4] कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२, पद ४२।

[5] हिन्दी-काव्य-धारा, पृष्ठ १६४, पद ३३।

[6] कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ११३, पद, ८०।

गोरक्षपा (गोरखनाथ)—नीझर झरणैं अमीरस पीवणां षट दल बेध्या जाइ।
चंद बिहूंणां चंदिणां तहाँ देष्या श्री गोरष राइ॥[1]

कबीर—मन लागा उनमन्न सौं गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चंद बिहूँणां चांदिणां तहाँ अलख निरंजन राइ॥[2]

गोरक्षपा (गोरखनाथ)—हिन्दू आष रांम कौं मुसलमान षुदाइ।
जोगी आष अलष कौं, तहाँ राम अछै न षुदाई॥[3]

कबीर—हिन्दू मूये रांम कहि, मुसलमान खुदाइ।
कहै कबीर सो जीवता, दुह मैं कदे न जाइ॥[4]

इस प्रकारकी अन्य पंक्तियाँ भी उद्धृतकी जा सकती हैं। सिद्धों और नाथोंके अतिरिक्त जैन मुनियोंकी शब्दावली भी कहीं-कहीं कबीरकी साखियों और पदावलियोंमें मिल जाती हैं। इस प्रकार के प्रयोगोंका अच्छा अध्ययन पंडित परशुराम चतुर्वेदीने 'कबीर साहित्यकी परख'के दूसरे अध्याय—कबीर साहब और पूर्ववर्ती कवियोंकी रचनायें—के अन्तर्गत किया है। इससे कबीरका सिद्धों और नाथोंसे सीधा सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। कबीरकी शैली भी वही 'साखी' और 'सबदी' (दोहे और गेय पद) की मुक्तक शैली है जिसका प्रयोग सिद्धों और नाथोंने किया था। कबीरका भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण भी वही था जो नाथों और सिद्धोंका क्योंकि दोनों ही जन-भाषाके समर्थक और पोषक थे। दोनोंमें अंतर व्यक्तित्व-भेदसे उत्पन्न होनेवाली ओजस्वितामें है। कबीरमें आत्मविश्वासकी मात्रा उस सीमातक पहुँची हुई थी जहाँ वे समस्त संसारकी उपेक्षा करके भी मुसकरा सकते थे। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीके शब्दोंमें "सच पूछा जाय तो आजतक हिन्दीमें ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य लेखक पैदा ही नहीं हुआ। उनकी साफ चोट करनेवाली भाषा, बिना कहे भी सब कुछ कह देनेवाली शैली और अत्यन्त सादी किन्तु अत्यन्त तेज प्रकाशन-भंगी अनन्य-साधारण

---

१. गोरखबानी, पृष्ठ ५८, सबदी १७१।

२. कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १३, साखी १५ [परचा कौ अंग]।

३. गोरखबानी, पृष्ठ २५, सबदी, ६९।

४. कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ५४, साखी, ७।

है।"[१] सचमुच पंडितोंके गढ़ (काशी) में बैठकर 'संसकीरत है कूप-जल भाषा बहता नीर'की व्यवस्था देना कबीरका ही काम था।

वैष्णव भक्ति और कबीर

कबीरका वैष्णव भक्तिसे प्रभावित होना सभीको मान्य है। स्वयं कबीरने यदि किसीके प्रति आभार, उदारता, स्नेह या स्वीकृति प्रदर्शित की है तो वह वैष्णवोंके प्रति ही[२]। आचार्य शुक्लने उनका वैष्णवोंके अहिंसावाद और प्रपत्तिवादसे प्रभावित होना स्वीकार किया है।[३] भण्डारकर महोदयने तो निश्चित रूपसे कबीरको वैष्णव भक्ति-परम्परामें स्थान दिया है।[४] डॉ० मुंशीराम शर्माने कबीरको विशेष रूपसे वैष्णव भक्तिसे प्रभावित माना है।[५] डॉ० बड़थ्वालने विश्वासपूर्वक लिखा है—"रामानन्दने अपने शिष्योंको 'प्रेमाभक्ति' ही दी थी और इसीमें कबीर आदि निर्गुणी मग्न रहा करते थे।"[६] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने विचारपूर्वक निर्णय दिया है—'रामानन्दके प्रधान उपदेश अनन्य-

---

[१] कबीर, पृष्ठ, १६४।

[२] मेरे संगी दोइ जणां, एक वैष्णों एक राम।
वोहै दाता मुकति, का वो सुमिरावै नांम॥
—ग्रन्थावली, पृष्ठ ४९, साखी, ४।

× × ×

वैश्नौंकी छपरी भली, ना साषतका बड़ गांउ।
—ग्रन्थावली, पृष्ठ, ५२।

× × ×

साषत बांभण मति मति मिलै, वैसनौं मिलै चँडाल।
अंक माल दे भेटिये, मांनौ मिले गोपाल॥
—ग्रन्थावली, पृष्ठ ५३।

× × ×

'कबीर धनि ते सुन्दरी, जिनि जाया बैसनौं पूत'।
—वही, पृष्ठ ५३।

[३] हिन्दी-साहित्यका इतिहास, पृष्ठ, ७७।

[४] Vaisnavism, Saivism & C. Page, 95.

[५] भक्तिका विकास, पृष्ठ ४२९।

[६] हिन्दी-काव्यमें निर्गुण सम्प्रदाय, भूमिका, पृष्ठ, [ठ]।

भक्तिको कबीरने शिरसा स्वीकार कर लिया था। बाकी तत्त्वज्ञानको उन्होंने अपने संस्कारों, रुचि और शिक्षाके अनुसार एकदम नवीन रूप दे दिया था'।[1] इसमें सन्देह नहीं कि कबीरने 'नारदी भक्ति' में मग्न होने की बात कही है[2] और 'नारदी-भक्ति' वैष्णव-भक्तिका ही प्राचीन नाम है और उसमें ग्यारह प्रकारकी आसक्तियोंमें 'कान्तासक्ति' को भी स्वीकार किया गया है किन्तु कबीरकी भक्तिमें जो प्रेमकी उत्कटता, उष्णता, और मादकता है वह रामानन्दी प्रभावका परिणाम नहीं है। रामानन्दके 'वैष्णवमताब्ज भास्कर' ग्रंथके साक्ष्यपर यह कहा जाता है कि उन्होंने ईश्वर-जीवके भागवत सम्बन्धोंमें 'भार्याभर्तृत्व' सम्बन्धको भी विहित मानकर माधुर्य भावकी रामोपासना का मार्ग प्रशस्त कर दिया।[3] रामानन्दजीने 'भार्याभर्तृत्व सम्बन्ध' को माधुर्य भावकी रामोपासनाका मार्ग प्रशस्त करनेके लिए नहीं स्वीकार किया वरन् कृष्णभक्तोंमें प्रचलित राधा-कृष्णके मधुर सम्बन्धों—कान्तासक्ति—को राम-भक्तिमें आत्मसात् करके उसे अपेक्षाकृत पूर्ण और युग-सम्मत बनानेके लिए स्वीकार किया। दोनों दृष्टिकोणोंमें सूक्ष्म-भेद है। हम किसी सिद्धान्तको प्रचारित करनेके लिए निरूपित करें, यह और बात है और हम किसी प्रचलित सिद्धान्तको अपनी व्यवस्थामें भी स्थान दे दें यह दूसरी बात है। रामानन्दजीने सीता और रामकी मर्यादित भक्तिका ही प्रचार किया था।[4] 'नारदी भक्ति' और 'रामानन्दी भक्ति'में स्वीकृत मधुर-भावनाका प्रभाव स्वीकार कर लेनेपर भी कबीरकी भक्ति उनके मेलमें नहीं रखी जा सकती। उपर्युक्त दोनों भक्ति-सिद्धान्त सगुणाश्रयी हैं। कबीरका उत्कट प्रेम निरपेक्षके प्रति है। इसके अतिरिक्त कबीरने जिस रूपमें अपनी विरहानुभूति

---

१. कबीर, पृष्ठ ९८।

२. भगति नारदी मगन सरीरा, इहिविधि भवतिरि कहै कबीरा।
—ग्रन्था० पृष्ठ १८३, पद २७८।

३. 'रामभक्तिमें रसिक भावना', डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह, पृष्ठ ८२।

४. "And a third very important reform made by him was the introduction of the purer and more chaste worship of Rama and Sita instead of that of Kisna and Radha."
—*Vaisnavism, Saivism & C.*, p. 94.

व्यक्त की है वह सूफियोंके अधिक निकट है। इस संबन्धमें कबीर और जायसी की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं।

कबीर—यह तन जालौं मसि करौं लिखौं राम का नाउं।
लेखणि करुं करंक की लिखि लिखि राम पठाउँ ॥[१]

जायसी—यह तन जारौं छारकै करौं कि पवन उड़ाउ।
मकु तेहि मारग होइ परौं कंत धरै जहँ पाउ ॥[२]

कबीर—यह तन जालौं मसि करुँ, ज्यूँ धूवाँ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करै, वरसि बुझावै अग्गि ॥[३]

जायसी—पिय सौं कहेहु सँदेसरा हे भँवरा हे काग।
सो धनि विरहें जरि मुई तेहिक धुआँ हम लाग ॥[४]

कबीर—विरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजे घाव।
साधू अंग न मोड़ही ज्यूँ भावै त्यूँ खाव ॥[५]

जायसी—विरह हस्ति तन सालै खाइ करै तन चूर।
बेगि आइ पिय बाजहु गाजहु होइ सदूर ॥[६]

कबीर—राम बिवोगी ना जिवै, जिवै त बौरा होइ।[७]

जायसी—जौं भा चेत उठा बैरागा। बाउर जनहुँ सोइ अस जागा ॥[८]

कबीर—बिन रोयाँ क्यूँ पाइए, प्रेम पियारा मित्त।[९]

जायसी—एहि रे पंथ सो पहुँचै सहै जो दुक्ख बियोग।[१०]

प्रेमाभक्ति में विरहको यह महत्त्व रामानन्दकी परम्परामें नहीं दिया गया है।

---

[१] ग्रन्थावली, पृष्ठ ८, साखी १२।

[२] पद्मावत, ३५२, १२।

[३] ग्रन्थावली, पृष्ठ ८, साखी ११।

[४] पद्मावत, ३४९, ९।

[५] ग्रन्थावली, पृष्ठ, ९, साखी १९।

[६] पद्मावत, ३४७, ७।

[७] ग्रन्थावली, पृष्ठ ९, साखी १८।

[८] पद्मावत, १२१, १।

[९] ग्रन्थावली, पृष्ठ ९, साखी २७।

[१०] पद्मावत, १२२, ४।

ऐसा लगता है कि कबीर ने वैष्णव भक्तिसे अहिंसा, समर्पण (प्रपन्नता) और अनन्यताकी भावना ग्रहण की थी किन्तु अव्यक्तके प्रति प्रगाढ़ प्रेम और तन-मन दाहकविरह सूफियोंसे ही ग्रहण किया था, नहीं तो वे 'विरह'को 'सुलितान' न बनाते ।[१] जायसीने स्वयं कबीरका महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा है—

ना-नारद तब रोइ पुकारा । एक जोलाहे सौं मैं हारा ॥
प्रेम-तंतु निति ताना तनई । जप तप साधि सैकरा भरई ॥

कबीरका यह 'प्रेम-तंतु' जायसीके अनुकूल न होता तो वे उसकी प्रशंसा न करते । कबीरकी भक्तिमें नारद भक्ति-सूत्रमें निरूपित ग्यारह प्रकारकी आसक्तियाँ भी मिल जाती हैं ।[२] किन्तु 'नारदीभक्ति'में यह आसक्तियाँ सगुण भगवान्के प्रति दिखाई गई हैं जब कि कबीरका स्वामी 'अलख' और 'अरूप' है । यों तो भगवान्के प्रति प्रेम-प्रदर्शनमें इस प्रकारकी आसक्तियाँ कहीं भी स्वयमेव आ सकती हैं । ध्यान रखना होगा कि कबीरने वैष्णवोंको भी पूर्णतः स्वीकार नहीं किया है । वे कहते हैं—

वैष्णव हुआ त क्या भया माला मेली चारि ।
बाहर कंचनवा रहा भीतरि भरी भँगारि ॥[३]

प्रकट है कि वैष्णव-भक्तोंमें भी उन्हें कपटाचारी दृष्टिगत हुए थे और उनका भी उन्होंने विरोध किया था ।

सूफी प्रेम-तत्त्व और कबीर

कबीरके आविर्भावके पूर्व भारत भूमिमें सूफी सम्प्रदायोंका प्रवेश हो चुका था । ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (सन् ११४२-१२३६) ने सन् ११९२ में चिश्ती सम्प्रदायको भारत-भूमिमें प्रतिष्ठित कर दिया था ।[४] ऐसी स्थितिमें कबीरका सूफी प्रेम-पद्धतिसे प्रभावित होना असम्भव नहीं है ।[५] कबीरने भी प्रेमके प्यालेको

---

[१] ग्रन्थावली, पृष्ठ ९, साखी, २१ ।

[२] कबीरकी विचारधारा, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, पृष्ठ ३०९, १० द्वितीय संस्करण ।

[३] ग्रन्थावली, (परिशिष्ट) साखी, १३८ ।

[४] हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ३०४ ।

[५] वेस्कॉट महोदयने (G. H. Westcott) विस्तार पूर्वक विचार करनेके बाद निर्णय

छककर पिया था।[१] सूफी सन्तोंसे उनके सत्संगकी बात तो लोक-परम्परामें प्रचलित भी है। किन्तु कबीरने इस प्रेम-तत्त्वको भी अपने अनुभवकी कसौटीपर कसकर (अपने ढंगसे) ग्रहण किया था। सूफी-साधक प्रेम-साधनाके बलसे नासूत (मनुष्यत्व) का लाहूत (ईश्वरत्व) में 'हल' हो जाना स्वीकार करते हैं किन्तु यह 'हुलूल' की स्थिति 'हाल' की अवस्थातक ही सीमित रहती है। 'हाल दशा' के व्यतीत हो जानेपर यह अद्वैतता समाप्त हो जाती है। कबीर भी प्रेम-बलसे अपने स्वामीसे 'एकमेक' हो जाते हैं किन्तु कुछ क्षणोंके लिए नहीं सदा-सदाके लिए।[२] कबीरकी प्रगाढ़-प्रेम-जनित अद्वैतता क्षणिक आवेशका परिणाम नहीं है। उनका प्रेम शाश्वत है। उनकी भावना एकरस है। कबीरके समयतक सूफियोंमें भी अनेक प्रकारके बाह्याचार आ गए थे। इसीलिए उन्होंने 'मुरीद' और 'पीर' को भी चेतावनी दी थी—

पीरां मुरीदां काजियां, मुला अरु दरवेस।
कहा थें तुम्ह किनि कीये अकलि है सब नेस॥[३]

सूफियोंसे कबीरका पार्थक्य एक अन्य दृष्टिसे भी है। सूफी 'साध्य' को प्रियतमाके रूपमें देखते हैं और स्त्री-सौन्दर्यमें उसकी भावना कर लेते हैं; कबीर स्वयंको स्त्री-रूपमें कल्पित करते हैं और साध्यको पुरुष रूपमें देखते हैं। यह प्रतीक उन्हें योगियोंकी परम्परासे प्राप्त हुआ था। योगियोंके अनुसार यह सम्पूर्ण व्यक्त प्रकृति

दिया है—"We have probably written enough to show that it is not impossible that Kabir should have been both a Muhammadan and a Sufi."

—*Kabir and the Kabir Panth*, p. 27.

[१] कबीर प्यालै प्रेम कै भरि-भरि पिवै रसाल। —ग्रन्थावली, पृष्ठ २६, साखी, ४९।

[२] अब तोहि जान न देहूँ राम पियारे।
ज्यूँ भावै त्यूँ होइ हमारे॥
× × ×
इत मन मंदिर रहौ नित चोषै, कहै कबीर परहु मति धोषै॥
—ग्रन्थावली, पृष्ठ ८७, पद ३।

[३] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७५, पद, २५७।

शक्ति-रूपा है। अद्वैतावस्थामें 'शक्ति' शिवसे मिलकर एक हो जाती है। बौद्धोंने इसी अद्वैत अवस्थाको 'प्रज्ञा' और 'उपाय' के मिलनमें अनुभव किया था। व्यावहारिक स्तरपर 'उपाय' और 'प्रज्ञा' को पुरुष और स्त्रीके रूपमें कल्पित किया जा सकता है। दोनोंकी युगनद्ध अवस्थामें उत्पन्न होनेवाले परम आनन्द की स्थितिमें ही निरपेक्ष सत्यकी अनुभूति की जा सकती है।[१] कबीरने अपने प्रियतमसे मिलकर इसी निरपेक्ष सत्यका अनुभव किया था। कबीरकी आत्मा इसी अद्वैतताके लिए तड़पती रही है। ऐसी ही तड़पन उन्हें सूफियोंके भुवन-व्यापी विरहमें भी दिखाई पड़ी थी। बस, इसी बिन्दुपर वे सूफियोंके साथ थे।

इसलामी एकेश्वरवाद और कबीर

कबीरके इसलामी एकेश्वरवादसे प्रभावित होनेकी बात भी कही जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि कबीरने—'दुई जगदीस कहाँ ते आए कहु कौने भरमाया' कहकर अल्ला, राम, करीम, केशव तथा हरि और हजरतकी एकताका प्रतिपादन किया है।[२] किन्तु कबीरके एक ईश्वरकी मान्यता और इसलामी एकेश्वर सम्बन्धी विचारधारामें मौलिक अन्तर है। मुसलमानोंके एकेश्वर सम्बन्धी विचारका सार रूप इस कथनमें आ गया है—'ला इलाहे इल्लिल्लाह मुहम्मदर्रसूल्लिल्लाह'। अर्थात् 'अल्लाहका कोई अल्लाह नहीं, वह एकमात्र परमेश्वर है और मुहम्मद उसका रसूल है।' कुरान निरूपित इस अल्लाहकी शक्ति असीम है। वह सब कुछ करनेमें समर्थ है। वह कृपा करके अपने रसूलोंको भेजता है जो जनताको उचित मार्गपर ले चलते हैं। अल्लाह नहीं चाहता कि कोई और उसकी समता

---

[१] The principles of Siva & Sakti or Upaya and Prajna are represented by man and woman, and it is, therefore, that when through the process of Sadhana man and woman can realise their pure nature as Siva and Sakti or Upaya and Prajna, the supreme bliss arising out of the union of the two becomes the highest state where by one can realise the ultimte nature of the absolute reality.

—*Obscure Religious Cults*, p. 139.

[२] हिन्दी काव्यमें निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ९५।

कर सके। 'वह उन शूर-वीरोंके लिए सुख-सदन बनाता हूरोंका प्रबन्ध करता, भोग-विलासका विधान करता जो उसके लिए मरते-मरते, जीते-जागते उसीकी उपासनामें लगे रहते हैं और कभी किसी दूसरेको नहीं भजते।'[१] कहना न होगा कि विहिस्तका यह अल्लाह धरतीका शाहंशाह ही है। कबीर बेचारा भला ऐसी जगह कैसे पहुँच सकता था। वह कहता है—

तहाँ मुझ गरीब को को गुदरावै,
मजलसि दूरि महल को पावै।
सतरि सहस सलार है जाके, असी लाख पैकम्बर ताकै।
सेख जु कहिय सहस अठ्यासी, छपन कोड़ि खेलिबे खासी॥[२]

कबीर जिस एक 'अल्लाह'की बात करते हैं वह तो निरंजन है।[३] वह सर्वव्यापी है। घट-घटमें रम रहा है। मुसलमानोंका खुदा तो इस अर्थमें एक है कि उसके समान शक्ति सम्पन्न कोई दूसरा देवता नहीं है। कबीरका स्वामी एक होते हुए भी सबमें व्याप्त है।[४] वह इस अर्थमें एक है कि उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। आँखोंके सामने फैला हुआ यह सारा पसार उससे अभिन्न है।[५] कुरानमें अल्लाहका विशद वर्णन उनके साकार रूपको सामने उपस्थित कर देता है।[६] कदाचित् इसीलिए कबीरको कहना पड़ा कि—'पूजा करूँ न निमाज गुजारूँ,

---

१. तसव्वुफ अथवा सूफ़ीमत, पृष्ठ, ६५।

२. ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२, पद ३३९।

३. एक निरंजन अलह मेरा, हिन्दू तुरक दहूँ नहीं नेरा।
—ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२, पद ३३८।

४. मुसलमान कहै एक खुदाई,
कबीरा कौ स्वांमी घटि-घटि रह्यौ समाई।
—ग्रन्थावली, पृष्ठ, २००, पद ३३१।

५. हम सब मांहि सकल हम मांही
हम थै और दूसरा नाहीं।
तीनि लोक मैं हमारा पसारा।
आवागमन सब खेल हमारा।
—ग्रन्थावली, पृष्ठ २००, पद ३३२।

६. तसव्वुफ अथवा सूफी मत, पृष्ठ, ६४।

एक निराकार हिरदै नमसकारूँ ।[१] प्रकट है कि इसलामी एकेश्वरवाद और कबीरके 'एकेश्वर'में स्पष्ट किन्तु सूक्ष्म भेद है ।

कबीर और सन्तमतको प्रभावित करनेवाले अन्य सम्प्रदाय

उपर्युक्त धार्मिक मतोंके अतिरिक्त दो अन्य मतोंसे भी कबीर साहब और निर्गुण सन्त मतका प्रभावित होना बताया जाता है । एक है 'कश्मीरी शैवमत' और दूसरा है दक्षिणमें पंढरपुरके आस-पास प्रचलित 'वारकरी सम्प्रदाय' इन मतोंसे कबीरका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं माना जा सकता । हाँ, किसी न किसी रूप में प्रभावित होनेकी बात दूसरी है । **कश्मीर-शैव मतमें** ऐसी दो मान्यतायें हैं जो सन्तोंकी विचारधाराके अनूकूल पड़ती हैं । एक है, अद्वैतमें द्वैत या निर्गुणमें भी सगुणका आरोप और दूसरी है परमेश्वरमें कर्तृत्व शक्तिका होना अर्थात् मायाका आधार लिए बिना निजेच्छया सृष्टि रचनेकी शक्ति।[२] इसे 'ईश्वराद्वयवाद' 'आभासवाद' और 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' भी कहते हैं । 'प्रत्यभिज्ञा'से तात्पर्य है ज्ञात वस्तुको फिरसे जानना । 'जिस अद्वय ईश्वरका ज्ञान उसे अस्पष्ट रूपमें रहता है गुरुकी कृपासे उसे पूर्णतः जानकर साधक आनन्द-विह्वल हो जाता है ।[३] इस मतमें ज्ञानके उपरान्त भक्तिको आनन्दकी अनुभूतिके लिए स्वीकार किया जाता है । यह भक्ति 'अद्वैत भावापन्न' है । कबीरने भी अपने 'आतम राम'को पहचानकर उनसे प्रगाढ़ प्रीति की थी । उन्होंने ज्ञानकी आँधीमें 'भ्रम', 'मोह', 'द्विविधा', 'त्रिष्णा' और 'कुबुद्धि'के उड़ जानेपर हरिके प्रेम-जलसे स्नान किया था ।[४] कबीरने अपने साहबको स्वेच्छया सृष्टि करनेवाला भी माना है । 'जिमि नटवै नटसारी साजी, जो खेलै सो दीसै बाजी'[५] या 'नट बहुरूप खेलै सब जांनैं, कला केर गुन

---

[१] ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२, पद, ३३८ ।

[२] God is according to them independent and creates merely by the force of his will all that comes into existence.
—*Vaisnavism, Saivism & C*, p. 184

[३] उत्तरी भारतकी सन्त-परम्परा, पृष्ठ, ८७ ।

[४] ग्रन्थावली, पृष्ठ, ९३, पद, १६ ।

[५] वही, पृष्ठ २२७, रमैनी, २ ।

ठाकुर मानैं"[१] कहकर उन्होंने इसी सत्यकी अभिव्यक्ति की है। किन्तु इन कथनों और उद्‌गारोंके लिए उनका कश्मीरी शैव सिद्धान्तसे प्रत्यक्ष प्रभावित होना आवश्यक नहीं प्रतीत होता। **वारकरी सम्प्रदाय** वैष्णव-भक्ति सम्प्रदाय है जिसके प्रवर्तक सन्त ज्ञानेश्वर (१२७५-१२९६ ई०) माने जाते हैं। नामदेव और तुकाराम जैसे संत इसी सम्प्रदायमें हुए थे। इनके आराध्यदेव विट्ठल भगवान् हैं। कबीरने न केवल इन सन्तोंका नाम लिया है वरन् अपने आराध्यदेवके अनेक नामोंमें 'बीठुला' का नाम भी लिया है। इस सम्प्रदायकी भक्ति भी अद्वैत भावकी है और इसमें भी योग-साधनाका महत्त्वपूर्ण स्थान है।[२] अवतारवाद और मूर्तिपूजाकी व्यर्थता[३], ब्रह्मकी निरपेक्षता, सर्वव्यापकता और अनिर्वचनीयता[४], जातिगत उच्चताकी निस्सारता[५], साधक और साध्यमें

---

[१] वही, पृष्ठ २२९, रमैनी (अष्टपद)।

[२] मराठीके प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर और उनके अग्रज निवृत्तिनाथ नाथ-विचारधारासे प्रभावित थे और उन्हे सीधे गोरखनाथकी परम्परामें रखा जा सकता है।

—दक्खिनीका पद्य और गद्य, पृष्ठ, २१ (निवेदन)।

[३] देउलके पीछे नामा अलख पुकारे।
जिदर जिदर नामा उदर देउल ही फीरे॥

—नामदेव, दक्खिनी हिन्दीका पद्य और गद्य, पृष्ठ, १८।

× × ×

तीरथ वरथ करे असनान; नहिं नहिं हरि नाम समान।

—वही, पृष्ठ १६, पद, २।

[४] सिवियले गोपालराय अलक निरंजन
भक्ति दान दिये जाके सन्तजन॥

—वही, पृष्ठ, २९, पद २०।

× × ×

दह दिसीं राम रह्या भर पूरी, संतत नियरे झाकत दूरी।

—वही, पृष्ठ २८, पद १८।

× × ×

अकथ कथ्यो न जाई कागदी लिख्यो न भाई, सकल भुवन पति मिल्यो सहज भाई।

—वही, पृष्ठ २४, पद, १०।

[५] नाना वर्ण गवा उनका एक वर्ण दूध।
तुम कहाँके बह्मन हम कहाँके सूद।

—नामदेव—दक्खिनीका पद्य और गद्य, पृष्ठ, १८।

रागात्मक सम्बन्धकी कल्पना[१] आदि ऐसी अनेक बातें हैं जो 'वारकरी' सम्प्रदायमें मान्य हैं और कबीर में भी पाई जाती हैं। सन्त ज्ञानेश्वरने भक्तके वास्तविक रूपको स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'जिस प्रकार आकाशसे गिरनेवाली बूँद पृथ्वीके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं जा सकती, जिस प्रकार गंगा अपने सम्पूर्ण जल-प्रवाहके साथ समुद्रमें ही विलीन होती है, उसी प्रकार सच्चा भक्त अपने सम्पूर्ण प्रेमके साथ साध्यके स्वरूपमें विलीन होकर उससे अभिन्न हो जाता है। जिस प्रकार दुग्धका समुद्र तटसे लेकर अपने सम्पूर्ण विस्तारमें दुग्धके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसी प्रकार सच्चा भक्त विश्वके सम्पूर्ण विस्तारमें साध्यका दर्शन करते हुए सभीको अपने प्रेमका आधार बना लेता है।[२] कहना न होगा कि कबीरने भी अपने रामको सर्वत्र और सबमें देखा है और अपनेको पूर्णतः उनके व्यक्तित्वमें मिला देनेकी कामना प्रकट की है। इन सब समानताओंके होते हुए भी कबीर वारकरी सन्तोंसे भिन्न हैं। वारकरी सम्प्रदायके सन्तोंने ज्ञानमूलक अद्वैतपरक भक्तिके लिए सगुण उपासनाको भी साधन रूपमें स्वीकार किया है किन्तु कबीर ऐसा नहीं मानते। वारकरी सम्प्रदाय के भक्तोंने आराध्यके गुणगानके लिए कीर्तन-पद्धतिको भी स्वीकार किया है

---

[१] कामी पुरखा कामिनी प्यारी। ऐसे नामा प्रीत मुरारी।
× × ×
जैसी प्रीत बालक अर माता। तैसा हर सेती मन राता।
—वही, पृष्ठ ४४।

[२] As the rain that droppeth from above knows no other place except the earth to fall upon, or as the Ganges with all the wealth of her waters searches the ocean and meets it over and over again; similarly the true devotee with all the riches of his emotions, and with un abated love enters into My being, and becomes one with me. As the ocean of milk is milk allover, whether on the shore or in the middle of the sea, similarly he should see as the supreme object of his love, from the ant onwards through all existences

—*Mysticism in Maharastra*, p. 112.

जिसे कबीर एक प्रकारका बाह्याचार ही मानते थे । तभी तो उन्होंने कहा था—

सनक सनंदन जैदेव नामा भगति करी मन उनहुं न जाना ।[1]

इस पंक्तिमें 'नामा' से तात्पर्य वारकरी संत नामदेवसे ही है ।

निष्कर्ष

सत्य तो यह है कि कबीरदासने अपने पूर्ववर्ती सभी धार्मिक मतों, साधनाओं एवं दार्शनिक पद्धतियोंको व्यावहारिक स्तरपर रूढ़िग्रस्त, आडम्बरपूर्ण एवं लक्ष्य-भ्रष्ट मानकर अस्वीकार कर दिया था । उन्होंने कहा भी है—

“पंडित मुल्ला जो लिखि दीया ।
छाड़ि चले हम कछू न लीया ।”[2]

यही नहीं उन्होंने बौद्धोंको पाषंडी,[3] सिद्धोंको संशयमें पड़ा हुआ[4], योगियोंको आडम्बर-युक्त एवं भ्रमग्रस्त[5], तथा जैनियों एवं श्रावकोंको भी बाह्याचारके जालमें पड़ा हुआ माना है ।[6] कबीरके लिए राम और उनकी भक्तिके अतिरिक्त शेष सब मिथ्या है । इसीलिए वे कहते हैं—

भाव भगति बिसवास बिन कटै न संसै सूल ।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मूकति नहीं रे मूल ।।
—ग्रंथा० पृष्ठ, २४५ ।

कबीरका सामाजिक दृष्टिकोण

कबीर का सामाजिक दृष्टिकोण ध्वंसात्मक अधिक था, सृजनात्मक कम ।

---

१. ग्रन्थावली, पृष्ठ, ९९, पद, ३३ ।

२. ग्रन्थावली, परिशिष्ट, पद २७, पृष्ठ २७२ ।

३. “जैन बोध अरु साकत सैंना चारबाक चतुरंग बिहूँना”, ग्रन्थावली, पृष्ठ, २४० ।

४. 'षट दरसन संसै पड़्या, अरु चौरासी सिद्ध', ग्रन्थावली, पृष्ठ ५४, साखी, ११ ।

५. डंडा मुंद्रा खिंथा आधारी । भ्रम कै भाई भवै भेषधारी ।
आसन पवन दूरि करि बवरे । छोड़ि कपट नित हरि भज बवरे ।
—ग्रन्थावली, परिशिष्ट, पृ० २९५ ।

६. जैन जीवकी सुधि न जानैं । पाती तोरि देहुरे आनैं ।
ताकी हत्या होई अद्भूता । षट दरसन मैं जैन बिगूता ।
—ग्रन्थावली, पृष्ठ, २४० ।

उनकी दृष्टि लोक-व्यवहारपर टिकी हुई थी। उन्होंने 'आँखों देखी' पर विश्वास किया 'कागदकी लेखी' पर नहीं। ऐसी स्थितिमें स्वाभाविक था कि उन्हें सारा संसार पथ-भ्रष्ट प्रतीत हो। उनके समयमें सामाजिक स्तरपर भेद-भाव बहुत बढ़ गया था। कबीरके बहुत बाद तुलसी जैसे वर्ण-व्यवस्थाके समर्थक ब्राह्मणको भी जातिगत उच्चता और नीचताके प्रश्नपर अपमानित होकर चीखना पड़ा था—"धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ। काहूकी बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहूको जाति बिगार न सोऊ॥"[1] फिर कबीर बिचारे तो शूद्रोंके ही प्रतिनिधि थे, उन्हें क्या-क्या न भुगतना पड़ा होगा। लेकिन उनकी बुद्धिमें यह भेद-भाव धँसता नहीं था। जब सभीकी उत्पत्ति एक ही ब्रह्मसे हुई है तो ब्राह्मण और शूद्रका भेद क्यों ?[2] मानवीय स्तरपर सभी समान हैं। ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू, मुसलमान, पण्डित, मुल्ला, योगी-सिद्ध, बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, पीर, औलिया, मुरशिद, काजीका भेद किसने खड़ा किया है ? सबसे बड़ी सिद्धि तो समानताका व्यवहार करनेमें है। आत्म और परके भेदको मिटा देना ही वास्तविक निर्वाण है। यह मंदिर और मसजिद, वेद और कुरान, पूजा और नमाज, तीर्थ और हजका आडम्बर किसलिए ? क्या ईश्वर सर्वव्यापी नहीं है ? क्या वह अणु-अणुमें व्याप्त नहीं है ? यदि वह मन्दिर-मसजिदमें ही सीमित है तो शेष-संसारमें कौन रम रहा है ? क्या-क्या साधक हैं ? पण्डितको पाण्डित्यका गर्व है; जोगी अपने योग और ध्यानमें मस्त हैं, सन्यासी 'अहमेव'में ऐंठे हैं, तपस्वी तपश्चर्यामें लीन होकर मत्त हो गए हैं।[3] ऐसे ज्ञानियोंसे तो संसारी अच्छे हैं।[4] ऐसा ज्ञान जो मुक्ति नहीं बन्धनकी शिक्षा देता है, उसे लेकर क्या होगा ? फिर संसारमें धार्मिक स्तरपर ही तो भेद-भाव नहीं है, आर्थिक आधारपर भी तो असमानता विद्यमान है। जो निर्धन हैं, उनका आदर कोई नहीं करता। यदि निर्धन व्यक्ति धनीके यहाँ जाता है तो वह मुँह फेर लेता है किन्तु वही धनी

---

[1] तुलसी ग्रन्थावली, पृष्ठ २२३, कवितावली, पद, १०६।

[2] गर्भ वास महि कुल नहिं जाती। ब्रह्मबिंद ते सब उतपाती।
—ग्रन्थावली, परिशिष्ट, पद ६१।

[3] ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०२, पद १३१।

[4] भले इन ग्यांनियन थैं संसारी —ग्रन्थावली, पृष्ठ १८२, पद २७६।

जब निर्धनके यहाँ आता है तो वह आदर करता है। कौन समझावे कि धनी और निर्धन तो भाई-भाई हैं। यह तो प्रभुकी कला है जो भिन्न परिस्थितियोंमें पड़ गए हैं। वास्तविक निर्धन तो वह है जिसके हृदयमें भगवान् का नाम न हो[1]। ऐसे भेद-भाव-पूर्ण समाजको अस्वीकार कर देना ही कबीरने उचित समझा। इस ध्वंसात्मक प्रवृत्तिके बावजूद उनके मनमें कुछ निश्चित मूल्य थे जिनपर उनका अखंड विश्वास था। वे मूल्य थे—आस्तिकता (निरपेक्ष किन्तु भावात्मक तत्त्व रामके अस्तित्वमें विश्वास) प्रेम, अहिंसा और समता, मनोनिग्रह, कर्त्तव्य और विचारकी एकता, जीवनकी सहजता या आडम्बरहीनता, सत्यता, सत्संगति, सारग्राहिता और विनय। कबीरकी यही पूँजी थी। इसीके बलपर वे संसारको चुनौती देनेमें समर्थ हो सके थे। कहना न होगा कि ये शुद्ध मानवीय तत्त्व हैं। इनका समन्वित उत्कर्ष उस महामानव, दिव्य-मानव या आदर्श-मानवकी सृष्टि करता है जिसे कबीरने 'आतमराम' और चण्डीदासने 'मनेर मानुष' कहा है। कवीन्द्र रवीन्द्रने इन्हीं मूल्योंको 'मानव-धर्म' की संज्ञा दी है। इस उद्भावनाके लिए वे मध्ययुगीन संत कवियोंके ऋणी हैं। इन्हीं की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं—भारतवर्षमें ऐसे मनुष्य हुए हैं जिन्होंने मानव धर्म के विषयमें अध्ययन-पूर्ण ग्रन्थ नहीं रचे हैं किन्तु जिनमें इसकी उपलब्धिके लिए अदम्य इच्छा रही है और जिन्होंने इसके लिए सतत अभ्यास किया है। उनकी जिन्दगी प्रमाणित करती है कि उन्होंने उस व्यक्तित्व से जो सब व्यक्तियोंमें है और उस निराकार मानवत्वसे जो सभी मानव-आकृतियोंमें है नैकट्य प्राप्त किया था।[2] ध्वंसात्मक

---

१. निर्धन आदर कोई न देई। लाख जतन करै ओहु चित न धरेई।
जौ निर्धन सरधन कै जाई। आगे बैठा पीठ फिराई।
जौ सरधन निर्धन कै जाई। दीया आदर लिया बुलाई।
निर्धन सरधन दोनो भाई। प्रभुकी कला न मेटी जाई।
कहि कबीर निर्धन है सोई। जाकै हिरदे नाम न होई।

—ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०२ (परिशिष्ट)

२. "There have been men in India who never wrote learned texts about the religion of Man but had an overpowering desire and practical training for its attainment. They bore in their life the testimony of their intimacy with the Person

होते हुए कबीरकी दृष्टि उस मानव-सत्य को पहचाननेमें हमारी सहायता आज भी कर सकती है जिसके आधारपर समस्त भेदोंसे ऊपर उठकर व्यावहारिक स्तरपर सहज मानवीय धर्मकी प्रतिष्ठा की जा सकती है।

कबीरकी दृष्टिमें जीव, संसार और माया

कबीरने जीवके दो रूपोंकी ओर संकेत किया है। एक रूपमें तो वह रामका अंश है। इसलिए चेतन शुद्ध और अमर है। न इसे मनुष्य कह सकते हैं न देवता। न तो वह जोगी है न जती न अवधूत। न तो इसकी कोई माता है और न यह किसीका पुत्र है। इसे किसी भी सांसारिक नामसे अभिहित नहीं कर सकते।[1] जीवका यह नित्य रूप सामान्यतः लक्षित नहीं होता। जीवका दूसरा रूप मायाबद्ध या संसारी है। संसारके सभी जीवोंने काल, कर्म और मायाके प्रभावमें पड़कर आत्मस्वरूपको विस्मृत कर दिया है। वे अलक्ष्यको न ढूँढ़कर अन्य संसारी जीवोंमें अनुरक्त हैं।[2] इसलिए उनकी ज्वाला शमित नहीं हो पाती। ऐसे जीवको कबीर सुप्त मानते हैं और उसको उद्‌बुद्ध करते हुए कहते हैं—

जागि रे जीव जागि रे।
चोरन को डर बहुत कहत हैं, उठि उठि पहरै लागि रे।[3]

---

who is in all persons, of Man the formless in the individual forms of men."

—*The Religion of Man* by Rabindranath Tagore, p. 112.

[1] ना इहु मानसु ना इहु देव। ना इहु जती कहावै सेउ।
ना इहु जोगी ना अवधूता। ना इसु माई न काहू पूता।
× × ×
कहु कबीर इहु रामकी अंसु। जस कागदपर मिटै न मंसु।

—संत कबीर, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ १६५।

[2] जीव विलंब्या जीव सौं अलप न लपिया जाइ।
गोविन्द मिलै न झल बुझै, रही बुझाइ बुझाइ॥

—ग्रन्थावली, पृष्ठ ३५, साखी, १।

[3] ग्रन्थावली, पृष्ठ २०६, पद, ३५०।

सुप्त जीव ही कबीरकी दृष्टिमें 'हदके जीव' या भ्रमित जीव हैं।[१] जो 'हदके जीव' (ससीम जगतमें अनुरक्त संसारी जीव) हैं कबीर उनसे मुख भर बोलना भी नहीं चाहते किन्तु जो 'बेहद' (असीम ब्रह्म) में अनुरक्त हैं उनके समक्ष अपना अन्तर्मन खोलनेमें भी नहीं हिचकते।[२] कबीरके ये विचार अद्वैत-सिद्धान्तके अनुकूल हैं किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि कबीरने अद्वैत-दर्शनका सांगोपांग अध्ययन किया था। इस प्रकारकी धारणाएँ सामान्य भक्तोंके मन में भी संस्कारतः बनी रहती हैं।

कबीरने संसारको तात्त्विक दृष्टिसे निस्सार माना है। इसकी उपमा उन्होंने सेमरके फूल[३] और धूँआके धौरहरसे[४] दी है। कभी कुहराका धुन्ध[५] और कभी कागदकी पुड़िया[६] कहा है। संसारको लेकर उनके मनमें कई चित्र थे। कर्मबन्धन इसी संसारमें जीवको उलझाये रखते हैं। जब वे इस दृष्टिसे सोचते हैं तो उनको यह संसार एक हाट जैसा लगता है।[७] जिसमें हर व्यक्ति वाणिज्यमें रत है। इसी संसारमें अनेक प्रकारकी वासनाएँ हैं जो मनको बलात् अपनी ओर आकर्षित

---

[१] भरम न भागा जीवका अनन्तहि धरिया भेष।

—ग्रन्थावली, पृष्ठ ४७, साखी १९।

[२] कबीर हदके जीव सूँ हित करि मुखां न बोलि।
जे लागे बेहद सूँ तिन सूँ अंतर खोलि।

—ग्रन्थावली, पृष्ठ २६, पद ५०।

[३] यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल।
दिन दसके व्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूलि॥

—ग्रन्थावली, पृष्ठ २१, साखी १३।

[४] कबीर हरिकी भगति बिन, ध्रिग जीमणसंसार।
धूवाँ केरा धौलहर, जात न लागै बार॥

—ग्रन्थावली, पृष्ठ २३, साखी २७।

[५] राम बिना संसार धुंध कुहेरा।

—ग्रन्थावली, पृष्ठ १९५, पद, ३१७।

[६] बिनसि जाय कागदकी पुड़िया।

—ग्रन्थावली, पृष्ठ १७५, पद. ९१।

[७] यहु संसार हाट करि जानूँ सबको बणिजण आया।

—ग्रन्थावली, पृष्ठ, १६८, पद २३५।

कर लेती हैं। वासनाओंके विषसे ग्रस्त मानव आत्मोद्धार नहीं कर पाता ऐसी स्थितिमें कबीरको यह संसार विषधर नागके समान प्रतीत होता है।[1] जब कभी वे यह सोचते हैं कि मुक्त आत्माको अन्ततः साध्यके अमरलोकमें जाकर नित्य आनन्दमें मग्न होना है तब उन्हें यह संसार 'नैहर' जैसा लगता है, जहाँ यह जीवात्मा कुछ दिनोंके लिए आ गया है।[2] कबीरके एक पदमें ये सभी चित्र आ गए हैं—

भयौ रे मन पांहुनड़ो दिन चारि।
आजिक कालिहक माँहि चलैगो, ले किन हाथ सँवारि।
सौंज पराई जिनि अपणावै ऐसी सुणि किन लेह।
यहु संसार इसौ रे प्रांणी जैसो धूंवरि मेह।
तन धन जोबन अंजुरी कौ पानी, जात न लागै बार।
सैंबल के फूलन परि फूल्यौ, गरब्यौ कहा गँवार।
खोटी खाटै खरा न लीया कछू न जानीं साटि।
कहै कबीर कछू बनिज न कीयौ, आयौ थौ इहि हाटि।[3]

कबीरकी दृष्टिमें संसारके समस्त बन्धन 'माया' है। आदर, मान, विषय-रस, प्राण-मोह, जप, तप, जोग, माता, पिता, स्त्री, सुत सभी मायाके ही रूप हैं। ऐसी मायाको त्यागना आसान नहीं है। बार-बार त्यागनेका प्रयत्न करनेपर भी यह लिपटती ही जाती है। यह माया जल-थल-आकाश सबमें व्याप्त है! जहाँ इस मायाका बन्धन नहीं है, वहीं ब्रह्म-ज्ञान है।[4] यह माया खाँड़से भी मीठी है।

---

१. संसार भवंगम डसिले काया, अरु दुख दारुन व्यापै तेरी माया।
—पृष्ठ ११४, पद ८३।

२. दिन दस नैहर खेलि ले, सासुर निज भरना।
× × ×
दास कबीरा यों कहै, जग नाहिन रहना।
संगी हमरे चलि गए, हमहूँको चलना।
—'कबीर बाणी', डॉ० द्विवेदी, पृष्ठ ३१६, पद, १४५।

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९४, पद, ३१३।

४. माया तजूं तजी नहीं जाय, फिरि फिरि माया मोहि लपटाइ।
माया आदर माया मान, माया नहीं तहां ब्रह्म गियान।

संसारमें जो कुछ संग्रह किया जाता है वह सब माया है।[१] रामकी यह माया प्रबल है। संसारके सभी प्राणी इसके शिकार हो चुके हैं। 'मुनियर', 'पीर', 'डिगंबर', 'जोगी', 'जंगम', 'बांम्हण', 'स्वामी', 'मिसर', सभीको यह पछाड़ चुकी है। शाक्तोंको तो यह बनाती-बिगाड़ती है। हरि-भक्तोंसे इसका बस नहीं चलता।[२] अज्ञानी पुरुषोंको भुलावेमें डालकर खा जाती है।[३] धन, धन्धा, व्यवहार सभी माया और मिथ्या हैं।[४] माया मद-मत्त और अन्धी कर देनेवाली है। जो इसके बन्धनमें पड़ जाता है वह 'दुविधा'में पड़कर अनेक प्रकारके वेश धारण करता है किन्तु उस निरपेक्ष पुरुषको नहीं देख पाता।[५] यह माया त्रिगुणात्मिका है। सत, रज, तम इन तीन गुणोंसे युक्त माया निरपेक्ष सत्ताको आवृत रखती है।[६] तत्त्वतः यह माया झूठी है। सारा संसार इसके बन्धनमें पड़ा हुआ है। राममें रमता हुआ कबीर आनन्द मग्न है।[७]

माया रस माया कर जांन, माया कारनि तजै परान।
माया जप तप माया जोग, माया बाँधे सत ही लोग।
माया जल थलि माया आकासि, माया व्यापि रही चहूँ पासि।
माया मात माया पिता, अति माया अस्तरी सुता।
माया मारि करै व्यौहार, कहै कबीर मेरे राम अधार।
—ग्रन्थावली, पृष्ठ ११५, पद, ८४।

१. ग्रन्थावली, पृष्ठ १२०, पद १००, १०१।

२. ग्रंथावली, पृष्ठ १५१, पद ३८७।

३. ,, पृष्ठ १६६, पद २४२।

४. ग्रन्थावली, पद २९६, पृष्ठ १८८।

५. 'माया कै यदि चेत न देख्या, दुविध्या मांहि एक नहीं पेख्या।
भेप अनेक किया बहु कीन्हाँ, अकल पुरिस एक नहीं चीन्हा।'
—ग्रन्थावली, पृष्ठ २११, पद, ३६९।

६. सत रज तम थैं कीन्ही माया।
आपण मांझै आप छिपाया।
—ग्रन्थावली, पृष्ठ २२५, सतपदी रमैणी।

× × ×

राजस तांमस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया,
—ग्रन्थावली, पृष्ठ १५०, पद, १८४।

७. 'झूठी माया सब जग बाँध्या, मैं राम रमत सुख पाया'
—ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२७, पद, २०६ (परिशिष्ट)।

कबीरके उपर्युक्त जीव, संसार और माया सम्बन्धी विचार वैराग्यमूलक प्रवृत्तिकी उपज हैं। मध्ययुगका जीवन आर्थिक-राजनीतिक दृष्टिसे घोर अस्थिरताका जीवन था। आज, जो राज-सत्ताके मदमें मत्त है कल वही भिखारीका जीवन व्यतीत करनेको विवश हो सकता था। कोई भी हौसलेवाला व्यक्ति शक्ति-संचय करके छोटे-मोटे राज्यकी स्थापना कर सकता था। राज-परिवारके अन्तर्गत सत्ताधारी राजाके विरुद्ध अनेक प्रकारके जाल भीतर ही भीतर बुने और काटे जाते थे। सामान्य जनता तो घास-फूसकी तरह धरतीसे चिपकी हुई कभी लहलहा उठती थी, कभी रौंद दी जाती थी और कभी समूल उखाड़ कर फेंक दी जाती थी। एक-दूसरेके प्रति भेद-भावकी भावना सीमा पार कर चुकी थी। ऐसे संसारको मिथ्या माननेमें ही कल्याण था। यही कारण है कि मध्ययुगके सभी भक्त कवियोंने—चाहे निर्गुण हों चाहे सगुण—माया, जीव और संसारके प्रति एक ही प्रकारके विचार व्यक्त किये हैं। सभीके लिए संसार मिथ्या है, माया प्रबल है और जीव भ्रमित, जड़ और सुप्त है। एक भगवान् सत्य है। उसके प्रति अनन्य अनुराग रखनेसे ही कल्याण हो सकता है। कबीरके विचार, इस क्षेत्रमें, अन्य भक्त-कवियों के अनुकूल हैं।

कबीरकी भक्ति-भावना

कबीरकी भक्ति-भावना अपने में एक पूर्ण जीवन-दर्शन है। कबीर मानवताके सहज धरातलपर अभेद-दृष्टिकी स्थापना करना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने विविध धार्मिक साम्प्रदायिक एवं जातिगत इकाइयोंमें बिखरे हुए मानव-समुदायकी तात्त्विक एकता का प्रतिपादन किया। सामाजिक स्तरपर उनकी भक्ति समस्त बाह्याडम्बरों एवं भेद-प्रभेदों की अवहेलना करके 'मैं-तैं' और 'तैं-मैं' की भ्रम-जनित द्वैतताको अस्वीकार करती हुई सकल घटमें उस एक 'अकल' (निराकार) की स्थिति मानकर जीव-मात्रकी समताकी प्रतिष्ठा करती है। वैयक्तिक स्तरपर वह भक्तको आत्म-समर्पणकी उस स्थितितक पहुँचा देना चाहती है जहाँ वह आराध्यके तात्त्विक स्वरूपको पूर्णतः पहचानकर गुरुकी कृपा, आत्मविश्वास, सत्संगतिके प्रभाव और नैष्ठिक जीवन एवं सात्त्विक आचारशीलताके बलपर उससे एकरस प्रेम करते हुए अपने व्यक्तित्वको सदा-सदाके

लिए उसमें लय कर देना चाहता है। भक्तिकी यह साधना सर्व-सुलभ नहीं है। इसका द्वार सूक्ष्म है इसमें मदमत्त मनवाले लोग प्रविष्ट नहीं हो सकते[1]। कामी और इन्द्रिय-स्वाद-लोलुप व्यक्ति इसे नहीं प्राप्त कर सकते[2]। भक्तिके इस पथपर कायर लोग अग्रसर नहीं हो सकते। प्राणोंको उत्सर्ग करनेके लिए तत्पर व्यक्ति ही हरि नामकी ज्योति जगा सकता है।[3] भक्तिमें कपटका व्यवहार नहीं चल सकता। जिनके हृदयमें 'बिलाव-वृत्ति' और नेत्रोंमें 'बक-ध्यान' है, वे भक्ति-साधनाके लिए उपयुक्त नहीं हैं।[4] भक्तिके अभावमें जीव भवसागरमें डूबता है।[5] जहाँ भक्ति है वहीं रामका निवास है।[6] भक्तिके अभावमें आप कुछ भी करते रहें, सब व्यर्थ है। आपकी इच्छा हो आप मथुरा, द्वारिका या जगन्नाथ पुरी कहीं भी हो आवें किन्तु याद रखिये बिना हरि-भक्तिके हाथ कुछ भी आने-

---

[1] भगति दुवारा संकड़ा राई दसवें भाइ।
मन तौ मैंगल है रह्यो क्यूँ करि सकै समाइ॥
—ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०, साखी २६।

× × ×

[2] भगति बिगाड़ी कांमियां इन्द्री केरै स्वादि।
—ग्रन्थावली, पृ० ४०, साखी १०।

× × ×

[3] भगति दुहेली रामकी नहि कायरका काम।
सीस उतारे हाथि करि, सो लेसी हरि नाम॥
—ग्रन्थावली, पृष्ठ ७०, साखी २४।

× × ×

[4] हिरदा कौ बिलाव नैंन बग ध्यानी,
ऐसी भगति न होइ रे प्रानी।
कपटकी भगति करै जिन कोई,
अंतकी बेर बहुत दुख होई।
—ग्रन्थावली, पृष्ठ १६७, पद २३३।

[5] 'भगति बिन भौजालि डूबत हैरे'
—ग्रन्थावली, पृष्ठ १९३, पद ३१०।

× × ×

[6] 'जहाँ जहाँ भगति कबीरकी तहाँ तहाँ राम निवास'
—ग्रन्थावली, पृष्ठ ५३, साखी ११।

का नहीं ।[1] हरिको किसी भी भावसे भजा जा सकता है । आवश्यकता मनके निश्छल होनेकी है । इसीलिए कबीर अपने आराध्यको कभी 'बाप',[2] कभी 'जननी',[3] कभी 'स्वामी',[4] कभी 'पिउ',[5] कभी 'दोस्त',[6] कभी 'पति'[7] और कभी 'पाहुन'[8] नामसे संबोधित करते हैं । भक्ति निष्काम भावसे की जानी चाहिए ।

---

[1] मथुरा जावै द्वारिका, भावै जावै जगनाथ ।
साधु संगति हरि भगति बिन, कछू न आवै हाथ ॥

—ग्रन्थावली, पृष्ठ ४९, साखी ३ ।

[2] 'कहै कबीर बाप राम राया, अबहूँ सरनि तुम्हारी आया'

—ग्रन्थावली, पृष्ठ २०७, पद ३५७ ।

× × ×

[3] 'हरि जननी मैं बालिक तेरा, काहे न औगुण बकसहु मेरा'

—ग्रन्थावली, पृष्ठ १२३, पद १११ ।

+ × ×

[4] स्वामी सेवक एक मत मनहीं मैं मिलि जाइ ।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन कै भाइ ॥

—ग्रन्थावली, पृष्ठ ६८, साखी ४ ।

× × ×

[5] मन प्रतीति न प्रेम रस, ना इस तन मैं ढंग ।
क्या जाणौं उस पीव सूँ, कैसें रहसी रंग ॥

—ग्रन्थावली, पृष्ठ २०, साखी १६ ।

[6] पांणी ही तैं पातला, धूँवां ही तैं झीण ।
पवना वेगि उतावला, सो दोसत कबीरैं कीन्ह ॥

—ग्रन्थावली, पृष्ठ २९, साखी १२ ।

× × ×

[7] कबीर जगकी को कहै, भौ जलि बूडैं दास ।
पार ब्रह्म पति छाड़ि करि, करैं मानिकी आस ॥

—ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४, साखी १६ ।

× × ×

[8] रामदेव मोरै पांहुनैं आये, मैं जोबन मैंमाती ।

—ग्रन्थावली, पृष्ठ ८७, पद १ ।

किसी प्रकारकी कामनासे की जानेवाली सेवा व्यर्थ है।[१] आराध्यके प्रति अनन्यता अनिवार्य है।[२] अनन्यताके लिए दृढ़ता आवश्यक है। इसीलिए भक्त-साधकमें 'सती' और 'शूर' की दृढ़ता अपेक्षित है। इसी स्थितिको व्यक्त करते हुए कबीर कहते हैं—

अब हरि हूँ अपनौं करि लीनौं।
प्रेम भगति मेरौ मन भीनौं॥
जरै सरीर अंग नहीं मोरौं, प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं॥[३]

यही एकरस, अविचल, अनन्य और दृढ़ प्रेम कबीरकी भक्तिका केन्द्र-बिन्दु है। इस प्रेमको समझनेके लिए 'मीनकी तडपन'[४] कामी की आसक्ति[५] और सेवकके समर्पण[६]की निष्ठाका अनुभव होना चाहिए। इस विश्वासाधारित 'भाव भगति'के प्राप्त हो जानेपर सभी प्रकारके संशय-शूल कट जाते हैं और वास्तविक

---

[१] जब लगि भगति सकामता तब लग निर्फल सेव।
कहै कबीर वै क्यूँ मिलैं, निहकामी निज देव॥
—ग्रन्थावली, पृष्ठ १९, सा० १०।

× × ×

[२] जे हँसि बोलौं और सौं, तौ नील रँगाऊँ दंत।
—ग्रन्थावली, पृष्ठ १९, सा० १।

× × ×

[३] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०१, पद ३३४।

× × ×

[४] दास कबीर मीन ज्यूँ तलपै मिलैं भलै सचुपावै।
—ग्रन्थावली, पृष्ठ १८५, पद २८४।

× × ×

[५] ज्यूँ कामी कौं काम पियारा, ज्यूँ प्यासे कूं नीर रे।
ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखें जीव जाइ रे॥
—ग्रन्थावली, पृष्ठ १९२, पद ३०७।

× × ×

[६] जौ मैं बौरा तौ रांम तोरा, लोग मरमका जानैं मोरा।
—ग्रन्थावली, पृष्ठ, २०४, पद ३४३।

मुक्ति प्राप्त हो जाती है ।[1] कबीरकी भक्तिमें 'नारद-भक्ति-सूत्र' में निरूपित ग्यारह प्रकारकी आसक्तियाँ ढूँढ़ लेना या नवधा भक्तिके सभी प्रकारोंकी भावमूलक व्याख्या प्रस्तुत कर देना, एक प्रकारसे उसके वैयक्तिक रूपकी व्याख्या करना है । किन्तु ध्यान रखना होगा कि कबीरकी भक्तिका एक सामाजिक रूप भी है । कबीरने मानव मात्रकी एकताका प्रतिपादन एक भक्तके रूपमें ही किया था । उन्होंने न केवल स्वयं राम नामका मर्म समझा था वरन् औरोंको समझाया भी था । उनका मन तब सन्तुष्ट हुआ था जब उन्होंने सबमें एक राम-तत्त्वको व्याप्त देखा था ।[2] जो भेदवादी हैं, जो ऊँच-नीच, जाति-पाँति, ज्ञानी-मूर्ख, हिन्दू-मुसलमान, आत्म-पर, राम-रहीम और केशव-करीममें पार्थक्य अनुभव करते हैं उन्हींसे भक्त कबीरने पूछा था—

'अरे भाई दोइ कहाँ सो मोहि बतावौ,
बिचिही भरम का भेद लगावौ ।'

× ×

कहैं कबीर चेतहु रे भौंदू, बोलनहारा तुरुक न हिन्दू ।'[3]

और अपनी बात यों प्रस्तुत की थी—

"हम तौ एक एक करि जाँनाँ ।
दोइ कहैं तिनहीं कौं दोजग, जिन नाँहिन पहिचाँनाँ ।
एकै पवन एक ही पाँनी एक जोति संसारा ।
एक ही खाक घड़े सब भाँड़े, एक ही सिरजनहारा ।"[4]

---

[1] भावभगति बिसवास बिन, कटै न संसै सूल ।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मूकति नहीं रे मूल ॥
—ग्रन्थावली, पृष्ठ २४५ ।

× × ×

[2] एक राम देख्या सबहिन मैं, कहैं कबीर मन माना ।
—ग्रन्थावली, पृष्ठ १०५, पद ५२ ।

[3] ग्रन्थावली, पृष्ठ १०६, पद ५६ ।

[4] ग्रन्थावली, पृष्ठ १०५, पद ५५ ।

भक्त कबीरकी अद्वैतता, एकता, अभेदात्मकता और समतत्त्ववादिता अन्तर्मुखी ही नहीं बहिर्मुखी भी है और अपने बहिर्मुख रूपमें ही वह विशिष्ट और श्लाघ्य है।

कबीर का कविरूप

जिस महिमामय व्यक्तित्वके लिए कवि एक अदना जीव था[१] उसे ही कवि-रूपमें प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा अपने आपमें उपहासास्पद है। यह सत्य है कि जनतामें कबीर एक भक्तके रूपमें प्रसिद्ध रहे हैं। इतिहासकारों[२]—बील, हंटर, ब्रिग्स, मेकालिफ, वेसकट, स्मिथ, भंडारकर, ईश्वरीप्रसाद आदि—ने उन्हें एक समाज-सुधारकके रूपमें ही महत्त्व दिया है और भारतीय अभिजात वर्ग उन्हें श्रुति-विरोधी पंथ-प्रवर्तक दम्भी व्यक्तिके रूपमें पहचानता आया है। कबीरको कविरूपमें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करानेका श्रेय स्वर्गीय रवींद्र नाथ ठाकुरको है। उन्होंने क्षितिमोहन सेन द्वारा 'कबीर' नामसे संगृहीत (सन् १९१० ई०) रचनाओंमेंसे १०० का अंग्रेजी अनुवाद 'वन हंड्रड पोयम्स ऑफ कबीर' नामसे प्रस्तुत करके आधुनिक कवियों, आलोचकों और विचारकोंके सम्मुख एक नये सत्यकी प्रतिष्ठा की। कवीन्द्र रवींद्रके मनमें काव्यका जो मूल्य प्रतिष्ठित था वह औपनिषदिक चिन्तन, वैज्ञानिक अन्वेषण तथा वैष्णव-भक्तों एवं बाउल संतोंकी परमविरहाकुलताके सम्मिलित प्रभावका परिणाम था। उन्होंने मध्य-युगीन मानवधर्मको आधुनिक विज्ञानके प्रकाशमें देख-परखकर स्वीकार किया था। उनके लिए काव्य-सत्य और मानव-सत्य दो भिन्न तत्त्व नहीं थे। इसीलिए कबीरके पदोंमें उन्हें उदार मानवीय दृष्टिकोणके दर्शन हुए। उनके लिए कबीर संस्कार हीन, अपढ़, दम्भी, कोरी या जुलाहा नहीं था वरन् एक स्वतंत्र द्रष्टा था जिसने मनुष्यको सभी प्रकारके बंधनोंसे मुक्त करके उसके सहज रूपमें प्रति-ष्ठित करनेकी चेष्टा की थी। हिन्दीके आलोचकों और इतिहास लेखकोंके लिए कबीर एक पहेली रहे हैं। उनके महत्त्वको अस्वीकारकर देना संभव नहीं था।

---

१. 'कवित पढ़े पढ़ि कविता मूये कापड़ केदारै जाई'

—ग्रन्थावली, परिशिष्ट, पृष्ठ, ३१४।

२. इनके उल्लेखोंकी एकत्र सूचीके लिए देखिये, संत कबीर, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ, ४५, ४६।

उन्हें कविरूपमें स्वीकार करनेमें प्राचीन संस्कारोंको ठेस लगती थी। फिर भी, मिश्रबंधु[1], बाबू श्यामसुन्दर दास, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव और पंडित परशुराम चतुर्वेदीने उदारतापूर्वक कबीरके कवि रूपको भी स्वीकार किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने उनकी प्रतिभा और व्यंग्य-शक्तिको स्वीकार करते हुए भी उन्हें कवि नहीं माना। आचार्य शुक्लकी परम्परा आज भी जीवित है। इसीलिए आज भी यह प्रश्न विवाद ग्रस्त ही है। कबीरको 'कवि' रूपमें प्रतिष्ठित करनेके लिए जो तर्क दिये गये हैं उनमें प्रर्याप्त बल है। कबीर इसलिए कवि हैं कि उन्होंने सत्यको अभिव्यक्ति दी है।[2] उनमें अनुभूतिकी सचाई और भावनागत सौंदर्य है।[3] उनकी वाणीमें सन्देशकी महानता है।[4] उनके व्यक्तित्वमें आकर्षण है और उनकी उक्तियोंमें प्रखर व्यंग्य है।[5] प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्रकी कसौटीपर भी कबीरकी वाणीको परखा जा सकता है। काव्य-शास्त्रके अन्तर्गत सर्व स्वीकृत कसौटी रस-सिद्धान्त की है। रस-सिद्धान्तकी पूर्णता और महत्ता साधारणीकरणकी मान्यता पर आधृत है। देखना यह है कि कबीरकी उक्तियोंके साथ पाठक-वर्गका मानसिक तादात्म्य होता है या नहीं? कबीरकी समस्त वाणीको तीन कोटियों में रखा जा सकता है। (क) अभिजात वर्गीय मान्यताओंके प्रति विद्रोह-पूर्ण व्यंग्य-कथन (ख) नीति-परक उपदेश (ग) प्रणयानुभूतिकी अभिव्यक्ति। प्रथम कोटिमें आनेवाली उक्तियोंके साथ पाठक मात्रका तादात्म्य नहीं हो सकता। उसमें केवल निम्नवर्गीय उपेक्षित जनता रस ले सकती है। जब बीसवीं शतीमें प्रेमचन्दकी मान्यताओंको दृष्टिमें रखकर उन्हें

---

[1] मिश्रबंधुओंने 'हिन्दी नवरत्न' (सं० १८८१) के दूसरे संस्करणमें कबीरको हिन्दीके श्रेष्ठ कवियोंमें सातवाँ स्थान प्रदान किया है।

[2] देखिये, कबीर ग्रन्थावलीकी भूमिका, पृष्ठ, ६३।

[3] देखिये, हिन्दी-काव्यमें निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ३४१।

[4] हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ २६७, १९५४ ई०।

[5] "इसी व्यक्तित्वके आकर्षणको सहृदय समालोचक सँभाल नहीं पाता और रीझकर कबीरको 'कवि' कहनेमें सन्तोष पाता है। ऐसे आकर्षक वक्ताको 'कवि' न कहा जाय तो और क्या कहा जाय?"

—कबीर, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ २१७।

नास्तिक और ब्राह्मण-विरोधी कहा जा सकता है तो कबीरकी खरी बातोंका समर्थन पाठक मात्र कैसे कर सकता है ? आज भी कुछ ऐसे सहृदय हैं जिनका हृदय स्वार्थके संकुचित मंडलसे ऊपर उठकर मानव-मात्रकी सामान्य भावभूमिपर केवल केशव की कविता पढ़ते समय ही पहुँचता है। जब सूर और तुलसी उन्हें द्रवीभूत नहीं कर पाते तो कबीरकी क्या बिसात है ? नीति-परक उपदेशोंको तो रसवादी आलोचक कभी काव्य मान ही नहीं सकते। शोधका विद्यार्थी कोई अन्य विषय न मिलनेपर नीति-कथनोंको काव्य मानकर प्रबन्ध प्रस्तुत कर दे, यह दूसरी बात है। अब रह जाती है बात प्रणयानुभूतियोंकी अभिव्यक्ति की। इसमें सन्देह नहीं कि कबीरके प्रणय-चित्र मार्मिक हैं, विशेषतः उनकी विरहानुभूतियोंके चित्र किसी भी प्रेमाख्यानक कविके विरह-वर्णनके उत्कृष्ट छन्दोंके साथ रखे जा सकते हैं। कुछ दोहे नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

अंषड़ियाँ झाईं पड़ी पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या राम पुकारि पुकारि ॥[1]
नैंनां नीझर लाइया, रहट बहै निस जाम।
पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कबारु मिलहुगे राम ॥[2]
अंषड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जाणैं दुखड़ियाँ।
साईं अपणैं कारणैं रोइ रोइ रतड़ियाँ ॥[3]
जौ रोऊँ तौ बल घटै, हँसौं तौ राम रिसाइ।
मनही माँहि बिसूरणां, ज्यूँ घुंण काठहिं खाइ ॥[4]
कबीर सुपिनैं हरि मिल्या, सूतां लिया जगाइ।
आंषि न मीचौं डरपता, मति सुपिनां ह्वै जाइ ॥[5]

इस प्रकारकी अन्य साखियाँ भी उद्धृत की जा सकती हैं। इनकी मार्मिकता और रमणीयतामें सन्देह नहीं किया जा सकता। 'ढोला मारु रा दोहा'में

---

[1] ग्रन्थावली, पृष्ठ ९, साखी २२।

[2] ग्रन्थावली, पृष्ठ ९, साखी २४।

[3] वही, पृष्ठ ९, साखी २५।

[4] वही, पृष्ठ ९, साखी २८।

[5] ग्रन्थावली, पृष्ठ ७९, साखी ६।

ऐसे कई दोहे हैं जो प्रायः ज्योंके त्यों कबीरकी साखियोंमें भी विद्यमान हैं।[1] यह स्थिति जैसे भी उत्पन्न हुई हो, यह प्रकट है कि ये दोहे पर्याप्त लोकप्रिय रहे होंगे। कबीरकी इन मार्मिक उक्तियोंमें व्यक्त अनुभूतिके साथ भी पाठक मात्रका मानसिक तादात्म्य नहीं हो पाता। कारण स्पष्ट है। कबीरके मिलन-विरह सम्बन्धी उद्गार अव्यक्त, अगोचर, रहस्यमयी सत्ताके प्रति हैं। जिस विशिष्ट मनःस्थितिमें ये उद्गार व्यक्त किये गये हैं वह एक रहस्यवादी साधककी मनःस्थिति है। हर व्यक्ति अपनेको प्रियतमा मानकर अव्यक्त चेतन सत्ताके प्रति विरहोद्गार व्यक्त नहीं कर सकता। सूफी कवियोंके प्रणयोद्गारोंके साथ पाठक वर्गका तादात्म्य सरलतासे हो जाता है क्योंकि उनके भाव-चित्र किसी भौतिक नायक-नायिककाकी कल्पित प्रणयगाथाके माध्यमसे ही व्यक्त होते हैं। यों भी सूफियोंके निकट भौतिक सौन्दर्य सर्वथा असत्य नहीं हैं क्योंकि उसीके द्वारा अलौकिक और दिव्य सौन्दर्य-सत्ताकी भावनाकी जा सकती हैं। वे व्यक्त प्रकृतिमें भी अव्यक्त सौन्दर्यका संकेत ग्रहण कर लेते हैं। कबीरके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं कही जा सकती। वे बार-बार स्पष्ट करते रहे हैं कि उनका आराध्य अव्यक्त, अगोचर, अरूप, सगुण-निर्गुणसे परे, निराकार, निरंजन, अलक्ष्य और अकुल है। प्रकट है कि उनके प्रणयोद्‌गार ऐसी ही सत्ताके प्रति हैं। उनकी अनुभूतिमें सच्चाई है किन्तु वह सामान्य-जन-सुलभ-मनःस्थितिकी उपज नहीं है। सत्य तो यह है कि साधारणीकरणका सिद्धान्त मूलतः नाटकोंको दृष्टिमें रखकर किये गये रस-विवेचनके अन्तर्गत निर्धारित किया गया था। नाटकोंमें मंचपर नायक-नायिकाको प्रत्यक्ष आचरण करते देखकर दर्शककी वासना सरलतासे जाग्रत हो जाती है और वह स्वयं भी उन्हीं भावनाओंका अनुभव करता हुआ रस-मग्न हो जाता है। नाटकोंसे चलकर यह सिद्धान्त प्रबन्ध और मुक्तक काव्योंके क्षेत्रमें आया। प्रबन्धकाव्योंमें नाटक-रचनाके अधिकांश नियमोंका पालन किया जाता रहा है। अतः यहाँतक तो साधारणीकरणके सिद्धान्तकी सार्थकता स्वीकार की जा सकती है। कथाधाराके साथ प्रवाहित होता हुआ सहृदय पाठकका चित्त सरलतासे द्रवीभूत हो जाता है, और वह

---

[1] इनमेंसे पाँच दोहोंका तुलनात्मक उदाहरण डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने 'हिन्दी साहित्यके आदिकाल' (पृष्ठ, ११३-१४) में उद्‌धृत किया है।

काव्यगत नायक-नायिकाके शीलसे प्रभावित होकर उनकी उक्तियोंसे तादात्म्य स्थापित कर लेता है। मुक्तक-काव्योंमें वह भाव-चित्रके साथ कल्पित अवतरणकी योजना करता हुआ आनन्द-मग्न होता रहता है। जहाँ कहीं वह उचित अवतरण-कल्पना नहीं कर पाता उसे पूर्ण आनन्दकी अनुभूति नहीं होती और ऐसी स्थितिमें साधारणीकरणका प्रश्न विवाद-ग्रस्त हो सकता है। कबीरकी स्फुट उक्तियोंमें बात एक कदम और आगे बढ़ जाती है। यहाँ आश्रय एक आध्यात्मिक सत्यको स्वीकार करके (लौकिक दृष्टिसे पुरुष होता हुआ भी) स्वयं नायिका रूपमें उपस्थित है और उसका आलम्बन अव्यक्त, अगोचर, रहस्यमयी सत्ता है जिसे प्रत्येक पाठक भावका विषय नहीं बना सकता। अतः कबीरकी अनुभूतिके साथ साधारणीकरणकी बात सन्देहसे परे नहीं मानी जा सकती। साधारणीकरण न होनेपर भी हम इन उक्तियोंको काव्य इसलिए कहना चाहेंगे कि इनमें पर्याप्त रमणीयता है और 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' भी काव्य माना गया है। काव्यको जीवनकी अभिव्यक्ति, जीवनकी व्याख्या और जीवनकी आलोचना भी माना गया है। कबीरकी वाणीमें तत्कालीन जन-जीवनकी सच्ची आलोचना मुखर हुई है। उन्होंने मानवताके सहजरूपको दृष्टिमें रखकर जीवनके कृत्रिम रूपोंको मूल्यहीन और निरर्थक घोषित किया है। ऐसी स्थितिमें उनकी उक्तियोंको काव्य मान लेनेमें किसी प्रकारका अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। हाँ, यह निश्चित है कि वे मात्रा गिनकर कविता लिखनेवाले कवि नहीं थे और न उन्होंने कविताके लिए कविता लिखी है। उन्होंने अपने जीवनकी साधनाका सार उपस्थित किया है। किसीको प्रसन्न करनेके लिए या किसी शास्त्रीय पद्धतिके निर्वाहके लिए उन्होंने 'साखी' 'सबदी' और 'रमैनी' की रचना नहीं की है।

छन्द, शैली और भाषा

कबीर ग्रंथावलीमें संगृहीत वाणीमें कुल तीन प्रकारके छन्दोंका प्रयोग किया गया है—'साखी', 'पद' या 'सब्द' (सबदी) और 'रमैनी'। नाभादासजीने भी भक्त-मालमें 'हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी' कहकर कबीर द्वारा प्रयुक्त इन्हीं तीन छन्द-प्रकारोंको महत्त्व दिया है। छन्द-प्रकारकी दृष्टिसे साखियाँ दोहोंसे अभिन्न हैं। दोहा अपभ्रंशका लोक-प्रिय (किसी हदतक प्रतिनिधि) छन्द है।

'साखी' सामान्य दोहेसे इस अर्थमें भिन्न है कि उसमें अनुभूत-सत्य सन्निविष्ट होता है, वह साक्षात् गुरु-स्वरूप है।[१] 'साखी' शब्दका प्रयोग गोरख-पंथियों एवं बौद्ध-सिद्धोंके साहित्यमें भी हुआ है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीका मत है कि जिसे सिद्धोंने 'उएस' (उपदेश) कहा है वही परवर्ती कालमें साखी बन गया है।[२] 'सबदी'का प्रयोग भी कबीरसे पहले प्रचलित था। गोरखबानीमें भी 'सबदियाँ' संगृहीत हैं। संत-मतावलम्बी अपनी कृतियोंको 'शब्द-ग्रन्थ' कहते हैं। संतोंने शब्द-ब्रह्मसे जगतकी उत्पत्ति स्वीकार की है। ब्रह्मका प्रथम विवर्त प्रणव, ॐ या शब्द-ब्रह्म है। कदाचित् इसी ब्रह्मकी अनुभूतिसे युक्त होनेके कारण सन्तोंकी वाणी 'सब्दी' कही गई। 'सब्द' या 'सबदी' गेय पद हैं। कबीरकी कुछ ऐसी सबदियाँ (पद) हैं जिनकी रचना कई छन्दोंको मिलाकर की गई है। 'गोरखबानी'में आई हुई 'सबदियाँ' प्रायः दो ही पंक्तियोंकी हैं जबकि कबीरके पद (सब्दी) पर्याप्त लम्बे हैं। गेय पदोंकी परम्परा भी पर्याप्त प्राचीन है। बौद्ध-सिद्धोंके चर्यापद विविध रागोंके अन्तर्गत संगृहीत गेय पद ही हैं। चर्यापदोंसे पहले भी वज्र-गीतियोंकी परम्परा मिलती है।[३] वस्तुतः यह गेय पद-शैली लोक-काव्यकी शैली है जिसे समय-समयपर सन्तों और भक्तोंने लोक-चित्तको आकर्षित करनेके लिए अपनी अभिव्यक्तिका माध्यम बनाया है। 'रमैनी'का संग्रह कबीर-ग्रंथावलीमें भी है और कबीर बीजकमें भी। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीके अनुसार 'रमैनी' शब्द कबीर सम्प्रदायमें बहुत बादको प्रचलित हुआ है।[४] पं० परशुराम चतुर्वेदी इसे प्राचीन मानते हैं और इसकी व्युत्पत्ति रामायण शब्दसे (रामायण> रमैन>रमैनी) स्वीकार करते हैं।[५] छन्द-प्रकारकी दृष्टिसे 'रमैनी' चौपाई-दोहेके सम्मिलनसे ही बनती है। 'चौपाई-दोहेकी शैली कबीरसे बहुत पहले अपभ्रंश काव्योंमें ही प्रचलित हो चुकी थी। उपर्युक्त तीन छन्दोंके अतिरिक्त कबीर-साहित्यमें 'बावनी' 'चौंतीसा', 'थिंती', 'वार', 'चाँचर', 'हिंडोला', 'कहरा',

---

[१] हिन्दी-साहित्यका आदिकाल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ११३।

[२] वही, पृष्ठ ११२।

[३] कबीर साहित्यकी परख, पृष्ठ १९०।

[४] हिन्दी-साहित्यका आदिकाल, पृष्ठ ११३।

[५] कबीर साहित्यकी परख, पृष्ठ १९३।

'बेलि', 'विरहुली' 'विप्रमतीसी' आदि कई अन्य छन्द-प्रकारोंका भी प्रयोग किया गया है। 'बावनी' नागरी वर्णमालाके ५२ अक्षरोंको लेकर पंक्तियोंके प्रारम्भमें क्रमशः एक-एक अक्षरका प्रयोग करते हुए लिखी जाती है। आवश्यक नहीं है कि बावन अक्षरोंका प्रयोग कर ही दिया जाय। **'चौंतीसा'** भी ठीक इसी कोटिका छन्द-प्रकार है। इसमें स्वरोंको छोड़ दिया जाता है। इसलिए कुल वर्ण ५२ न होकर ३४ रह जाते हैं। **'थिंती'** तिथिका अपभ्रंश है। इसमें तिथियोंका प्रयोग करते हुए छन्द-रचना की जाती है। **'वार'** भी इसी कोटिकी छन्द-रचना है। इसमें प्रसिद्ध सात वारोंका प्रयोग करते हुए छन्द रचते हैं। **'चाँचर'** चर्चरी का अपभ्रंश है। यह वसन्तोत्सवके उपलक्ष्यमें गाया जानेवाला एक लोकगीत है।[1] यह चर्चरिका नामक तालकी लयमें गाया जाता है। कदाचित् इसीलिए इसे 'चर्चरी' कहा गया जो कालान्तरमें 'चाँचर' या 'चाँचरी' बन गया।[2] **'हिंडोला'** एक प्रकारका गेय पद है जो सावनमें झूलेके समय गाये जानेवाले लोक गीतोंके अनुकरणपर रचा जाता है। 'कहरा' भी एक प्रकारका गीत ही है। पं० परशुराम चतुर्वेदीका अनुमान है कि 'कहरवा'के ढंगसे गाये जानेके कारण इसे 'कहरा' कहा गया।[3] **'बेलि'** भी एक गेय काव्य-प्रकार है। कबीर बीजकमें प्रयुक्त 'बेलि' प्रसिद्ध राजस्थानी 'बेलि' काव्योंसे भिन्न है। यह भी कोई लोक-प्रचलित काव्य-प्रकार रहा होगा। **'बिरहुली'** एक प्रकारका गीत है जो, साँप-का विष उतारनेके लिए गाया जाता है।[4] पं० परशुराम चतुर्वेदीने 'विरहुली' का अर्थ 'विरहिणी' किया है और अन्ततः उसे जीवात्मासे सम्बद्ध कर दिया है। काव्य-प्रकारकी दृष्टिसे उन्होंने भी इसे किसी प्रचलित लोकगीतका अनुकरण माना है। **'विप्रमतीसी'** कदाचित् 'विप्रमति तीसी'का विकृत रूप है, जिसका अर्थ होगा 'विप्रोंकी मतिका उद्घाटन करनेवाली तीस पंक्तियाँ'। कबीर-बीजकके

---

[1] 'तेरहवीं शताब्दीके जिनदत्त सूरि नामक जैन सन्तने लोक-प्रचलित चर्चरी और रासक जातिके गीतोंका सहारा लिया था।'

—हिन्दी-साहित्यका आदिकाल, पृष्ठ ११४।

[2] कबीर साहित्यकी परख, पृष्ठ २०३।

[3] वही, पृष्ठ २०४।

[4] हिन्दी-साहित्यका आदिकाल, पृष्ठ ११२।

अतिरिक्त यह काव्य-प्रकार अन्यत्र नहीं मिलता। कबीर द्वारा प्रयुक्त काव्य-रूपों और छन्दोंके विषयमें डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीका मत है कि 'कबीरने अपने आस-पास प्रचलित विनोदों और काव्य-रूपोंको अपनाया होगा"[1] क्योंकि संत लोग प्रायः ऐसा करते आये हैं।

शैली—कबीरकी सभी रचनायें मुक्तक शैलीके अन्तर्गत आती हैं। किसी भी व्यंग्यकारके लिए मुक्तक शैली सर्वाधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकती है। अनुभूतिके गहनतम स्तरोंको व्यक्त करनेके लिए भी गेय मुक्तक पद-शैली मध्य-युगमें सर्वाधिक लोकप्रिय रही है। नैतिक उपदेशोंसे पूर्ण विचारोंको संक्षिप्त रूपमें व्यक्त करनेके लिए तथा अनुभूत सत्यको प्रभावपूर्ण ढंगसे प्रस्तुत करनेके लिए दोहोंकी सतसई या शतकशैली सर्वथा उपयुक्त रही है। कबीरकी वाणीमें या तो सामाजिक वाह्याचारोंपर चोट करनेवाला व्यंग्य मुखर हुआ है या उनके हृदयकी गहनतम अनुभूति व्यक्त हुई है या जीवनमें अनुभूत सत्य सहज रूपमें साकार हो उठा है। इन सभीके लिए मुक्तक-काव्य-शैली सर्वथा समीचीन थी। कबीरको न तो कोई लम्बा आख्यान प्रस्तुत करना था न शील-निरूपणके लिए जीवनकी सभी ऊँची-नीची भूमियोंको किसी मार्मिक कथा-प्रसंगमें गुंफित करना था। अतः प्रबन्ध-शैलीको न अपनाना उनके लिए स्वाभाविक था। संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि कबीरकी शैली उनके कथ्यको व्यक्त करनेमें सर्वथा समर्थ है।

भाषा—कबीरकी भाषाका अध्ययन अपने आपमें एक महत्त्वपूर्ण विषय है। उनकी भाषाके सम्बन्धमें निश्चित मत व्यक्त करना आसान नहीं है। एक तो उन्होंने अपनी वाणीको स्वयं लिपिबद्ध नहीं किया था। उनके शिष्योंने लिखते समय अपने जन्मस्थानकी भाषाके अनुकूल उसमें रूपान्तर अवश्य किया होगा। बीच-बीचमें क्षेपक अंश भी अवश्य जुड़ते गए होंगे। अपने मूलरूपमें भी वह कोई व्याकरणबद्ध निश्चित भाषा न रही होगी क्योंकि उस समयतक हिन्दीकी काव्य-भाषाका कोई निश्चित रूप स्वीकृत न हो सका था। मनमौजी कबीर व्याकरणके बन्धनोंसे बँधकर चलनेवाले व्यक्ति न थे। यही कारण है कि कबीरकी भाषाके सम्बन्धमें उतने ही मत हैं जितने निर्णायक। कबीर-बीजकके टीकाकार विचारदास-

---

[1] हिन्दी-साहित्यका आदिकाल, पृष्ठ ११२।

जीने (बीजकको ही दृष्टिमें रखकर) उनकी भाषाको 'ठेठ प्राचीन पूर्वी' माना है।[१] डॉ० रामकुमार वर्माकी दृष्टिमें 'कबीरके काव्यका व्याकरण पूर्वी हिन्दी रूप ही लिए हुए है। उसमें स्थान-स्थानपर पंजाबी प्रभाव अवश्य दृष्टिगत होता है।'[२] बाबू श्यामसुन्दरदासने पर्याप्त छान-बीनके पश्चात् निर्णय दिया है—'कबीरमें केवल शब्द ही नहीं क्रिया-पद कारक-चिह्नादि भी कई भाषाओंके मिलते हैं, क्रिया पदोंके रूप अधिकतर व्रजभाषा और खड़ी बोलीके हैं। कारक चिह्नोंमें 'से' 'कै' 'सन', 'सा' आदि अवधीके हैं, 'कौ' व्रजका है और 'थैं' राजस्थानीका।'[३] इस प्रकार बाबू साहबकी दृष्टिमें कबीरकी भाषा पंचमेल खिचड़ी है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याके अनुसार 'कबीरकी रचनामें हमें मुख्यतः व्रजभाषा मिलती है लेकिन इसमें कोसली या पूर्वी हिन्दीका कुछ-कुछ मेल पाया जाता है और खड़ीबोलीका रूप भी यथेष्ट परिमाणमें मिलता है।'[४] उपर्युक्त समस्त मतभेदोंके बावजूद यह तो मानना ही होगा कि कबीरका अधिकांश जीवन बनारसमें व्यतीत हुआ था और अन्तमें कुछ दिनोंतक वे गोरखपुरके निकट मगहरमें भी रहे थे। अतः उनकी भाषा मूलतः इसी प्रदेशमें बोली जानेवाली जन-भाषा रही होगी। उसमें परिवर्तन दूरवर्ती प्रदेशोंमें उनकी वाणीके प्रचारके कारण हुआ होगा। उन्होंने जो 'बोली हमारी पूरबकी हमैं लखै नहिं कोय' कहा है उसमें आध्यात्मिक संकेतके साथ अभिधात्मक तथ्यको सूचना भी है। कबीरसे पूर्व सिद्धों और नाथोंकी गूढ़ आध्यात्मिक संकेतोंसे युक्त संध्या भाषाका प्रचार पूर्वी क्षेत्रोंमें ही था। कबीर अपनेको उसी परम्परामें रखते हुए कहते हैं—'हमको तो सोई लखै, धुर पूरबका होय।' आचार्य रामचन्द्र शुक्लने कबीरकी भाषाको राजस्थानी-पंजाबी मिली खड़ीबोली कहा है। साथ ही उनकी रमैनियों एवं पदावलियोंमें व्रजभाषा एवं पूरबी बोलीका व्यवहृत होना भी स्वीकार किया है।[५] सारांश यह कि कबीर-

---

[१] विचारदास शास्त्री : 'बीजक-विरल टीका', पृष्ठ ४२, कबीर साहित्यकी परख, पृष्ठ २०८ पर उद्धृत।

[२] संत कबीर, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ २२

[३] कबीर ग्रन्थावली, प्रस्तावना, पृष्ठ ६७।

[४] डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, भारतकी भाषायें, पृष्ठ ६०।

[५] हिन्दी साहित्यका इतिहास, पृष्ठ ८० (संशोधित संस्करण)।

की वाणीका जो रूप आज प्राप्त है उसमें कई भाषाओंके शब्द, पद एवं क्रिया-रूप सम्मिलित हैं। अवधी, भोजपुरी, खड़ीबोली, पंजाबी और राजस्थानी इन सभी भाषाओंका मिश्रित रूप उनकी वाणीमें विद्यमान है। एक प्रकारसे उनकी भाषाको सधुक्कड़ी कहाना ठीक ही है।

उपसंहार

कबीर हिन्दी-साहित्यकी अन्यतम विभूति हैं। परम्परागत वैदिक मान्यताओं-का विरोध करके भारत जैसे देशमें जीवित रहना बहुत बड़ी शक्तिका काम है। कबीरकी शंकाओंका उत्तर देनेमें तुलसीकी विलक्षण बुद्धि, अपार अध्ययन, अथक प्रयत्न, विराट् व्यक्तित्व और अद्वितीय समन्वयात्मिका शक्ति भी खीझ उठी थी। उन्होंने 'साखी' 'सबदी' 'दोहरा' 'किहनी' और 'उपखन' कहनेवालोंको निस्तेज कर दिया किन्तु कबीरका तेजस्वी व्यक्तित्व अपराजेय रहा। कबीर जनताके एक बहुत बड़े समुदायके आराध्य बने रहे। कबीरने सत्यके अभावात्मक स्वरूपकी अनिर्वचनीयताको भावात्मक अनिर्वचनीयता प्रदान किया। उसकी निरपेक्षिताको स्वीकार करते हुए भी उसे प्रेम करने योग्य माना। धर्म और अधर्म, बन्धन और मुक्ति, आसक्ति और अनासक्ति, स्वर्ग और नर्क, सेवक और स्वामी, यती और कामी, कर्म और अकर्म, स्थापन और विघटनकी स्थितियोंसे ऊपर उठकर निरपेक्ष सत्यका दर्शन कबीर जैसा विमल-बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता था। कबीरने सत्यके इसी रूपको स्थिर चित्तसे हृदयंगम किया था। उनके व्यक्तित्वको समझनेके लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> ना मैं धर्मी नाहीं अधर्मी, ना मैं जती न कामी हो।
> ना मैं कहता ना मैं सुनता, ना मैं सेवक स्वामी हो।
> ना मैं बँधा ना मैं मुक्ता, ना मैं बिरत न रंगी हो।
> ना काहू से न्यारा हूआ, ना काहू के संगी हो।
> ना हम नरक-लोक को जाते, ना हम सुर्ग सिधारे हो।
> सब ही कर्म हमारा कीया, हम कर्मन तें न्यारे हो।
> या मत को कोई विरलै बूझै, सो अटर हो बैठे हो।
> मत कबीर काहू को थापै, मत काहू को मेटे हो॥"[1]

---

[1] कबीर-वाणी, पद ७९, संपादक, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

पठनीय-सामग्री

हिन्दी काव्यमें निर्गुण सम्प्रदाय	डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
कबीर	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
तसव्वुफ अथवा सूफीमत	पं० चन्द्रबली पाण्डेय
हिन्दी काव्य धारा	श्री राहुल सांकृत्यायन
कबीर ग्रन्थावली	सं० बाबू श्यामसुन्दरदास
गोरखबानी	सं० डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
Obscure Religious Cults	S. B. Das Gupta
नाथयोग : एक परिचय	अक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय
मंत्रयोग संहिता	भारत धर्म महामण्डल प्रकाशन
संत कवि दरिया : एक अनुशीलन	डॉ० धर्मेन्द्रकुमार ब्रह्मचारी
उत्तरी भारत की संत परम्परा	पं० परशुराम चतुर्वेदी
हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग	डॉ० नामवर सिंह
हिन्दी साहित्य का इतिहास	पं० रामचन्द्र शुक्ल
भक्ति का विकास	डॉ० मुंशीराम शर्मा
Collected Works, Vol. IV	R. G. Bhandarkar
रामभक्ति में रसिक भावना	डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह
कबीर की विचारधारा	डॉ० त्रिगुणायत
पद्मावत	सं० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डॉ० रामकुमार वर्मा
Kabir and the Kabir Pantha	G. H. West Cott
दक्खिनी हिन्दी का पद्य और गद्य	सं० श्रीराम शर्मा
Mysticism in Maharashtra	Ranadey
तुलसी ग्रन्थावली	ना० प्र० सभा, काशी
The Religion of Man	Tagore
संत कबीर	डॉ० रामकुमार वर्मा
हिन्दी नवरत्न	मिश्रबन्धु
हिन्दी-साहित्य का आदिकाल	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
कबीर साहित्य की परख	पं० परशुराम चतुर्वेदी

मलिक मुहम्मद जायसी

मलिक मुहम्मद जायसी, हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य-परम्पराके सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। हिन्दीके प्रबन्ध-काव्यकारोंमें उनका स्थान तुलसीके बाद दूसरा है। उनकी काव्य-प्रतिभा विलक्षण है। 'पद्मावत'के रूपमें उनके अन्तस्‌की प्रेम-पीड़ा कथाका आधार लेकर साकार हो उठी है। उनकी रचना मानव जीवनकी जिस गूढ़, गंभीर, सर्वभूत-व्यापिनी एवं मर्मस्पर्शिनी वृत्तिके उदात्त स्वरूपका उद्घाटन करती है, वह मनुष्यको देवत्व प्रदान करनेमें समर्थ है। स्वयं कविकी अपने काव्यके विषयमें यह उक्ति 'सोइ बिमोहा जेइ कवि सुनी' अक्षरशः सत्य है। मध्ययुगमें जायसीने जन-मानसको बहुत दूरतक प्रभावित किया था। यदि तुलसी जैसा विराट् व्यक्तित्व हिन्दी-काव्याकाशमें अपनी अलौकिक आभाके साथ सहसा अभ्युदित न हुआ होता तो कवि-नक्षत्रों में शुक्र की भाँति दीप्त जायसी की ज्योति मंद न पड़ती। "कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।" कहकर तुलसीने अनेक प्रेमाख्यानक कवियोंको हतप्रभ कर दिया। तुलसीकी सारग्राहिणी एवं समन्वयात्मिका बुद्धिने पूर्ववर्ती अनेक कवि-पुंगवोंकी साधनाके सरस-रस-स्रोतोंको अपने विशाल मानसके अमृत-रसमें मिलाकर 'रस विशेष' की सृष्टि की थी। हिन्दीके निर्गुण सन्तों एवं प्रेमाख्यानक कवियों (सूफी सन्तों) को निस्तेज करनेमें तुलसीके 'मानस' का पर्याप्त योग है। फिर भी जायसीके व्यापक प्रभावके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। १०६९ हिज्रीमें राजिया नामक फारसी कविने पद्मावतका फारसीमें अनुवाद किया था[1]। नज्मी महोदयने फारसीमें ही एक दूसरा अनुवाद प्रस्तुत किया था[2]। सन् १६५२ ई० में राय गोविन्द मुंशीने फारसी गद्यमें 'तुक फतुल कुलू' नामसे 'पद्मावत' की प्रेम कहानी लिखी थी।[3] हुसैन गजनवीने 'किस्सए पद्मावत' नामसे फारसीमें इसी कहानीको

---

[1] पद्मावत, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राक्कथन, पृष्ठ ५५।

[2] वही, पृष्ठ ५५।

[3] वही।

पद्य-बद्ध किया था। सन् १७९६ ई० में जियाउद्दीन 'इब्रत' और गुलाम अली 'इशरत' ने मिलकर उर्दू शेरोंमें इस कहानीको उतारा था। मध्ययुगमें ही अलाउलने इसका बँगलामें अनुवाद किया था[1]। आधुनिक कालमें श्री ए० जी० शिरेफने अत्यन्त परिश्रमसे अँग्रेजीमें इसका अनुवाद किया है। हिन्दीके परवर्ती प्रमाख्यानक कवियों ने पद्मावतसे भरपूर सहायता ली है। भारतवर्ष के विभिन्न भागोंमें पद्मावतकी अनेक प्रतियाँ पाई गई हैं। इन सबसे जायसीके व्यापक प्रभावकी सूचना मिलती है।

पद्मावतकी कहानीके मूल स्रोत

जायसीके पूर्व पद्मावतकी प्रेम-कथा साहित्यमें अवतरित हो चुकी थी। संवत् १४६७ (ई० सन् १४१०) में राजवल्लभ पाठकने संस्कृत-भाषामें पद्मावती और रत्नसेनकी प्रेम-कथा लिखी थी।[2] यह ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है हर्ष रचित 'रत्नावली' नाटिकाकी नायिका भी सिंहल द्वीपकी है। 'पृथ्वीराज रासो'के 'पद्मावती समय'में वर्णित कथा भी जायसीकी कहानीसे मिलती-जुलती है। 'पद्मावती समयमें' समुद्र-शिखर-गढ़की राजकुमारीका नाम पद्मावती है। उसका पालित शुक उसका प्रेम-सन्देश पृथ्वीराजतक पहुँचाता है। पृथ्वीराज समुद्र-शिखर-गढ़ जाता है और भवानी-मन्दिरमें दर्शनार्थ आई हुई पद्मावतीको घोड़ेपर बिठाकर दिल्ली ले आता है[3]। 'ढोला मारुरा दोहा'की प्रेम कहानीका ढाँचा भी पद्मावतके कथानकसे बहुत भिन्न नहीं है।[4] अपभ्रंशके 'करकंडुचरिउ' के कथानकमें भी जायसीके पद्मावतका मूल स्रोत लक्ष्य किया जा सकता है। करकंडु चंपाधीश धाड़ी वाहन (दधि

---

१. पद्मावत, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ ५५।

२. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ, पृष्ठ १९७।

३. 'यह कहानी सोलहवीं शताब्दीके बादकी लिखी हुई है, और रासोमें प्रक्षिप्त है'।
—'हिन्दी साहित्यका आदिकाल,' डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ८४

४. राजपूतानेमें 'ढोला मारुरा दोहा'के कई रूप प्रचलित थे। 'सबसे पुराना रूप कदाचित् ११ वीं १२ वीं शताब्दीका रहा होगा' हि० सा० आदि काल पृष्ठ ९।

वाहन) के पुत्र थे। इनका पालन एक चाण्डालने किया था क्योंकि प्रसवके समय इनकी माता पद्मावती पतिसे बिछुड़कर श्मशानमें रह गई थी। बड़े होनेपर करकंडु दंतिपुरके राजा हुए। धाड़ी वाहनने उनपर आक्रमण कर दिया। युद्ध-क्षेत्रमें ही पिता-पुत्रका परिचय हुआ। पिताने करकंडुको अपना राज्य भी दे दिया। करकंडुने गिरिनगरकी राजकुमारी मदनावतीसे विवाह कर लिया था। पिताका राज्य पानेपर उन्होंने दक्षिणके चोल, चेर, पांड्य आदि राज्योंपर चढ़ाई कर दी। इस संकट-कालमें उनकी स्त्री मदनावतीको एक विद्याधर हर ले गया। वियोग-विह्वल करकंडुने सिंहलकी यात्रा की और वहाँकी राजकुमारी रतिवेगासे ब्याह कर लिया। समुद्र-मार्गसे लौटते समय मार्गमें एक भयंकर मत्स्यने बाधा दी। राजाने उसे तो मार डाला किन्तु एक विद्याधर-पुत्रीने उनका हरण कर लिया। रानी रतिवेगाने व्रत-उपवास आदि करके किसी प्रकार राजाको प्राप्त किया। लौटते समय करकंडुने दक्षिणके राज्योंपर विजय प्राप्त की और रानी मदनावती भी उन्हें मिल गई[1]। इस कहानीमें सिंहल-यात्रा और लौटते समय मार्गमें अचानक आ उपस्थित होनेवाली बाधाका रूप ठीक वैसा ही है जैसा पद्मावतमें। यह कथा जैन-मतके सिद्धान्तोंको प्रचारित करनेके लिए लिखी गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि रानी पद्मावतीकी प्रेम-कहानीका कोई-न-कोई लोक प्रचलित रूप रहा है और समय-समयपर विभिन्न धर्मावलम्बी कवियोंने उसे स्वमत अनुकूल बनाकर काव्योंमें उपस्थित किया है। जायसीने तो कहा भी है—

आदि अन्त जस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।

आचार्य शुक्लने बहुत पहले ही कहा था—'जायसीने प्रचलित कहानीको ही लेकर सूक्ष्म व्योरोंकी मनोहर कल्पना करके, इसे काव्यका सुन्दर रूप दिया है।' सिंहल द्वीप और उसमें पद्मिनी स्त्रियोंके पाये जानेकी अनुश्रुति लोक-परम्परामें अत्यन्त प्राचीन कालसे प्रचलित है। नाथ-पंथी योगियोंकी परम्परामें सिंहल देशके लिए 'कदलीवन' 'कजरीबन' 'त्रियादेश' 'स्त्रीदेश' आदि नाम आते हैं। योगियोंकी साधना सुन्दरी स्त्रियोंके कुटिल कटाक्षोंसे भ्रष्ट हो जाती थी। इसलिए

---

[1] 'अपभ्रंश साहित्य'—हरिवंश कोछड़, पृष्ठ १८२।

पक्का योगी अपनी साधनाकी पूर्णता प्रमाणित करनेके लिए सिंहलदीप (स्त्री-देश) की यात्रा करता था। मछन्दर नाथ जैसे योगी भी इस देशमें जाकर फँस जाते थे। कबीरदासजीको भी पता था—

कबीर खोजी रामका गया जु सिंहल दीप।
राम तो घटि भीतर रमि रह्या, जो आवै परतीत।[१]

सूफियोंने साध्य परमतत्त्वको परम सौन्दर्य (Supreme beauty) के रूपमें देखा और नारी-सौन्दर्यमें उसका प्रतिबिम्ब अनुभव किया। इसलिए नारी-सौन्दर्यकी खान सिंहल द्वीप जायसीके लिए खुदाके नूरको अवतरित करनेकी प्रेरणा-भूमि बन गया। सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी पद्मिनीके रूपमें उन्होंने उस ज्योतिके अवतरणकी कल्पना की। जायसीने कुरान शरीफकी कयामत वाली कथाको भी इसीमें सम्मिलित कर लिया। रतनसेनकी सिंहल-यात्रा मुहम्मद साहबकी विहिस्त-यात्राका ही स्वरूपान्तरण है। सात समुद्रोंकी बीहड़ यात्राको विहिस्तकी दुर्गम यात्राके रूपमें देखा जा सकता है। पहले पाँच समुद्रोंकी यात्रा कयामत-पूर्वकी विभिन्न स्थितियाँ हैं। 'खार' समुद्रमें संसारको तुच्छ समझकर उससे विरक्त होनेकी भावनाका संकेत है। 'खीर' समुद्रमें भोग-सुखके आकर्षणका संकेत है। 'दधि' समुद्रमें प्रेमाग्निकी भीषण ज्वालाका वर्णन है जो कभी व्यर्थ नहीं जाती। 'उदधि' समुद्रमें वियोगकी अग्निकी प्रचण्डताका संकेत है जो प्रेमी साधकके मार्गमें आती है। 'सुरा' समुद्र प्रेम-मदमें छकनेकी स्थितिकी ओर संकेत करता है। 'किलकिला' समुद्र कयामतका भीषण दृश्य उपस्थित करता है। यह वर्णन 'पुले सरात' के वर्णनसे मिलता-जुलता है। इसका वर्णन जायसीने जैसा 'आखीरी कलाम' में किया है ठीक वैसा ही पद्मावतमें भी किया है।[२] जिस प्रकार रसूलके कलामपर ईमान लानेवाले सूफी मुरशिदके अनुयायी अनेक यातनाओंको सहनेके

---

[१] कबीर (ग्रन्थावली) पृ० ८१।

[२] पद्मावत
हीरामन राजा सौं बोला। एही समुद आए सत डोला।
तीस सहस्र कोस कै पाटा। अस साँकर चलि सकै न चाँटा।
खाँड़ै चाहि पैनि बहुताई। बार चाहि ताकर पतराई।

उपरान्त अन्ततः विहिस्तमें अखण्ड सुख भोग करते हैं, वैसे ही रतनसेन और उनके अनुयायी सामुद्रिक यात्राके अनेक कष्टोंको भोगनेके बाद अन्ततः सिंहलद्वीपमें पहुँचकर अखण्ड सुख-भोग करते दिखाये गये हैं। जायसीने सिंहलद्वीपको 'कबिलास' माना है—'सिंहलद्वीप आहि कविलास्' (९५।१) सिंहलद्वीप कबिलास है और 'कबिलास' विहिस्त है। मुहम्मद साहब कयामतके बाद दूलह रूपमें जिस बिहिस्तमें सुखपूर्वक राज्य करते हैं, उसे जायसीने 'कबिलास' ही कहा है।[१] इस प्रकार पद्मावतकी कथाका पूर्वार्द्ध निर्मित करते समय जायसीके मनमें लोक-अनुश्रुति; नाथ-पंथी-योगियोंका साम्प्रदायिक विश्वास, अपभ्रंश साहित्यके प्रेम कथानक, संस्कृत-साहित्यकी पद्मावती नायिका और सूफी-साधनाका सैद्धान्तिक रूप, सब कुछ कार्य करता रहा है। इन सबको एकमें गूँथकर तथा उसे अलाउद्दीन और चित्तौड़के ऐतिहासिक कथानकसे जोड़कर उन्होंने पूरी प्रेम-कथाको अभिनव रूप प्रदान कर दिया। जायसीकी यह एक मौलिक सूझ थी। उन्होंने इस कथाकी रचनामें अपने अन्तस् की समस्त पीड़ा उड़ेल दी—जोरी लाइ रकत कै लेई—और हिन्दी-काव्य-कोशमें एक नवीन रत्न 'पद्मावत' के रूपमें जगमगाने लगा।

सिंहलद्वीपकी भौगोलिक स्थिति

सिंहलद्वीप की भौगोलिक स्थितिकी सम्भावनाओंपर भी विद्वानोंने विचार किया है। आचार्य शुक्लने सम्भावना व्यक्त की थी कि जायसीका 'सिंहल' द्वीप राजपूताने या गुजरातका कोई स्थान होगा। यह तो प्रकट है कि जायसीका सिंहल ऐतिहासिक लंका द्वीपसे भिन्न है। उन्होंने स्वयं सिंहलको लंकासे

आखिरी कलाम
तीस सहस्र कोस कै बाटा।
अस साँकर जेहि चलै न चाँटा।
बारहु तें पतरा अरु झीना।
खडग धार से अधिकै पैना।

[१] बनि बनि बैठीं अछरी, बैठि जोहैं कबिलास।
बेगिहि आउ मुहम्मद, पूजै मन कै आस॥
—आखिरी कलाम, दोहा ५५।

भिन्न मानते हुए उसे वैभव विलासमें श्रेष्ठ घोषित किया है।[१] बँगलाकी लोक-कथाओंमें सिंहल द्वीपका उल्लेख आता है। बँगला राम-कथामें महाराज दशरथका ब्याह सिंहलकी राजपुत्रीसे कराया गया है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी-ने 'सिंहल देश' या 'त्रियादेश' को हिमालयके चरणोंमें स्थित नाथ-योगियोंका कोई परीक्षा-स्थान माना है।[२] बौद्ध धर्मके ऐतिहासिक विकासपर ध्यान देनेसे प्रकट है कि ईसाकी सातवीं शताब्दीसे बौद्ध धर्मका प्रधान केन्द्र बर्मा या ब्रह्म देश हो गया था।[३] इसलिए बौद्ध प्रभावित योगियों और सूफियोंकी साधना-की परीक्षा-भूमि इधर ही कहीं होनी चाहिए। जायसीने जिस सिंहलकी चर्चा की है वहाँ जानेके लिए समुद्री मार्ग आवश्यक है। डॉ० ओमप्रकाशने सारी सम्भावनाओंपर विस्तापूर्वक विचार करते हुए कहा है—'इस प्रकार सिंहल दक्षिणी ब्रह्मदेशका कोई समुद्र-तटवर्ती प्रसिद्ध स्थान है।'[४] इसे ही बंगीय कवियोंने 'पूर्वदेश' कहा है। इन देशोंके लिए 'स्वर्णभूमि'का प्रयोग किया जाता रहा है।

पद्मावतकी कथाकी ऐतिहासिकता

कर्नल टॉडके 'राजस्थान', 'आइने अकबरी'के पद्मावती वृत्त और मुहम्मद कासिम फरिस्ताके इतिहास—'तारीख फरिश्ता'का हवाला देते हुए आचार्य शुक्लने पद्मावतकी कहानीके उत्तरार्द्धको ऐतिहासिक माना है। उपर्युक्त तीनों ग्रन्थोंमें ऐतिहासिक वृत्त थोड़े-बहुत परिवर्तनके साथ प्रायः एक-सा ही है। टाडने रतनसिंहके स्थानपर भीमसीके साथ पद्मिनीका सम्बन्ध माना है। 'आइने अकबरी'में भीमसी'के स्थानपर 'रतनसी' नाम दिया गया है और उसकी मृत्युके विवरणमें थोड़ा-सा परिवर्त्तन किया गया है। 'आइने अकबरी'के अनुसार दूसरी बार हार कर लौटते हुए अलाउद्दीनने सात कोस दूर जाकर मैत्रीका संवाद भेजा और जब रतनसी केवल एक व्यक्तिके साथ उससे मिलने गया तो उसने धोखेसे उसे मार डाला। फरिश्ता पद्मावतीको

---

१. 'लंक दीप सरि पूज न छाहीं'—सिंहलद्वीप वर्णन खंड।

२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृष्ठ ५५।

३. "सातवीं शताब्दीमें नालंदाके अध्यापक काञ्चीवासी धर्मपाल तथा ११ वीं शतीमें बंगालके अतीस दीपंकर बौद्धमतके विशेष अध्ययनके लिए इन पूर्वी देशोंमें गए थे।'—डॉ० आर० सी० मजुमदार : ग्रेटर इण्डिया, पृष्ठ ५६-५७।

४. 'भावना और समीक्षा', पृष्ठ ४५, डॉ० ओमप्रकाश।

रतनसीकी बेटी मानता है। वह अलाउद्दीन द्वारा रतनसीके बन्दी बनाये जाने, दिल्लीमें कैद होने और पुनः वहाँसे मुक्त होनेका ठीक वैसा ही वृत्त प्रस्तुत करता है जैसा पद्मावतमें है। विद्वानोंकी राय है कि उपर्युक्त तीनों ग्रंथ पद्मावतकी प्रसिद्धिके बाद लिखे गये हैं और तीनों अपने कथा-स्रोतके लिए पद्मावतके ही ऋणी हैं। टॉड महोदयने चारणों और भाटोंकी अनुश्रुतियोंके आधारपर राजस्थानका इतिहास प्रस्तुत किया है और चारण लोग पद्मावतकी कथासे परिचित थे। उनकी मौखिक इतिहास-परम्परापर लोकाश्रयी काव्योंका पर्याप्त प्रभाव रहा है। कर्नल टॉडके इतिहास लेखनका दृष्टिकोण कूटनीतिक था। [दूसरे मराठा युद्धके समय ग्रीम मर्सर नामका एक कूटनीति-दक्ष अंग्रेज जनरल लेकके अधीन मराठोंमें फूट पैदा करनेके लिए कार्य कर रहा था। कर्नल जैम्स टॉड महोदय उसीके स्टाफमें थे। आपने ब्रिटिश कूटनीतिको ध्यानमें रखते हुए राजस्थानके इतिहासको मनमाना स्वरूप दिया।] इस कथानककी ऐतिहासिकताको चुनौती देने वाला सबसे प्रधान ग्रन्थ अमीर खुसरोका 'तारीख-ई-अलाई' है। अमीर खुसरो अलाउद्दीनका समकालीन था और उसके साथ चित्तौड़के युद्धमें स्वयं गया भी था। उसके अनुसार सोमवार ता० ११ मुहर्रम हिजरी सन् ७०३, २६ अगस्त सन् १३०३ ई० (वि० सं० १३६० भाद्रसुदी १४)को चित्तौड़का किला फतह हुआ। राजा भाग गया। ३०००० हिन्दुओंको कत्ल करनेकी आज्ञा देनेके बाद सुलतानने चित्तौड़का राज्य अपने बेटे खिजिर खाँको दे दिया और चित्तौड़का नाम खिजराबाद रखा। अमीर खुसरो पद्मावतीका नामतक नहीं लेता। ध्यान देनेकी बात है कि उसने खिजिरखाँ और देवलदेवीके प्रेमका वर्णन किया है।[1]

---

[1] देवल देवी गुजरातके राजा कर्णकी पुत्री थी और उसकी माताका नाम कमलावती था। अलाउद्दीनने गुजरातपर चढ़ाई की थी (१२९७ई०)। राजा कर्ण भागकर देवगिरि चला गया और उसकी रानी कमलावतीने अलाउद्दीनसे ब्याह कर लिया। राजा कर्ण अपने साथ देवल देवीको देवगिरी ले गया था। कमलादेवीने अलाउद्दीनसे अपनी बेटी मँगवा देनेके लिए आग्रह किया। देवल देवी छीनकर दिल्ली लाई गई। युवराज खिजर खाँ उसकी ओर आकर्षित हुआ। अमीर खुसरोने उनकी प्रेम कहानी लिखी।
—डॉइनैस्टिक हिस्टरी ऑव नार्दन इण्डिया—हेमचन्द्रराय, पृष्ठ १०४४-४६, जिल्द दो।

अलाउद्दीनके समकालीन अन्य इतिहास लेखक बर्नीने 'तारीखे फिरोजशाही'में अलाउद्दीनके चित्तौड़ विजयकी बात लिखी है, किन्तु उसने भी पद्मावतीका कोई उल्लेख नहीं किया है। निष्कर्ष रूपमें यह स्वीकार किया जाने लगा है कि पद्मावतीकी कथा ऐतिहासिक नहीं है। ऐतिहासिक तथ्य इतना ही है कि—'रतनसेन चित्तौड़का राजा था और उसने कुल एक वर्षतक राज्य किया था। सुलतान अलाउद्दीनने १३०३-४ ई० में चित्तौड़पर चढ़ाई की थी और विजय प्राप्त किया था। रतनसेनके पराजित होनेपर रानियोंने जौहर किया था।' जायसीके पद्मावतपर विचार करते हुए डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने कहा है कि पद्मावतको लेकर ऐतिहासिक तथ्योंकी छान-बीन अब बन्द होनी चाहिए। किन्तु यह छान-बीन बन्द नहीं हुई। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० आशीर्वादी लालने पद्मावतीकी कथाको ऐतिहासिक माना है। उनका कहना है कि खुसरोने इस कथाका सांकेतिक उल्लेख किया है। इधर श्री इन्द्रचन्द नारंगने पद्मावतके कथा-सूत्रोंकी गहरी छान-बीन करनेके बाद सम्भावना व्यक्त की है कि जायसीने अलाउद्दीनके समकालीन रतनसीके व्यक्तित्वका निर्माण अपने समकालीन महाराणा साँगाके बेटे महाराणा रत्नसिंह (१·२८ ई०-१५३१ ई०) के चरित्रके आधारपर किया है। महाराणा रत्नसिंहका प्रतिद्वन्द्वी बूँदीका राव सूरजमल था। सूरजमलने शिकार खेलनेके बहाने रत्नसिंहको बुलाकर उसे अकेलेमें मार डालना चाहा था। दोनोंमें द्वन्द्व हुआ था और दोनोंने एक दूसरेपर प्रहार करके मृत्युका आलिंगन किया था (१५३१ ई०)। पद्मावतमें रतनसेन और देवपाल द्वन्द्वकी कल्पना इसी रत्नसेन-सूरजमल द्वन्द्वके आधारपर की गई है। रत्नसिंहकी रानी पँवार पतिके मर जानेपर सती होती है। पद्मावती भी रतनसिंहकी मृत्युपर उल्लसित भावसे सती होती है। श्री नारंगके अनुसार जायसीने जिसे 'हिन्दू तुरकन भई लड़ाई' कहा है वह बाबर और राणासाँगाका प्रसिद्ध युद्ध है। पद्मावतमें अलाउद्दीनके चित्तौड़ आक्रमणके समय दिल्लीपर हरेवोंकी चढ़ाईका उल्लेख किया गया है। अलाउद्दीनके राजत्वकालमें मंगोलोंने दिल्ली घेर लिया था। जायसीने मंगोलोंको हरेवोंके रूपमें उपस्थित किया है। गुजरातके राजा कर्णदेवके मन्त्री माधवने राजासे असन्तुष्ट होकर अलाउद्दीनको गुजरातपर चढ़ाई करनेके लिए आमन्त्रित किया था। राघवचेतन ठीक इसी

प्रकार रतनसेनसे रूठकर अलाउद्दीनको चित्तौड़पर आक्रमण करनेके लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार पद्मावतकी कहानीका उत्तरार्द्ध कविने अपने समयकी प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं और अलाउद्दीन युगीन ऐतिहासिक सूत्रोंके सम्मिलित ताने-बानेसे बुनकर उसे कल्पनामें रँगकर गाढ़ा कर दिया है। यह सत्य है कि पद्मावत काव्य-ग्रन्थ है, इतिहास-ग्रन्थ नहीं। अतः उसमें इतिहासकी यथातथ्यता ढूँढ़ना हास्यास्पद है किन्तु उसके कथा-सूत्रोंका ऐतिहासिक आधार ढूँढ़नेका प्रयत्न उपादेय ही सिद्ध होगा।

पद्मावतकी कथानक रूढ़ियाँ

आख्यानक काव्योंमें संस्कृत कालसे लेकर अद्यावधि कुछ सामान्य रूढ़ियोंका निर्वाह होता आया है। इन रुढ़ियोंका प्रयोग पुराणों और लोक-आख्यानोंमें अधिक हुआ है। अपभ्रंशके कथा-काव्योंमें इन कथानक रुढ़ियोंमें पर्याप्त विकास लक्षित होता है। अपभ्रंश-साहित्य लोकाश्रयी साहित्य है। इन रूढियोंका जन्म लोक-मानसमें ही होता है। कदाचित् इसीलिए समस्त लोकाश्रयी कथा-काव्योंमें इन रूढ़ियोंकी स्थिति देखी जा सकती है। इन कथानक-रूढ़ियोंसे तात्पर्य प्रमुख कथाके अन्तर्गत आनेवाले ऐसे प्रसंग-गर्भी मोड़ोंसे है जो कथानकको अभिलषित दिशाकी ओर अग्रसर कर देते हैं। डॉ० रामसिंह तोमरने अपने 'प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दीपर प्रभाव' शोध-ग्रंथमें तथा डॉ० हजारीप्रसाद दिवेदीने 'हिन्दी साहित्यका आदिकाल' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथमें इन कथानक रूढ़ियोंपर विस्तारसे विचार किया है। पद्मावतमें पाई जानेवाली प्रमुख कथानक रूढ़ियाँ निम्नलिखित हैं—

१. प्रेमकथाको प्रधानता देना और आश्रय-आलम्बन रूपमें राजकुमार और राजकुमारी की ही कल्पना करना।
२. गुण-श्रवण द्वारा नायकके हृदयमें प्रेमोदय दिखाना।
३. सिंहलद्वीपको सौंदर्य-प्रेम और वैभव-विलासकी श्रेष्ठ भूमिके रूपमें कल्पित करना।
४. हीरामन शुकका पंडित और वेदज्ञ होना।
५. प्रेमिकाकी प्राप्तिके लिए प्रेमीका योगी होना और अथक प्रयत्न करना।

६. महादेव और पार्वतीका प्रेम-परीक्षक और सहायक रूपमें आना ।
७. शिव-मन्दिरमें प्रेमी युग्मका प्रथम मिलन और नायकका मूर्च्छित होना।
८. कथा-विकासमें आवश्यकता होनेपर देव-वाणी और आकाशवाणीका उपयोग ।
९. पक्षीका दूत-कार्य करना ।
१०. मिलनोपरान्त भी प्रेमी-युग्मका प्रत्यावर्त्तन कालमें पुनर्वियोग ।
११. किसी अलौकिक शक्ति (लक्ष्मी) की कृपासे पुनर्मिलन ।
१२. सपत्नीके प्रति ईर्ष्या ।
१३. लौकिक कथाके माध्यमसे आध्यात्मिक प्रेमकी व्यञ्जना ।

इन रूढ़ियोंके प्रयोग द्वारा कविको कथाके विकासमें तो सहायता मिली ही है, उसके अन्य प्रयोजन भी सिद्ध हुए हैं। प्रेम-कथाका आधार लेकर कविने सूफी प्रेम-तत्त्वको अभिव्यक्ति की है। सिंहल द्वीपकी कल्पनासे उसे बिहिस्तके अबाध विलासके चित्रणमें सहायता मिली है। प्रेमिकाकी प्राप्तिके लिए नायकके अथक उद्योगका चित्रण करके उसने भारतीय समाज-मर्यादाका आदर्श उपस्थित किया है। पार्वती और महादेवको परीक्षक और सहायक कल्पित करके कविने भारतीय जन-जीवनके आदिम विश्वासको मूर्त किया है। नायिकाके भुवन-मोहन सौन्दर्यके प्रथम साक्षात्पर नायकको संज्ञा-शून्य होता हुआ दिखाकर कविने चरम आध्यात्मिक सौन्दर्य (Supreme beauty) के महत् प्रभावकी व्यञ्जना की है। आकाशवाणी और देववाणीके विधानसे कथामें रोमाञ्चकताका सन्निवेश तो हुआ ही है, भारतीय विश्वास-परम्पराकी रक्षा भी हुई है। पक्षीको दूतत्व प्रदान करके कविने मानवीय संवेदना-सीमाकी असीमताकी ओर संकेत किया है। सपत्नीके प्रति ईर्ष्याके प्रयोग द्वारा नारी-स्वभावकी चिरन्तन संकीर्णताकी ओर संकेत किया गया है। लौकिक प्रेम-कथाको आध्यात्मिक सत्यकी उपलब्धिका आधार दिखाकर कविने संसारको 'कागदकी पुड़िया' होनेसे बचा लिया है। इसी प्रकार जायसी द्वारा स्वीकृत अन्य कथानक रूढ़ियोंका भी विशेष प्रयोजन लक्ष्य किया जा सकता है।

पद्मावतकी कथाका विश्लेषण

पद्मावतका सारा कथानक रामचरितमानसकी कथाकी भाँति अविच्छिन्न

भावसे गतिशील नहीं है। स्थूल दृष्टिसे भी कथाको पूर्वार्द्ध (प्रारम्भसे पद्मावती-परिणयतक) और उत्तरार्द्ध (राघवचेतन देश निकालासे लेकर अन्ततक) इन दो खण्डोंमें बाँट सकते हैं। कथाका पूर्वार्द्ध अपनेमें पूर्ण है, उत्तरार्द्धकी कथा उसमें जोड़ी हुई प्रतीत होती है। पूर्वार्द्धकी कथाको विकास देनेवाले सूत्रोंका उपयोग उत्तरार्द्धमे नहीं किया गया है। पूर्वार्द्धके कथा-सूत्रोंका संघटन तो लोक अनुश्रुतियों एवं नाथ-पंथी साधकोंमें प्रचलित किंवदन्तियोंके आधारपर किया गया है। इस संघटनमें परम्परागत कथानक रूढ़ियोंसे कविको पर्याप्त सहायता मिली है। किन्तु उत्तरार्द्ध की प्रासंगिक कथायें पूरे कथानकको ऐतिहासिक संस्पर्श देने तथा उसकी काव्यानुकूलतामें वृद्धि करनेके निमित्त कल्पित की गई हैं। उत्तरार्द्धके कथानकका सारा ब्योरा चाहे ऐतिहासिक न हो, किन्तु चित्तौड़पर अलाउद्दीन-की चढ़ाई, रत्नसेनका युद्ध, राजपूतबालाओंका जौहर और अलाउद्दीनकी विजय, ये ऐतिहासिक तथ्य हैं। इन तथ्योंमें कल्पनाका योग करते समय कविने दो बातोंका ध्यान रखा है—एक तो नायकके गौरवकी रक्षा और दूसरे ऐतिहासिक सम्भावनाकी रक्षा। मध्ययुगमें सामन्तीय युद्ध-विग्रहके प्रधान कारण तीन थे—राज्यविस्तार और शक्ति-प्रदर्शन, स्त्रीहरण और रूप-लिप्सा, धर्म-प्रचार और धर्म-रक्षा। अलाउद्दीनकी चढ़ाईका प्रधान कारण पद्मावतीकी रूप-लिप्सा ही है।[1] समुद्रसे पाये हुए रत्नोंकी बात तो राघवचेतनने बादमें कही और उस समय अलाउद्दीनने उसपर विशेष ध्यान भी नहीं दिया। यदि यह मान भी लिया जाय कि अलाउद्दीनने राज्यविस्तार और इसलाम-प्रचारके लिए ही आक्रमण किया था और 'पद्मावती-प्राप्ति' की सारी कथा इतिहास-विरुद्ध एवं काल्पनिक है, तो भी कविकी यह कल्पना ऐतिहासिक सम्भावना एवं युग-प्रवृत्तिके अनुकूल है। इसी प्रकार राघवचेतनकी कल्पनाका भी काव्यगत महत्व है। एक ओर तो वह वाममार्गी, अहमन्य एवं अविवेकी साधकोंका प्रतिनिधित्व करता है, दूसरी ओर राष्ट्र-द्रोही एवं राज्यद्रोहीके रूपमें सामने आता है। आक्रामकको एक भेदियेकी आवश्यकता होती है। रक्षात्मक युद्ध करनेवाला घरके भेदीसे ही विनष्ट होता है। इतिहास कुछ भी कहे, कवि-कल्पना—'घरका भेदी लंका

---

[1] तब अलि अलाउदीन जगसूरू। लेउँ नारि चितउर कै चूरू।

—पद्मावत, वासुदेवशरण अग्रवाल संस्करण

दावै—की उक्तिको सदैव सत्य स्वीकार करती रहेगी। मध्ययुगमें इस प्रकारकी घटनायें अपवाद नहीं सामान्य सत्य बन गई थीं। इस दृष्टिसे राघवचेतनका कल्पित सूत्र विशेष महत्त्व रखता है। रत्नसेनका दिल्लीमें बन्दी होना दिखाकर कविने पद्मावती-नागमती विलाप, देवपाल-दूती-प्रसंग, बादशाह-दूती (जोगिन) प्रसंग तथा गोरा-बादल-प्रसंगके विस्तारका अवसर निकाल लिया है। देवपाल-प्रसंगकी योजना रत्नसेनकी आन बचानेके लिए की गई है। देवपाल-दूती प्रसंगके आधारपर पद्मावतीके प्रेमकी परीक्षा ली गई है जो परिस्थितियोंको देखते हुए अधिक समीचीन नहीं कही जा सकती। रत्नसेनके सम्मुख देवपाल जैसे हीन प्रतिनायकको खड़ा करके पद्मावतीके प्रेमको विचलित करनेकी चेष्टा तो सिंह-वाहिनीको भालूपर आसीन करानेके उपहास्य प्रयत्न जैसी है। पद्मिनीने ठीक ही कहा था—

मोरे पियक सतुरु देवपालू। सो कत पूज सिंघ सरि भालू।

× × ×

जेहि ऊपर अस गरुवा पीऊ। सो कस डोरु डोलायें जीऊ॥

सब कुछ होनेपर भी पद्मावतका कथानक शिथिल ही कहा जायगा। कथा-विकासकी दृष्टिसे उसका विभाजन 'आरम्भ', 'आरोह', 'चरमसीमा', 'अवरोह' और 'अन्त' जैसे खंडोंमें नहीं किया जा सकता। ये स्थितियाँ तो पूर्वार्द्धके कथानकमें भी लक्षित की जा सकती हैं और उत्तरार्द्धके कथानकमें भी, क्योंकि दोनों कथायें स्वयं अपनेमें पूर्ण हैं। पूर्वार्द्धमें आनेवाली प्रासंगिक कथायें उत्तरार्द्धमें छूट गई हैं। पूर्वार्द्धमें हीरामन तोताका कथा-विकासमें महत्त्वपूर्ण योग है किन्तु उत्तरार्द्धमें वह मंचसे गायब हो जाता है। यह शिथिलता दो स्वयं पूर्ण कथानकोंको एकमें जोड़नेके कारण आ गई है। लोक-कथाओंमें प्रायः ऐसा होता है। कथा-सूत्र टूट-टूटकर पुनः जुड़ जाते हैं और कथाका अन्त होते-होते पुनः विस्तार कर दिया जाता है। जायसीकी कथा-विस्तार-पद्धति शास्त्रीय नहीं है। वे एक प्रकारसे लोक-कथा गायक हैं। लोक-कथायें मार्मिक, करुणापूर्ण और मोहक होती हैं। पद्मावतकी कहानी भी ऐसी ही है।

पद्मावत प्रेम-गाथा है, पूर्ण जीवन-गाथा नहीं

पद्मावतकी कहानी प्रेमको केन्द्र-विन्दु मानकर पल्लवित की गई है। वह अपने पूर्ण रूपमें भी एक प्रेम-गाथा ही है, जीवन-गाथा नहीं। यद्यपि पद्मावतकी कथामें ऐसी अनेक स्थितियाँ आई हैं जहाँ जीवनके अन्य पक्षोंकी भी अभिव्यक्ति हुई है किन्तु यह अभिव्यक्ति प्रेमकी तीव्रता और महत्तामें सहायक बनकर रह गई है। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि कवि सामाजिक प्रश्नों, स्थितियों, संघर्षों एवं गुत्थियोंको उभारने और प्राथमिकता देने के लिए प्रसंग-योजना कर रहा है। कहीं-कहीं तो कविकी व्यापक संवेदनशीलताके कारण ही लोक-जीवनके अन्य पक्षोंकी झलक मिल गई है। कविका उद्देश्य केवल प्रेम-तत्त्वकी व्यञ्जना करना रहा है। पूरी कहानीमें निम्नलिखित स्थान ऐसे हैं, जहाँ प्रिय-निष्ठ प्रेमके साथ जीवनकी अन्य वृत्तियोंको भी अभिव्यक्तिका अवसर मिला है।

(क) रत्नसेनके बिरक्त होकर गृह-त्यागके अवसरपर—पुत्र-स्नेहकी शीतल धारा अन्तसूसे फूटकर स्रवित हो उठती है।[1]

(ख) पद्मावतीकी बिदाई (सिंहलसे) के अवसरपर—सखी-स्नेह, मातृ-प्रेम, परिवार-प्रेम और जन्म-भूमि-प्रेमकी व्यञ्जना हुई है।[2]

---

१. विनवै रतन सेन कै माया। माथे छात पाट नित पाया।
विलसहु नौ लख लच्छि पियारी। राज छौंड़ि जिनि होहु भिखारी।
—(मातृ-स्नेह)

× × ×

२. गवनचार पदमावति सुना। उठा धसकि जिउ औ सिर धुना।
गहवर नैन आए भरि आँसू। छाँड़ब यह सिंघल कविलासू।
—(जन्मभूमि-प्रेम)

× × ×

धनि रोवत रोवहिं सब सखी।
—(सखी-स्नेह)

× × ×

रोवहिं मात पिता औ भाई। कोउ न टेक जौ कंत चलाई।
—(परिवार प्रेम)

(ग) राघव-चेतन-देश-निकालाके अवसरपर—अनिष्टकी 'आशंका' और 'भय'की अभिव्यक्ति हुई है ।[१]

(घ) बादशाह चढ़ाईके अवसरपर—व्यक्तिगत अपमानसे क्रुद्ध और देश-रक्षाकी भावनासे उल्लसित रत्नसेनमें 'उत्साह'की भावना जाग उठी है ।[२]

(ङ) रत्नसेन बंधनके अवसरपर—'करुणा' और 'छल' आदि भावनायें व्यक्त हुई हैं ।[३]

(च) देवपाल-दूती आगमनके अवसरपर—पद्मावतीके 'सतीत्व'की व्यञ्जना हुई है ।[४]

(छ) गोरा-बादल युद्ध-यात्राके अवसरपर—'स्वामिभक्ति', 'वीरत्व', 'मातृ-स्नेह' और 'पति-प्रेम' आदि कई भाव एक ही साथ व्यक्त हुए हैं ।[५]

---

[१] ज्ञानदिस्टि धनि अगम बिचारा । भल न कीन्ह अस गुनी निसारा ।
—(आशंका)

× × ×

[२] सुनि अस लिखा उठा जरि राजा । जानौ दैउ तड़पि घन गाजा ।
का मोहिं सिंघ देखावसि आई । कहौ तौ सारदूल धरि खाई ।

× × ×

तुरुक ! जाइ कहु मरै न धाई । होइहिं इसकंदर कै नाई ।

[३] कै कै कारन रोवै बाला । जनु टूटहिं मोतिन्ह कै माला ।
छर कीजै बर जहाँ न आँटा । लीजै फूल टारिकै काँटा ।

× × ×

[४] सोन नदी अस मोर पिउ गरुआ । पाहन होइ परै जो हरुवा ।
जेहि ऊपर अस गरुआ पीऊ । सो कस डोलाए डोलै जीऊ ।

× × ×

[५] को मोहिं सौंह होइ मैमंता । फारौं सूँड़ उखारौं दंता ।
जुरौं स्वामि-सँकरे जस ढारा । पैलौं जस दुरजोधन भारा ।
—(वीरत्व और स्वामिभक्ति)

× × ×

बादल केरि जसोवै माया । आइगहेसि बादल कर पाया
—(मातृ-स्नेह)

× × ×

यदि हम उपर्युक्त सभी स्थितियोंपर गम्भीरता पूर्वक विचार करें तो रत्नसेनके गृह-त्याग और पद्मावतीकी बिदाईके अवसरपर जो पुत्र-स्नेह, मातृभूमि-प्रेम या सखी-स्नेह और पारिवारिक-प्रेमका चित्र उपस्थित किया गया है वह कविकी व्यापक संवेदन-शीलताके कारण आगया है तथा इससे मूल-कथाके प्रेमकी तीव्रता और उत्कटता व्यञ्जित हुई है। कवि यह कहना चाहता है कि प्रियके उत्कट, मादक, उन्मद, तीव्र और गहन प्रेमके सम्मुख पारिवारिक प्रेमकी स्थिति नगण्य है।

रोवहिं मात-पिता औ भाई। कोउ न टेक जौ कंत चलाई॥

यही स्थिति रत्नसेनके पक्षमें भी देखी जा सकती है। पद्मावतीके प्रति रत्नसेनका उत्कट प्रेम नागमतीके दाम्पत्य प्रेमकी अवहेलना कर देता है। इस प्रकार जायसीकी दृष्टिमें मातृभूमि, परिवार, सखी, माता एवं परिणीता-पत्नी आदिके प्रेम (ये सभी समाज-निष्ठ प्रेम हैं) से कहीं अधिक उत्कृष्ट प्रियनिष्ठ (साध्यके प्रति व्यक्त) प्रेम है। नागमती-वियोगकी समस्त मार्मिकताका प्रयोजन भी इससे भिन्न नहीं है। विवाहिता-पत्नीकी मर्म-भेदी कातरता भी प्रेमीको प्रेमिकाके सहज आकर्षणसे विचलित नहीं कर पाती। गोरा-बादलका उत्साह भी प्रासंगिक है। वह रत्नसेनको मुक्त करके पद्मावतीके प्रेमको सार्थक बनानेके लिए है। उसका लोकव्यापी उद्देश्य नहीं है। रामकथामें (जो पूर्ण-जीवन-गाथा है) रामका उत्साह केवल सीताकी मुक्तिके लिए नहीं है, वह देव-ऋषि-रक्षा एवं लोक-रक्षाके लिए भी है। स्पष्ट है कि पद्मावतमें निरूपित प्रेम सर्वथा एकान्तिक एवं लोक-बाह्य चाहे न हो किन्तु वह जीवनको उसकी समग्रतामें ग्रहण करनेवाला नहीं है। सत्य तो यह है कि 'पद्मावत' शृंगार-रस-प्रधान काव्य है और उसका बीज-भाव प्रेम ही है। यह कथा प्रियकी अद्वैतताकी सिद्धि करानेवाली है। लोक-मंगलका विधान करनेवाली नहीं। समग्र जीवनका विधान करनेवाली एवं लोक-मंगलकी दृष्टि-से लिखी गई कथाका बीज-भाव 'करुणा' ही हो सकता है। क्योंकि लोक-मंगलका विधान करनेवाली वृत्ति तो 'करुणा' ही है।

पायन्ह धरा लिलाट धनि, विनय सुनहु, हो राय।
अलक परी फँदवार होइ, कैसेहु तजै न पाय॥

—(पति-प्रेम)

जायसीका प्रेमादर्श

जायसीका प्रेमादर्श सूफी प्रेम-तत्त्वके अनुकूल है। सूफियोंके अनुसार ईश्वर (खुदा) परम सौन्दर्य-मय है। एक मात्र वही प्रेमका उचित पात्र है। मानवकी मूल प्रवृति रागमयी है। मनुष्यकी आत्मा पूर्णत्वकी उपलब्धिके लिए सहज भावसे और सतत रूपसे प्रयत्नशील रहती है। सौन्दर्य, समत्व और पूर्णत्वकी स्थितिका ही नाम है। मानवके सारे प्रयत्नोंका अन्तिम लक्ष्य इसी परम सौन्दर्य (समत्व और पूर्णत्व) की उपलब्धि है। ईश्वर परम सौन्दर्यमय है और इसीलिए पूर्ण है। जिसमें पूर्णता-प्राप्तिका एकान्त आग्रह है उसे ईश्वरका अनुकरण करना चाहिए। ईश्वर-प्राप्तिकी सतत चेष्टा प्रेमका ही एक रूप है। संसारके सभी उपकरणोंमें सौन्दर्य व्याप्त है। सौन्दर्यका अस्तित्व भौतिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक हो सकता है। इन सभी स्थितियोंमें एक ही अखंड सौंदर्य-सत्ता प्रतिबिम्बित होती है। उस सौंदर्यमयी सत्ताकी अनुभूतिका एकमात्र उचित माध्यम प्रेम है।[१]

---

[१] "God is the Supreme Beauty and the only deserving object of love, which means attachment to a thing, which gives a certain kind of benefit or pleasure.........The strong bent for self-perfection and freedom from all needs is inherent in every thing, and it is the inner yearning of all human beings.........Beauty is harmony and perfection and therefore it is that all endeavour is to become beautiful or perfect. The Supreme Beauty is God and therefore He is the Perfect Being, and one who wishes to become perfect, must imitate Him and endeavour to become like Him......... Such endeavour is called love. Beauty takes various forms; is observed in all creatures. Beauty is classified as under: (i) Physical beauty; (ii) Mental and intellectual, and (iii) Spiritual. All these are different reflection of the one Supreme Beauty, and, therefore, appreciated by lovers of Beauty."

—*Outlines of Islamic Culture*, pp. 356-357
by A. M. A. Shushtery, 1954.

प्रेमके बलपर मिट्टीका मानव दुर्लभ देवत्व प्राप्त कर लेता है। वैकुण्ठी जीव बन जाता है।[१] हृदय में प्रेमकी ज्योति प्रज्ज्वलित होनेसे हृदय निर्मल हो जाता है।[२] तीनों लोकों और चौदहो भुवनोंमें प्रेमके अतिरिक्त और कोई वस्तु लोनी (लावण्यमयी) नहीं है।[३] प्रेम आकाशसे भी ऊँचा है। आकाशके ध्रुवसे भी ऊँचा प्रेमका ध्रुव है।[४] दुःखमयी परिस्थितियोंके भीतर प्रेमका मधु निवास करता है।[५] जिसने प्रेमके समुद्रका दर्शनकर लिया है उसे साधारण समुद्र तुच्छ प्रतीत होता है।[६] जिसके हृदयमें प्रेम प्रज्वलित है उसके लिए अग्नि भी चन्दनके समान है।[७] जिसने प्रेम की सुराका पानकर लिया है उसे मरने या जीनेका भय नहीं रह जाता। किन्तु यह प्रेम-साधना आसान नहीं है। प्रेमके पथपर जो अपना शिर उत्सर्गकर देता है वही शोभा पाता है।[८] इस प्रेम-पथपर वही अग्रसर हो सकता है जो संसारसे उदासीन हो चुका हो; जो जोगी, जपी, तपस्वी

---

१. मानुस प्रेम भएउ बैकुण्ठी। नाहिं त काह छार एक मूँठी। (१६६।२)

× × ×

२. लेसा हियँ प्रेम कर दिया। उठी ज्योति भा निरमल हिया। (१८।२)

× × ×

३. तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहिं सूझि।
प्रेम छाँड़ि किछु और न लोना जौं देखौं मन बूझि॥ (९५।५)

× × ×

४. गँगन दिस्टि सौं जाइ पहूँचा। प्रेम अदिस्ट गँगन सौं ऊँचा। (१२२।६)

× × ×

धुव ते ऊँच प्रेम धुव उवा। सिर दै पाउँ देइ सो छुवा। (१२२।७)

× × ×

५. दुःख भीतर जो प्रेम मधु राखा। गंजन मरन सहै सो चाखा। (९६।३)

× × ×

६. औ जेइ समुद प्रेम कर देखा। तेइँ यह समुँद बुंद बरुलेखा। (१४२।५)

× × ×

७. जेहि जियँ प्रेम चँदन तेहि आगी। प्रेम बिहून फिरहिं डरि भागी। (१५२।५)

८. प्रेम सुनत मन भूलु न राजा। कठिन प्रेम सिर देइ तौ छाजा।

× × ×

और संन्यासी हो ।[१] प्रेम-पथ पर चलनेवाला 'दिन' औ 'घरी' नहीं देखता ।[२] उसके लिए तो एक-एक क्षण मूल्यवान होता है । उसकी प्रियतमसे मिलनेकी अदम्य इच्छा समस्त सांसारिक बाधाओंकी उपेक्षा करके उसे प्रेम-पथपर अग्रसर कर देती है । इस प्रेम-पथपर चलता हुआ जो लक्ष्यतक पहुँच जाता है वह पुनः इस नश्वर जगत्में नहीं आता ।[३] प्रेमके पर्वतपर वही चढ़ सकता है जिसने शिरके बल चढ़ना सीख लिया है ।[४] जिसके घरमें ही दस पंथ हैं, (इन्द्रियोंसे तात्पर्य है) जिसकी कायामें पाँच चोर निवास करते हैं । (काम, क्रोध, तृष्णा, मद, माया से तात्पर्य है) वह प्रेमके पथपर नहीं चल सकता ।[५] प्रेमकी लताके साथ विरहकी अग्निका सम्बन्ध स्वाभाविक है । प्रेमीको विरहाग्नि भी सरस प्रतीत होती है । सच्चा कवि वही है जिसके काव्यमें प्रेम-मधुका अमूल्य-रस भरा हुआ है । जिसकी वाणीमें विरहकी वेदना है । प्रेमका कवि ही सच्चा कवि है । उसके शरीरमें न रक्त रहता है न मांस । वह समस्त व्यक्त प्रकृतिको अव्यक्त और रहस्यमयी सत्ताके प्रेममें व्याकुल और मिलनके लिए उत्सुक देखता है । उसे सर्वत्र प्रेमकी लालिमा दिखाई देती है । वह चराचरको रहस्यमयी सत्ताके प्रेम-बाणोंसे विद्ध अनुभव करता है । जायसी ऐसे ही प्रेम-कवि थे ।

मुहमद कवि जो प्रेमका ना तन रकत न माँसु ।
जेइँ मुख देखा तेइँ हँसा, सुना तो आए आँसु ॥ २३।१।२३

जायसीकी भाव-व्यंजना

मनोभाव, वाह्य-जीवनके प्रति मानव-मनकी रागमूलक प्रतिक्रिया है । यह

---

१. ओहि पंथ जाइ जो होइ उदासी । जोगी जती तपा सन्यासी ।

× × ×

२. प्रेम पंथ दिन्ह घरी न देखा । तब देखै जब होइ सरेखा । (१२७।२)

× × ×

३. प्रेम पंथ जो पहुँचै पारा । बहुरि न आइ मिलै यहि छारा । (१४६।७)

४. पेम पहार कठिन विधि गढ़ा । सो पै चढ़ै सीस सों चढ़ा । —१२४।३

× × ×

५. तू राजा का पहिरसि कंथा । तोरें घटहिं माँह दस पंथा । —१२४।५
काम क्रोध तिस्ना मद माया । पाँचौ चोर न छाँड़हिं काया —१२४।६

प्रतिक्रिया जड़ और चेतन दोनोंके प्रति होती है। जड़-सत्तामें चेतन व्यक्तित्व कल्पित या आरोपित होता है। अतः उसके प्रति मानव-मनकी प्रतिक्रिया अधिक प्रगाढ़, ऊष्ण और स्थायी नहीं हो सकती। मानव-मनकी जो प्रतिक्रिया अन्य मानवके प्रति होती है वह अधिक वेगमयी, तीव्र और गहरी होती है। मानव-जीवनके सामाजिक विकासके साथ-साथ मानसिक प्रतिक्रियाका अनेक रूपात्मक विकास होता आया है और कदाचित् इसीलिए मनोभावोंकी संख्या और स्वरूपमें वृद्धि और परिवर्तन होता आया है। मनोभावोंका जीवन और समाजसे अटूट सम्बन्ध है। इनके उद्भव, विकास और औचित्यका निर्णय सामाजिक दृष्टिसे ही किया जा सकता है। प्रबन्ध-काव्य (महाकाव्य) जीवनको उसकी समग्रतामें ग्रहण करता है। उसमें व्यक्ति, परिवार समाज और राष्ट्रका अंग बनकर आता है। इन सबके प्रति उसकी मनोगत प्रतिक्रियाएँ (मनोभाव) समय-समयपर व्यक्त होती रहती हैं। ऐसे काव्योंमें व्यक्त मनोभाव पात्रोंके जीवनके अंग रूपमें आते हैं। जीवनकी जितनी ही विशद भूमिको लेकर महाकाव्यका सृजन किया जायगा उसमें उतनी ही भाव-प्रसार और भावोत्कर्षकी सम्भावना होगी।

'पद्मावत' जीवनको समग्रतामें ग्रहण करनेवाला महाकाव्य नहीं है। इसलिए इसमें मानव जीवनमें आनेवाले सभी भावोंकी व्यंजना नहीं हो सकी है। इसमें 'रति'को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। अन्य भावोंकी स्थिति प्रासंगिक है। प्रियके अनिष्टकी आशंकासे 'शोक' उत्पन्न होता है। इसीलिए रत्नसेनके योगी होकर पद्मावती-प्राप्तिके लिए घरसे निकलते समय माता और रानियाँ 'शोक-मग्न' हो जाती हैं[१]। इस अवसरपर 'शोक'का पूर्ण चित्र मिलता है। 'विषाद' संचारी है। रानियोंका रोना और बाल नोचना अनुभाव हैं। रत्नसेन आलम्बन और रानियाँ आश्रय हैं। रत्नसेनका योगी रूप उद्दीपन का कार्य कर रहा है। किन्तु यहाँ भी प्रेरक भाव वियोग-रति ही है। 'युद्धोत्साह'का चित्रण, 'बादशाह चढ़ाई खंड', 'राजा-बादशाह-युद्ध-खंड' और 'गोरा-बादल-युद्ध-खंड'में हुआ है।

---

१. रोवै मता न बहुरै बारा। रतन चला जग भा अँधियारा। (१३३।१)

× × ×

रोवहिं रानी तजहिं पराना। फोरहिं वलय करहिं खरिहाना। (१३३।३)

पद्मावती-रत्नसेन-मिलनके उपरान्त षट-ऋतु-वर्णन खंडमें 'वीर' और 'शृंगार'की योजना (उत्साह और रति) एक साथ कर दी गई है।[१] जिसे अधिक संगत और सुरुचि पूर्ण नहीं कह सकते। 'क्रोध'का वर्णन 'राजा-गढ़ छेंका' खंड तथा 'गोरा-बादल-युद्ध-खंड' के अन्तर्गत किया गया है।[२] युद्ध-वर्णन में ही 'जुगुप्सा' (बीभत्स)की व्यञ्जना की गई है।[३] यह वर्णन परम्परानुसार हुआ है। समुद्र-वर्णनके अन्तर्गत 'भय' की व्यञ्जना हुई है।[४] 'राजा रत्नसेन वैकुण्ठ वास खंड' और 'पद्मावती नागमती सती खंड' में 'निर्वेद'का बड़ा ही गम्भीर व्यापक और उदात्त वर्णन किया गया है।[५] काव्य-परम्परामें भाव-चित्रणके दो रूप मिलते हैं। (क) भाव विशेषके आलम्बन मात्रका वर्णन और (ख) आलम्बनके चित्रणके साथ ही आश्रयके अनुभावोंकी सूचना देकर उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति। 'भय' और 'जुगुप्सा' की व्यञ्जना करते समय जायसीने आलम्बनके वर्णनमें ही अधिक रुचि दिखाई है। शेष भावोंकी व्यञ्जनामें दोनों पक्षोंका चित्रण किया है। भाव-चित्रणकी मुख्यतः दो रीतियाँ हैं। एक परम्परा तो शास्त्र-स्थिति-सम्पादन मात्रकी है जिसमें विभाव, अनुभाव और संचारी भावोंका एकत्र विधान करके रस-निष्पत्तिकी रस्म पूरी की जाती है। दूसरी परम्परा

---

[१] हौं अस जोगि जान सब कोऊ। बीर सिंगार जिते मैं दोऊ।
उहाँ त समुँह रिपुन दर माहाँ। इहाँ त काम कटक तुव पाहाँ। (३३४।१,२))

[२] बसिठन्ह जाइ कही अस बाता। राजा सुनत कोह भा राता। —(२२२।१)
तब सरजा कोपा बरिबंडा। जनहु सदूर केर भुजदंडा।

× × ×

[३] कंध कबंध पूरि भुईं परे। रुहिर सलिल होइ सायर भरे।
अनँद बियाह करहिं मँसुखाए। अब भख जरम जरम कहँ पाए।—(५१९।२,३)

× × ×

[४] पुनि किल-किला समुँद महँ आए।
किल किल उठा देखि डरु खाए। —(१५५।१)

× × ×

[५] काकर लोग कुटुँब घरबारू। काकर अरथ दरब संसारू।
ओहि घरी सब भएउ परावा। आपन सोइ जो बेरसा खावा। —(६४७।३,४)

जीवन-धाराकी गतिके साथ स्वतः परिस्थितिके आग्रहपर उत्पन्न होनेवाले भावोंके स्वाभाविक चित्रण की है। जायसीके भाव-चित्र दूसरी कोटिमें आते हैं। इसीलिए वे हावोंका विधान और अनुभावोंकी योजना अधिक नहींकर सके हैं। मूल्याङ्कनकी दृष्टिसे भाव-व्यञ्जनाके सम्बन्धमें दो बातें द्रष्टव्य हैं। (क) भावोंकी विविधता और गूढ़ताको लक्षित करना (यह देखना कि कितने अधिक और गूढ़ मानसिक विकारोंतक कविकी दृष्टि पहुँची है) और (ख) भावोंका उत्कर्ष कहाँतक हुआ है? औचित्यका प्रश्न इसी उत्कर्षके साथ ही उठता है। जायसीमें भावोंकी विविधता और गूढ़ताका अभाव है। इसके दो कारण हैं—एक तो वे 'रति' को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं; अतः अन्य भाव स्वभावतः उपेक्षित हो जाते हैं। दूसरे वे वस्तु-वर्णनका लोभ संवरण नहीं कर पाते। इसलिए गूढ़ मनःस्थिति-चित्रोंमें उलझनेका उन्हें अवसर ही नहीं मिलता। उत्कर्षकी दृष्टिसे जायसीका महत्त्व हिन्दीके किसी कविसे कम नहीं है। पद्मावतमें 'रति' को सर्वाधिक उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। यह उत्कर्ष संयोग और वियोग दोनों स्थितियोंमें चरम-सीमातक पहुँच गया है। संयोग-पक्षमें 'रति' (शृंगार) को उत्कर्ष देनेके लिए (क) आलम्बनका रूप-वर्णन, (ख) प्रकृतिका मोहक-उद्दीपक रुप-चित्रण, (ग) मिलनके विविध प्रसंगोंकी योजना और (घ) आश्रयकी अनुभावात्मक चेष्टाओंका वर्णन किया जाता है। आलम्बनके रूप-वर्णनमें जायसीका मन खूब रमा है। पद्मावतीका रुप-चित्रण करते समय जायसी न तो थकते हैं, न अघाते हैं। पद्मावतीके युवती होनेपर वे एकबार उसका नख-शिख वर्णन कर जाते हैं। मानसरोवरमें स्नान करनेके लिए उद्यत पद्मावतीका वे संक्षिप्त किन्तु मोहक चित्र खींचते हैं। रत्नसेनके आग्रहपर हीरामन तोते द्वारा वे पुनः उल्लसित भावसे विस्तारपूर्वक उसका रूप-वर्णन करते हैं। पद्मावती-रत्नसेन भेंटके पूर्व वे पद्मावतीका शृंगार-वर्णन करते हैं और प्रसंगवश एक बार फिर उसका अलंकृत सौन्दर्य अंकित कर देते हैं। लक्ष्मी-समुद्र-खंडमें क्लान्त पद्मावतीका शिथिल-मलीन रूप-चित्र प्रस्तुत करना भी वे नहीं भूलते। नागमती-पद्मावती-विवादके अवसपर स्पर्धाकी भावनासे स्वयं पद्मावती अपना रूपोत्कर्ष प्रकट करती है। अलाउद्दीन के यहाँ पहुँचकर राघवचेतन पूरे विस्तारसे पद्मावतीका रूप-वर्णन करता है। सामान्यतः इन वर्णनोंका विस्तार पाठकको उबानेवाला

सिद्ध होता किन्तु ऐसा नहीं हुआ है। क्योंकि एक तो ये वर्णन कथा-प्रवाहमें अवसरके अनुकूल परिस्थिति के आग्रहसे किये गए हैं। दूसरे, कविकी भाषा बड़ी मोहक और प्यारी है। तीसरे, रूप-वर्णनमें गृहीत उपमान सादृश्यके आधापर लाये गए हैं जो चित्रको सजीव करते चलते हैं। इन सभी वर्णनोंमें 'रति' को 'श्रृंगार-रस' की स्थितितक पहुँचानेवाला वर्णन 'पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खंड' वाला माना जा सकता है। यह वर्णन विस्तृत न होनेपर भी बड़ा ही भव्य है—"पद्मावती जब अपना श्रृंगार करने लगती है तब ऐसा प्रतीत होता है मानों विधाताने पूनोंकी रातका प्रकाश छिटका दिया हो। जब वह स्नान करके वस्त्र धारण करने लगती है तो उसकी आभाके सामने सूर्य छिप जाता है। जब वह जड़ाऊ आभूषण पहनकर खड़ी होती है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि आकाश उसकी माँगका दर्पण है और उसमें बिम्बित चाँद और तारे उसके आभूषणोंकी छाया मात्र हैं। उसके कंठमें हार ऐसा लगता है मानो चन्द्रमाने नक्षत्रोंकी माला धारण कर ली हो। जब वह प्रियतमसे मिलने चलती है तब सभी रूप-गर्वितायें लज्जित होकर छिप जाती हैं। सखियाँ, पद्मावतीको लेकर रत्नसेनके पास आती हैं मानो नक्षत्रगण चन्द्रमा-को साथ लेकर सूर्यके समीप आ जाते हैं। शशि अपनी सोलह कलाओंसे सूर्यकी सहस्रों कलाओंको खींच लेता है। सूर्य अस्त हो जाता है। तारागण हँस देते हैं।" कहना न होगा कि यह चित्र अपनी भव्यता, पूर्णता, सांकेतिकता और प्रतीकात्मकतामें बेजोड़ है।

जायसीने 'रति' (श्रृंगार) वर्णनमें प्रकृतिको उद्दीपन रूपमें चित्रित किया है। 'संयोग-रति'को उद्दीप्त करनेके लिए वे षट्-ऋतु वर्णन करते हैं और वियोग 'रति'के लिए बारहमासा। अपभ्रंश काव्योंमें षट्-ऋतु एवं बारहमासा वणंनकी परम्परा ('रति' भावको उद्दीप्त करनेके लिए) मिलती है। षट्ऋतु-वर्णन तो आदिकाव्य वाल्मीकि-रामायणमें भी है किन्तु बारहमासेकी परम्परा लोकाश्रयी काव्योंकी विशेषता है। अपभ्रंशमें विनयचन्द्र सूरि कृत 'नेमिनाथ चतुष्पदिका (१२५७ वि०) में राजमतीका वियोग वर्णन बारहमासा-वर्णनकी पद्धतिपर किया गया है।[१] संदेश रासकमें भी षट्-ऋतु वर्णन वियोग रतिको प्रगाढ़ करनेके लिए किया गया है। जायसीके पद्मावतमें जीवनकी मर्मव्यथाको मुखरित करनेवाले

---

[१] अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ ३६७, हरिवंश कोछड़।

सादृश्यमूलक प्रकृति-चित्र बड़े ही मोहक हैं। यही विशेषता 'संदेश रासक' के कविकी है। पंडितोंने तो प्रमाण देकर जायसीका अब्दुल रहमानसे प्रभावित होना सिद्ध किया है।[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने 'सन्देश रासक'के कविकी विशेषताका उल्लेख करते हुए कहा है—'सन्देशरासकका कवि बाह्य वस्तुओंकी सम्पूर्ण चित्रयोजना इस कौशलसे करता है कि उससे विरहिणीके व्यथा-कातर सहानुभूति-सम्पन्न कोमल हृदयकी मर्मवेदना ही मुखर हो उठती है।'[2] ठीक यही स्थिति जायसीकी भी है।

मिलनके प्रसंगोंकी उद्भावना जायसी अधिक नहीं कर सके हैं। प्रबन्ध काव्योंमें नायक और नायिकाका मिलन कथा-प्रसंग-सापेक्ष्य होता है। इसलिए कवि मनमानी नहीं कर सकता। यों भी सूफी कवि मिलनसे अधिक महत्त्व विरहको देते हैं। पद्मावतमें मिलनके कुल तीन अवसर आये हैं—**पद्मावती-रत्नसेनका सिंहलगढ़में मिलन**; सिंहलसे लौटनेके बाद **नागमती-रत्नसेन मिलन**; और बंधन-मोक्षके बाद **पद्मावती-रत्नसेन मिलन**। इनमें पहला चित्र विस्तृत है। इसमें सखियोंके हास-परिहासकी योजना भी की गई है। दूसरा चित्र संक्षिप्त है। इसमें नागमतीको मानिनीके रूपमें दिखाया गया है। रत्नसेन उसे मनाता है और दग्ध नागवेलि स्नेह-सिंचित हो पुनः पल्लवित हो उठती है। तीसरा चित्र भी संक्षिप्त ही है। रत्नसेनको पाकर पद्मावती और सखियाँ हर्ष-मग्न हो जाती हैं मानो वसंत ऋतुका उल्लास चारों ओर व्याप्त हो जाता है। यहाँ प्रम (रति) की स्थिति उभय-पक्षोंमें सम दिखाई गई है। रत्नसेन अपनी दुःख गाथा कहकर पद्मावतीके मनमें सहानुभूति उत्पन्न करना चाहता है और पद्मावती अपने दारुण विरहका वर्णन करते-करते देवपाल-दूती-प्रसंगका उल्लेख कर देती है और कथाकी धारा ही मुड़ जाती है। पद्मावती और रत्नसेनके प्रथम-मिलनमें ही 'रति' भावका पूर्ण विस्तार दिखाई पड़ता है। इसमें आलम्बन के सौन्दर्यको सम्मोहित कर देनेवाला प्रभाव, नवोढ़ा नायिकाकी मिलन-पूर्वकी सहज आशंका और झिझक, नायक-नायिका का परस्पर हास-परिहास, नायक द्वारा नायिकाके मनमें अपने प्रति सहानुभूति जगानेकी चेष्टा और अन्ततः अभिसारका वर्णन है।

---

[1] अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ ३९५।

[2] हिन्दी-साहित्यका आदि काल, पृष्ठ ९१, (१९५७ ई० द्वितीय संस्करण)।

इस चित्रकी सबसे बड़ी कमजोरी है—बीच-बीचमें योगियों और रसायनियोंके साम्प्रदायिक अभिप्रायोंको डालकर आध्यात्मिक संकेत देनेकी चेष्टा। अन्यथा संयोग-रति (शृंगार)का इतना पूर्ण, उद्दाम और उल्लसित वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है।

आश्रयगत अनुभावोंका वर्णन जायसीने अधिक नहीं किया है। अनुभाव भावबोधक कहें गये हैं। 'रति' भावका बोध करानेवाले अनुभाव—पारस्परिक अवलोकन, भ्रू-भंग, आलिंगन, रोमाञ्च, स्वेद आदि हैं। इनकी संख्या परिमित नहीं है। ये कायिक, वाचिक, मानसिक सभी प्रकारके हो सकते हैं। युवती नायिकाओंके जो ३ **अंगज** (भाव, हाव, हेला) ७ **अयत्नज** (शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य) और १८ **स्वभावज** (लीला, विलास, विच्छित्ति, बिब्वोक, किलकिञ्चित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित, केलि) अलंकार कहे गये हैं वे भी एक प्रकारसे अनुभाव ही हैं। जायसीने 'रति' भावका चित्र प्रस्तुत करते समय 'संकोच', 'त्रास', 'शंका' आदि संचारियोंकी व्यञ्जना तो की है[1] किन्तु अनुभावोंकी ओर ध्यान नहीं दिया है।

स्वभावज अलंकारोंमें केवल 'बिब्वोक' का संकेत मिल जाता है।[2] रूप और प्रेम-गर्विता पद्मावती रत्नसेनका अनादर-सा करती हुई कहती है—'ओ भिखारी जोगी, मेरी बाँह मत पकड़। हे जोगी तेरी चेरी तुझसे अलग होती है, क्योंकि तेरे शरीरसे कुरकुटेकी गंध आ रही है।'

वियोग-रति (शृंगार) का वर्णन जायसीने अधिक तन्मयतासे किया है। उन्होंने पद्मावती और नागमतीके वियोगके अतिरिक्त रत्नसेनके वियोगका भी वर्णन किया है। प्रारंभमें रत्नसेनके वियोगसे ही पाठक परिचित होता है। यह वियोग पूर्वराग-जनित है। इस स्थितिमें जो दुःखका अतिरेक और प्रयत्नका विस्तार दिखाया गया है वह आध्यात्मिकताके आग्रहसे है, अतः स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इस स्थितिमें 'अभिलाष'की व्यञ्जना ही पर्याप्त होती। इसी प्रकार रत्नसेनका साक्षात् हुए विना ही पद्मावतीको भी वियोगाग्निमें दग्ध होता हुआ दिखाया गया है। इसका कारण भी रत्नसेनकी एकनिष्ठ योग-साधनाका आध्या-

---

[1] सकुचै डरै मनहि मन बारी। गहु न बाँह, रे जोगि भिखारी।

[2] अत्यन्त गर्वके कारण संयोग कालमें प्रियके अनादरको 'बिब्वोक' कहते हैं।

त्मिक प्रभाव ही कहा गया है।[1] रत्नसेनके योगी होकर चले जानेपर कविको नागमतीके प्रवास-जनित वियोग-वर्णनका अवसर मिलता है। यहीं जायसीकी 'जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई॥' उक्ति सार्थक हुई है। यह वर्णन कई दृष्टियोंसे अनुपम है। यह परिस्थितियोंके आग्रहपर किया गया है। यह मनोवैज्ञानिक है क्योंकि इसमें नागमती अपना रानीपन भूल जाती है। उसके अहंका परिहार हो जाता है। यह मार्मिक है क्योंकि इसमें अनुभूति संभावनाकी सीमाका उल्लंघन नहीं करती। इसमें मध्ययुगीन नारीकी कातर पुकार सुनाई पड़ती है जो सामन्तीय वातावरणमें खड्गकी चेरी बनकर विवशताका जीवन-यापन कर रही थी। शास्त्रीय-दृष्टि सम्पन्न पाठकोंको इसमें विरहकी प्रायः सभी मनोदशायें—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, आदि—मिल जाती हैं। इसीमें वह प्रसिद्ध बारहमासा है जिसमें प्रकृति और मानवीय जीवन कविकी गंभीर व्यापक संवेदनासे रंजित होकर एक स्तरपर एक दूसरेकी अनुकृति रूपमें चित्रित हुए हैं। इसमें कवि दुःखके नाना रूपोंकी उद्भावना कर सका है। सचमुच यह हिन्दी-साहित्यकी अमूल्य-निधि है। इसमें भारतीय नारीकी मर्यादा सुरक्षित है। इसमें लोक-जीवनका स्पन्दन है। वही लोक-जीवन जो मरकर भी इस विश्वासपर जीता है कि पुनः नवल-वसंत-सरसित होगा। धरा रससिक्त होगी। भौंरा कमलको छोड़कर मालतीके पास लौट आयेगा ओर सूखी हुई बेलि लहलही हो उठेगी। यहीं जायसी भारतके कवि के रूपमें सामने आते हैं। रत्नसेन-बंधनके समय कविने पद्मावती और नागमती दोनोंका वियोग-वर्णन एक ही साथ किया है। यह वर्णन संक्षिप्त किन्तु करुण है क्योंकि इसमें प्रियके अनिष्टकी आशंका बनी हुई है।

जायसीकी भाव-व्यञ्जनापर विचार करते हुए आचार्य शुक्लने एक ऐसी स्थितिकी ओर संकेत किया है जिसमें एक संचारी भाव, दूसरे संचारी भावसे पुष्ट होकर स्वयं स्थायी भावकी-सी स्थितिमें आ गया है। पद्मावती सुनती है कि राजा रत्नसेन नागमतीके उद्यानमें हैं और वहाँ बड़ी चहल-पहल है। बस वह अमर्षसे उत्तेजित हो उठती है—

---

[1] पद्मावति तेहि जोग सँजोगा। परी प्रेम-बस गहे बियोगा।

सुनि पद्मावति रिस न सँभारी। सखिन्ह साथ आई फुलवारी ॥[1]

यहाँ 'रिस' 'असूयाका' संचारी है। 'असूया' स्वयं 'रति' का संचारी भाव है। शुक्लजीके अनुसार—'एक संचारीका दूसरे संचारीका स्थायी बनकर आना लक्षण ग्रंथोंके अभ्यासियोंको कुछ विलक्षण अवश्य लगेगा'।[2] इस विलक्षणतामें वृद्धि करते हुए आप कहते हैं—'किसी दूसरे स्थानपर हम कुछ संचारियोंको विभाव, अनुभाव और संचारी तीनोंसे युक्त दिखायेंगे।'[3] प्रश्न यह है कि विभाव, अनुभाव और संचारी तीनोंसे पुष्ट संचारीकी क्या स्थिति मानी जायगी? क्या वह भी स्थायी कहा जायगा? शुक्लजीने इस परिस्थितिका विवेचन अन्यत्र करनेका आश्वासन दिया था। 'रस मीमांसा' में भावोंके वर्गीकरणपर विचार करते हुए उन्होंने यह प्रसंग उठाया है। वे कहते हैं—'लज्जाको लीजिए। इसमें जिस व्यक्तिसे लज्जा होगी वह आलंबन और उसका ताकना-झाँकना उद्दीपन, सिर झुकाना आदि अनुभाव और अवहित्था संचारी कही जा सकती है'।[4] इस प्रकार 'लज्जा', जो स्वयं 'रति' का संचारी है, यहाँ विभाव, अनुभाव और संचारीसे पुष्ट है। किन्तु इससे किसी रसकी निष्पत्ति न होगी। क्योंकि विभाव अनुभाव और संचारीसे पुष्ट 'लज्जा' का स्वरूप देखकर श्रोता या दर्शकके मनमें भी लज्जाकी अनुभूति नहीं होगी। रस-निष्पत्तिके लिए आवश्यक है कि किसी भावकी व्यञ्जना श्रोता या दर्शकमें भी उसी भावकी-सी प्रतीति करा दे। जो भाव ऐसा नहीं करा सकता वह स्थायी (रस-दृष्टिसे) नहीं कहा जा सकता। जायसीके उपर्युक्त वर्णनमें यही स्थिति है। 'अमर्ष' (रिस) संचारीसे पुष्ट 'असूया' स्थायी भावके रूपमें मान्य नहीं हो सकती। पद्मावती (आश्रय) का नागमती (आलम्बन) के प्रति व्यक्त असूयाभाव पाठकके मनमें भी नागमतीके प्रति असूयाकी प्रतीति नहीं करा सकता।

सारांश यह कि जायसीके पद्मावतमें 'रति' (शृंगार) को सर्वाधिक महत्त्व

---

[1] डॉ० वासुदेवशरण द्वारा संपादित पद्मावतका पाठ थोड़ा भिन्न है।
सुनि पदुमावति रिस न नेवारी। सखी साथ आई तेहि बारी।

[2] जायसी ग्रन्थावलीकी भूमिका, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ९९

[3] वही, पृष्ठ, ९९.

[4] रसमीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २०४.

दिया गया है। उनके लिए प्रेम ही जीवनका सारभूत तत्त्व था। उसीकी अभिव्यक्तिमें तन्मय कविने अन्य भावोंकी प्रासंगिक अभिव्यक्तिसे ही सन्तोष कर लिया।

कला

काव्यमें 'विभाव' और 'अनुभाव' दोनोंका सम्बन्ध कल्पनागत रूप-विधानसे है। यह रूप-विधान ही काव्यका कला-पक्ष है। जायसीके रूप-विधानकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

(क) **प्रस्तुतके समानान्तर सादृश्यके आधारपर सटीक अप्रस्तुत-विधान करना।** ऐसा करते समय कविने प्रायः सादृश्य मूलक अलंकारों—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि—का प्रयोग किया है। एक चित्र देखिये—कवि पद्मावतीकी माँग का वर्णन करता है—

प्रस्तुत	अप्रस्तुतविधान
बरनौं माँग सीस उपराहीं =	बिनु सेंदुर अस जानहुँ दिया।
सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहीं।	उजियर पंथ रैनि महँ किया।
	कंचन रेख कसौटी कसी।
	जनु घन महँ दामिनि परगसी।
	सुरुज किरन जस गगन बिसेखी।
	जमुना माँझ सरसुती देखी।

उपर्युक्त चित्रमें एक प्रस्तुतके लिए कविने अनेक अप्रस्तुत चित्र उपस्थित किये हैं। श्यामवर्ण केश-राशिके बीचसे काढ़ी गई पतली-सी माँगकी दमक ऐसी है मानो रात्रिके घने अन्धकारमें दीपकका प्रकाश या कसौटीपर खींची हुई कंचनकी रेखा या श्यामघनमें दामिनीकी आभा या आकाश मंडलमें सूर्य-रश्मि या यमुनाके श्याम-जलमें सरस्वतीकी धारा। कल्पनाका यह वैभव अन्यत्र दुर्लभ है। यह बिम्ब-गुम्फन जायसीकी कलाकी सबसे बड़ी विशेषता है।

(ख) **स्थूल अर्थबोधकी रमणीयताकी रक्षा करते हुए श्लेष-बलसे अनेक आध्यात्मिक अभिप्रायोंका सन्निवेश।** एक उदाहरण लीजिए।

पवन स्रवन राजा के लागा। लरहिं दुऔ पदुमावति नागा।
दूऔ सम साँवरि औ गोरी। मरहिं त कहँ पावसि असि जोरी।
चलि राजा आना तेहि बारी। जरत बुझाईं दूनौ नारी।
—(४४५।१, २, ३)

सामान्य अर्थ—उड़ती हुई हवा राजाके कानतक पहुँची कि पद्मावती और नागमती दोनों लड़ रही हैं। राजाने सोचा—'साँवरी और गोरी तुम्हारे लिए दोनोंका पद समान है। वे मर गईं तो ऐसी जोड़ी कहाँ मिलेगी ? राजा चलकर उस बाटिकामें आया और क्रोधमें भरी हुई उन दोनों बालाओंको समझाने लगा' (जलती हुई दोनोंको बुझाया)।[1]

उपर्युक्त पंक्तियोंका आध्यात्मिक (योगपरक) अर्थ भी व्यञ्जित होता है। प्राण (पवन) ने आत्मा (राजा) के कानमें कहा—'षट्चक्रोंकी शक्ति (पद्मिनी) और कुंडलिनी (नागमती) दोनों लड़ रही हैं। एक साँवरी है, दूसरी गोरी। (पिंगला नाड़ीका रंग साँवला माना जाता है इसे यमुना भी कहते हैं और इड़ा नाड़ीका रंग गोरा या श्वेत माना जाता है इसे गंगा भी कहते हैं) किन्तु दोनोंका पद समान है। यदि दोनोंमेंसे एक भी निष्प्राण हो गई तो फिर ऐसी जोड़ी कहाँ मिलेगी।[2] इस प्रकारके प्रयोग जायसीके पद्मावतमें अनेक स्थलोंपर हैं। सामान्य अभिधात्मक अर्थके साथ ही सांकेतिक अभिप्रायोंका यह गूढ़ गुम्फन जायसीकी काव्य-कलाकी विशेषता है।

(ग) **प्रस्तुत वर्णनको सहसा रहस्योन्मुख करके अप्रस्तुतकी व्यञ्जना करना।** सम्पूर्ण पद्मावतमें कदाचित् ही ऐसा कोई वर्णन हो जिसमें थोड़ी दूर चलकर अप्रस्तुतकी ओर संकेत न कर दिया गया हो। सिंहल द्वीपका वर्णन करते हुए कैलाशका संकेत किया गया है। 'पद्मावती' का रूप-वर्णन करते हुए आध्यात्मिक ज्योतिकी ओर संकेत किया गया है। हीरामन तोतेके निकल भागनेकी चर्चा करते हुए जीवात्माके शरीर-त्याग और उसके उच्चतम मनोभूमि (समावस्था या द्वन्द्वातीत अवस्था) में पहुँचने की झलक दिखाई गई है। पद्मावती और रत्नसेन-मिलनका वर्णन करते हुए कवि जीवात्मा और परमात्माके

---

१. पद्मावत, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ ४५७।
२. पद्मावत, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ ४५७।

आध्यात्मिक मिलनकी व्यञ्जना करता है। इसीलिए पूरे काव्यको दृष्टिमें रखकर पंडितोंने इसे समासोक्तिमूलक काव्य कहा है।[१]

(घ) **उपमेय का उल्लेख न करके केवल परिचित उपमानोंके आधारपर स्थितिविशेषका दूरतक चित्रण करते जाना।**

जायसीके इस प्रकारके प्रयोग बड़े ही मोहक हैं। पद्मावतीके लिए कविने प्रायः 'चन्द्र' रत्नसेन के लिए 'सूर्य' तथा सखियोंके लिए 'तारागण' उपमानोंका प्रयोग किया है। कथा-प्रवाहमें ऐसे अनेक स्थल आये हैं जहाँ उपमेयका उल्लेख न करके इन्हीं परिचित उपमानोंके सहारे कथा-चित्रको पर्याप्त दूरीतक आगे बढ़ाया गया है। एक चित्र देखिए।

भएउ बिहान उठा रवि साईं। ससि पहँ आईं नखत तराईं।
सब निसि सेज मिले ससि सूरु। हार चीर बलया भे चूरु।
बिहँसि जगावहिं सखी सयानी। सूर उठा उठु पद्मिनी रानी।
सुनत सूर जनु कँवल बिगासा। मधुकर आइ लीन्ह मधु बासा।
—[३२१।१,२।३२२।१,२]

पद्मावतमें ऐसे अनेक चित्र हैं। पद्मावतीको 'कमल' (नाम साम्य तो है ही काव्य-परम्परामें भी नारी-मुख-छवि कमलसे उपमित होती आई है) के रूपमें और रत्नसेनको सूर्य (वह सूर 'शूर' तो है ही) रूपमें कल्पित करके भी इसी प्रकारके चित्र अंकित किए गए हैं। कहीं-कहीं एक ही प्रसंगमें दोनों उपमानोंका संश्लेष कर दिया गया है। जायसीका यह उपमानाधारित चित्र-निर्वाह अनुपम है।

(ङ) **स्थिति, दीर्घत्व, ऊँचाई, गहराई, स्वरूप, मुद्रा आदिका वस्तु-व्यञ्जनात्मक पद्धतिपर गोचर प्रत्यक्षीकरण**—इस कलामें जायसी प्रवीण हैं। यदि उन्हें यह कहना होगा कि शेरशाहका राज्य सुशासित था तो वे कहेंगे—

परी नाथ कोई छुअइ ना पारा। मारग मानुस सोन उछारा।
—(१५।४)

यदि यह कहना होगा कि सिंहलगढ़ बहुत ऊँचा है, तो वे कहेंगे—

---

[१] जब प्रस्तुत वर्णनमें समान अर्थ सूचक विशेषणों द्वारा अप्रस्तुत अर्थकी व्यन्जना की जाय तो समासोक्ति होती है।

तरहि कुरुँम बासुकि कै पीठी। ऊपर इन्द्र लोक पर डीठी।
परा खोह चहुँ दिसि तस बाँका। काँपै जाँघि जाइ नहिं झाँका।
—(४०।२, ३)

यदि उन्हें यह कहना होगा कि आठ वर्षतक गढ़ घेरे रहनेपर भी अलाउद्दीन उसे जय नहीं कर सका—तो वे कहेंगे—

आइ साह अमराव जो लाए। फरे, झरे पै गढ़ नहिं पाए।

तथ्य-कथनकी यह काव्योचित पद्धति जायसीकी काव्य-कलाकी एक प्रमुख विशेषता है।

(च) **पूर्व-कथित परिस्थितिका औचित्य लोकोक्ति, सूक्ति, कहावत या मुहावरेसे पुष्ट करते चलना।** जितनी लोकोक्तियों और सूक्तियोंका प्रयोग जायसीने किया है, कदाचित् हिन्दीके किसी अन्य कविने नहीं किया है। वे प्रायः अपने कथनोंको लोकोक्तियोंसे पुष्ट करते चलते हैं। या नसीहत रूपमें लोकोक्ति उद्धृत कर देते हैं। नागमतीने हिरामन तोतेको मरवा डाला है। रत्नसेन यह सूचना पाकर कुपित हो उठते हैं। रानी नागमती चिन्तित हो जाती है। उसे भी तो तोतेपर क्रोध ही आया था। क्रोधवश उसने उसे मृत्युदण्ड दे दिया था। उसकी धाय परिस्थितिसे निष्कर्ष निकालती हुई कहती है—

'रिस आपुहि बुधि औरहि खाई।'

इस प्रकारकी उक्तियोंसे पूरा प्रसंग सजीव हो उठता है। ऐसी उक्तियाँ पद्मावतमें भरी पड़ी हैं—

'केला केलि करै का जौं भा बैरि परोस।'
'कोउ बिनु पूँछे बोल जो बोला।
होइ बोलु माटी कै मोला।'
'बिख राखै नहिं होई अँगूरू।'
'मारि न जेइ चहै जेइ स्वामी।'
'उलू न जान देवस कर भाऊ।'
'साहस जहाँ तहाँ सिधि होई।'

समस्त उक्तियोंको संगृहीत कर देनेपर एक पूरा कोष प्रस्तुत हो सकता है। पूरा पद्मावत ऐसी उक्तियोंसे युक्त होकर अनुभवसिद्ध सत्योद्‌गारोंसे सजीव हो उठा है।

(छ) **उल्लसित वस्तु-वर्णन**—प्रबन्ध-काव्योंमें वस्तुवर्णनका महत्त्व सर्वमान्य है। जायसीने 'पद्मावत'में सिंहलद्वीप, जलक्रीड़ा, सिंहलद्वीप-यात्रा, समुद्र, विवाह, युद्ध-यात्रा, युद्ध, बादशाह-भोज, चित्तौरगढ़, षट्ऋतु-बारहमास, पद्मावती-सौन्दर्य आदिका वर्णन अत्यधिक उल्लसित भावसे किया है। यह सत्य है कि जायसीका वस्तु-वर्णन वस्तुपरिगणन-पद्धतिके अनुसार हुआ है किन्तु उसमें निहित उल्लास, सटीक अप्रस्तुत-विधानके आधारपर अलंकृत चित्रोंकी योजना, स्थल-स्थलपर आनेवाली समासोक्तियाँ, और अनेक स्थलोंपर कल्पना-वैभव-प्रसूत बिम्ब तथा प्रायः वर्ण्यवस्तुके अनुकूल प्रस्तुत होनेवाली पृष्ठभूमि पूरे वर्णनको रमणीय बना देती है। इसीलिए यात्रा-वर्णन, समुद्र-वर्णन, और बादशाह-भोज वर्णनको छोड़कर शेष सभी वर्णन कविकी वस्तु-वर्णन-क्षमता एवं कलात्मकताके प्रमाण हैं।

(ज) **कल्पना-वैभव**—यों तो काव्यमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों प्रकारके विधान कल्पना-प्रसूत ही होते हैं किन्तु कवि-विशेषकी कल्पनाका वैभव तीन स्थितियोंमें अत्यधिक उत्कर्ष प्राप्त करता है—

(क) एक परिस्थितिके समानान्तर दूसरी सम परिस्थिति कल्पित करनेमें—

[जैसा कि 'अर्थान्तरन्यास', 'दृष्टान्त', 'अन्योक्ति', 'प्रतिवस्तूपमा' आदि अलंकारोंमें आवश्यक होता है।]

(ख) प्रस्तुतके प्रभावोत्कर्षके लिए सम्भाव्य अप्रस्तुत कल्पित करनेमें—

[जैसा कि उत्प्रेक्षा अलंकारमें होता है।]

(ग) सम्पूर्ण गोचर जगत्‌को प्रभावित करनेवाले विराट् कल्पना-चित्रोंमें। कहना न होगा कि जायसीने सर्वाधिक प्रयोग 'उत्प्रेक्षा' अलंकारका किया है। इस अलंकारके प्रयोगमें सर्वत्र उनकी कल्पनाका वैभव प्रकट हुआ है। 'दृष्टान्त' और 'अर्थान्तरन्यास' जैसे अलंकारोंकी भी पद्मावतमें कमी नहीं है। इन्हें छोड़कर जायसीके कुछ विराट् कल्पना-चित्रोंकी झलक देखिये—ऐसे ही चित्रोंमें

सच्चे रहस्यवादका संकेत मिलता है—जायसी अनुभव करते हैं कि सृष्टिके सभी महाभूत उस रहस्यमयी सत्तासे मिलनेके लिए आकुल हैं—

चाँद सुरुज औ नखत तराईं । तेहिं डर अँतरिख फिरहिं सबाई ।
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा । मारा वैस लोटि भुइँ रहा ।
पानि उठा उठि जाइ न छूआ । बहुरा रोइ आइ भुईं चुआ ।

इसी प्रकार कभी वे सोचते हैं कि सृष्टिमें जहाँ कहीं अनुरागकी लालिमा है वह सब उसी परम सौन्दर्यमयी सत्ताके प्रति व्यक्त-प्रकृतिका आन्तरिक उल्लास रागारुण होकर छा गया है—

सूरुज बूढ़ि उठा होइ राता । औ मजीठ टेसू बन राता ।
भा बसन्त रातीं बनसपती । औ राते सब जोगी जती ।

कभी-कभी उनकी कल्पना इतनी विराट् हो उठती है कि वे अनुभव करते हैं कि धरती और स्वर्ग भी परस्पर युगनद्ध थे, पता नहीं उन्हें किसने अलग करके वियुक्त कर दिया !

धरती सरग मिले हुत दोऊ । केइ निनार कै कीन्ह बिछोऊ ।

इस प्रकारकी अनेक विराट् कल्पनायें जायसीके काव्य-वैभवको उत्कर्ष प्रदान करती हैं ।

उपर्युक्त कलागत विशेषताओंके अतिरिक्त सरस, मधुर, कोमल और भोली पदावली, भावानुकूल वर्णविन्यास, भाषाका अद्भुत प्रवाह, मृदु-मंजुल-ध्वनि-योजना, व्यञ्जनापूर्ण-शब्द-शोधन, एवं ठेठ ग्रामीण अवधीकी आत्मीय-सी प्रतीत होनेवाली मिठास, जायसीकी काव्य-कलाकी अन्य विशेषतायें हैं जो पाठकों और श्रोताओंको विमुग्ध कर लेती हैं ।

रहस्यवाद

रहस्यवाद एक विश्वजनीन भावना है । मानवके सांस्कृतिक विकास-क्रमकी सभी स्थितियोंमें इस भावनाका अस्तित्व लक्षित होता है । इस नामरूपात्मक जगत्के मूलमें किसी रहस्यमयी सत्ताकी भावना, मानवका संवेदनशील हृदय अनादि कालसे करता आ रहा है । उस सत्ताको मधुरतम व्यक्तित्व प्रदान कर

उसके साथ वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करनेकी उसकी चिर-पिपासा आज भी लक्ष्य की जा सकती है। यह रहस्यमयी सत्ता अनुभूति-सुलभ है। मानव-बुद्धिकी विश्लेषणात्मक शक्ति जिसका निरूपण करनेमें असमर्थ हो जाती है; उसका मननशील चिन्तन जिसके विषयमें 'नेति'-'नेति' कहकर अपनी निरूपण सम्बन्धी असमर्थता प्रकट करता है; विज्ञानकी परीक्षण-क्षमता जहाँसे थककर लौट आती है; तार्किकोंका सिद्धान्त-विवेचन जहाँ विगुर्चनमें पड़ जाता है; वहीं मानव-हृदयको सहज पुकारपर उसकी आत्मा आगे बढ़कर उस रहस्यमयी सत्ताके साथ रागात्मक-सम्बन्ध स्थापित करती है, पूर्ण ऐक्यका अनुभव करती है और सांसारिक द्वैतभावनाको अद्वैतताकी ओर उन्मुख कर देती है। 'रहस्यवाद'की इन्हीं विशेषताओंके कारण स्पेन्सरने इसे 'हृदयका धर्म' (Religion of the heart) कहा है। अण्डरहिल इसे सिद्धान्त और दर्शन न मानकर एक प्रकारका मानसिक वातावरण मानता है।[1] इस्पर्जन इसे नानात्वमें एकत्वकी सहज संवेद्य और आनुभूतिक धारणापर आधारित एक मनोवृत्ति समझता है।[2] आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल इसे 'अद्वैतवादका आधर लेकर उठनेवाली भावना'[3] तथा डाक्टर रामकुमार वर्मा 'आत्मा और परमात्माके निश्छल सम्बन्ध'[4] के रूपमें देखते हैं।

रहस्यवाद और दर्शन

रहस्यात्मक अनुभूति वैयक्तिक होती है। अतः सामान्यतः इसे दार्शनिक सत्यके रूपमें नहीं स्वीकार किया जा सकता; किन्तु जब वैयक्तिक अनुभूतिको आधार बनाकर तर्क पूर्ण एवं निश्चित सिद्धान्तोंकी स्थापनाका प्रयत्न किया जाता है तो वे सिद्धान्त दर्शनकी सीमाओंमें आ जाते हैं। सर्वपल्ली राधाकृष्णन्ने कहा है कि

---

[1] Mysticism is in truth a temper rather than a doctrine, an atmosphere rather than a system of philosophy.

[2] Mysticism which in its widest sense may be described as an attitude founded upon an instutive or experienced convictions of unity of oneness of alikeness in all things.

[3] जायसी ग्रन्थावलीकी भूमिका, पृष्ठ १५२।

[4] कबीरका रहस्यवाद।

ऐसी स्थितिमें रहस्यवाद न केवल दर्शनकी सीमाओंमें आ जाता है वरन् उसका महत्त्वपूर्ण अंग बन जाता है।[१] यह होनेपर भी तात्त्विक दृष्टिसे दोनोंमें अन्तर है। दार्शनिक सत्य तत्त्व-चिन्तनका परिणाम है। वह आत्मनिष्ठ (Subjective) नहीं होता। उसतक पहुँचनेमें बुद्धिको संकल्प-विकल्पका आधार लेना पड़ता है। तर्क करना पड़ता है। विश्लेषणात्मक पद्धति स्वीकार करनी पड़ती है। रहस्यानुभूति स्व-संवेद्य होती है। वह आत्माकी अनुभूति है। वह एक प्रकारकी सहज मनोदशा है। अतः उसे दार्शनिक सत्यके रूपमें ग्रहण नहीं किया जा सकता।

रहस्य-साधनाकी विभिन्न स्थितियाँ—रहस्यवादी साधकको रहस्यमयी सत्ता से पूर्ण ऐक्यकी अनुभूति सहसा नहीं हो जाती। उसे अनेक मनःस्थितियोंसे होकर गुजरना पड़ता है। पहली स्थिति जागरणकी (State of Awakening) मानी गई है। मानव आत्मा शुद्ध और चैतन्य है। उसका भौतिक पदार्थोंसे किया गया गठबन्धन अस्वाभाविक है। यह अपनी मूल स्थितिमें जानेके लिए—शुद्ध चेतन तत्त्वसे एकत्व स्थापनके लिए—तड़पती रहती है। जब उपयुक्त गुरुके द्वारा यह उद्बुद्ध कर दी जाती है और संसारके मिथ्यात्वको समझ लेती है, तब जागरणकी स्थितिमें आ जाती है। किन्तु सांसारिक मलोंका त्याग किये बिना और पूर्णतः निर्मल हुए बिना वह शुद्ध चेतन सत्ता (साध्य) की ओर अग्रसर कैसे हो सकती है? इसलिए परिष्कारकी आवश्यकता है। इस दूसरी स्थितिको परिष्करण (Purification) की स्थिति कह सकते हैं। परिष्कारके लिए सूफी-साधनामें अनेक प्रकारके नियमों एवं विधानोंकी व्यवस्था की गई है। इनमें

---

[१] It is true that so long as mysticism is the experience of an individual, we can not apply to it the tests of philosophical enquiry But when an attempt is made to build up a logical system of speculation on the basis of such experience, it must not only be included within the province of philosophy but may well constitute an important part of it.

—*History of Philosophy: Eastern and Western*,
Volume one, p. 21.
Sarvapalli Radhakrishnan—1952.

'तोबा' (अनुताप), 'खौफ' (ईश्वरका भय), 'तवक्कुल' (ईश्वरका विश्वास), 'फकर' (दैन्य), 'सब्र' (धैर्य), 'रजा' (शान्ति), 'रिजा' (आशा), 'शुक्र' (अनुग्रह), आदि मानसिक स्थितियाँ आती हैं। 'जिक्र' (स्मरण), 'मुराकबत (ध्यान), 'शरीअत' (विधिनिषेधका पालन), 'तरीकत' (शुद्ध मनसे भगवान्का ध्यान) आदि साधनायें भी आत्मपरिष्कारार्थ ही मान्य हैं। तीसरी स्थिति प्रकाशानुभव (Illumination) की मानी जाती है। यह एक प्रकारकी भावातिरेककी स्थिति है जिसमें साधकको साध्यकी अंशानुभूति होती है। मुक्त, शुद्ध और चैतन्य सत्तासे पूर्ण ऐक्यकी स्थितिके पूर्व सांसारिक विघ्न एक बार पुनः साधकको विचलित करना चाहते हैं। अतः चौथी स्थिति विघ्नोंकी रात (Dark night) कही जाती है। इसमें साधकको मानसिक संघर्ष करना पड़ता है। अंतिम स्थिति पूर्ण ऐक्य (Unitive State) की है। इस स्थितिमें साधक साध्यसे अभिन्न हो जाता है। किन्तु साधककी ये मनःस्थितियाँ पाँच ही हों, ऐसा आवश्यक नहीं है। पूर्ण एकत्वकी मनःस्थिति प्राप्त करनेतक अनेक मानसिक स्थितियाँ हो सकती हैं। सामान्यतः उपर्युक्त स्थितियाँ सर्वमान्य हैं।

सूफी साधकोंमें रहस्य-साधनाके विकासकी उपर्युक्त सभी स्थितियाँ लक्ष्य की गई हैं। जायसीसे कई सौ वर्ष पूर्व सूफियोंका प्रवेश भारतवर्षमें हो चुका था और सूफी-साधना भारत-प्रवेशके पहले ही अपने विकासकी चरम स्थिति पार कर चुकी थी। अतः जायसीमें सूफी रहस्य-साधनाके सभी रूप मिल जाते हैं। उसका सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक पक्ष, उसका भावात्मक एवं अनुभूतिपरक पक्ष, तथा उसका विधिनिषेध पूर्ण व्यावहारिक और साम्प्रदायिक पक्ष, ये सभी जायसीकी रचनाओंमें पूर्णतः प्रकट हैं। ध्यान देनेपर पद्मावतकी कहानीमें साधना-विकासकी उपर्युक्त पाँचों स्थितियाँ लक्ष्य की जा सकती हैं। हीरामन तोते द्वारा पद्मिनीकी रूप-चर्चा सुनकर रत्नसेनका सहसा संसारसे विरक्त हो जाना 'जागरण' की स्थिति है। उनका योगी रूपमें निकलकर सात समुद्र पार करना 'परिष्कार' की स्थितिके रूपमें मान्य हो सकता है। शिव-मंदिरमें 'पद्मावती' का प्रथम साक्षात्कार प्रकाशानुभव (Illumination) की स्थिति है। गंधर्वसेन द्वारा रत्नसेनका पकड़ा जाना 'विघ्नोंकी रात' (Darknight) है और अन्ततः पद्मावतीसे मिलन तादात्म्य (Unitive) की स्थिति है। इस प्रकार रत्नसेनकी

'प्रेम-पथ-यात्रामें रहस्य-साधनाके विकासकी सभी स्थितियाँ प्रत्यक्ष हैं। हो सकता है—ये स्थितियाँ कथा-विकासमें स्वयमेव आ गई हों।

'प्रेम' केन्द्र-बिन्दु

भावात्मक दृष्टिसे सूफी-रहस्य-साधनाका केन्द्र-विन्दु प्रेम है। एक सूफी साधकने इस सत्यको प्रकट करते हुए कहा है—"अगर इश्क न होता तो इंतजाम आलमे सूरत न पकड़ता। इश्कके बगैर जिन्दगी बवाल है। इश्कको दिल दे देना कमाल है। इश्क बनाता है, इश्क जलाता है। दुनियामें जो कुछ है, इश्कका जलवा है। आग इश्ककी गर्मी है, हवा इश्ककी बेचैनी है, पानी इश्ककी रफ़्तार है, खाक इश्कका क़ियाम है, मौत इश्ककी बेहोशी है, जिन्दगी इश्ककी होशियारी है, रात इश्ककी नीद है, दिन इश्कका जागना है, मुसलिम इश्कका जमाल है, काफिर इश्कका जलाल है, नेकी इश्ककी कुरबत है, गुनाह इश्कसे दूरी है, बिहिश्त इश्कका शौक है, दोजख इश्कका जौक है।"[१] जायसीने स्थल-स्थलपर 'प्रेम'का महत्त्व स्पष्ट किया है। कभी वे कहते हैं 'जिसने प्रेम नहीं किया वह पृथ्वीपर क्यों आया ?'[२] कभी कहते हैं कि मनुष्य मिट्टीका पुतला ही तो है उसने प्रेम-साधना की और इसीलिए दिव्य जीव हो गया।[३] इसी प्रकार कभी वे प्रेम-दीपके प्रकाशसे हृदयके निर्मल होनेकी बात कहते हैं,[४] कभी प्रेमी जीवके लिए अग्नि भी चन्दन है, ऐसा कहते हैं[५] और कभी प्रेम-सुरा पान कर लेनेपर जीवको जीवन-मृत्युके भयसे मुक्त घोषित करते हैं।[६] प्रसिद्ध सूफी कवि रूमीने भी कहा है—

---

[१] तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पं० चन्द्रबली पाण्डेय. पृष्ठ ११६।

[२] जो नहिं सीस प्रेम-पथ लावा। सो पृथवी मह काहेको आवा।

× ×

[३] मानुष प्रेम भयो वैकुण्ठी। नाहित कहा छार भर मूठी।

× ×

[४] लेसा हिएँ प्रेम भर दीया। उठी ज्योति भा निरमल हीया।

× ×

[५] जेहि जिय प्रेम चंदन तेहि आगी।

× ×

[६] सुन धनि प्रेम सुराके पिये। जियन मरन डर रहे न हिए।

It is the flame of love that fired me.
It is the wine of love that inspired me.

यह उत्कट प्रेम ही साधकको साध्यतक पहुँचा सकता है। इसीलिए जायसीने प्रेम-कथाके माध्यमसे प्रेमके दिव्य स्वरूपकी प्रतिष्ठा की और स्पष्ट घोषित किया—

तीन लोक चौदह खण्ड, सबै परै मोंहि सूझि।
पेम छाड़ि किछु और न लोना, जौं देखौं मन बूझि॥
—९६।८

साध्य परम-तत्त्व—तात्त्विक दृष्टिसे सूफियोंका साध्य परम-तत्त्व ज्ञान-स्वरूप, नित्य प्रकाश, परम सौन्दर्यमय और विश्वेच्छा-स्वरूप है। विश्वदर्पणमें अपनेको बिम्बित करना उसका सहज स्वभाव है। नामरूपात्मक जगत् उसकी बाह्य अभिव्यक्ति है। पारमार्थिक सत्ताके रूपमें वह उपाधिरहित, नामरहित, अवर्णनीय और अचिन्त्य है। स्थूल, भौतिक या सोपाधिदृष्टिसे देखनेपर इसकी दो स्थितियाँ हैं—जनक और जन्य। एक अव्यक्त है, दूसरी व्यक्त[१]। यदि भारतीय दार्शनिक शब्दावलीका प्रयोग किया जाय तो सूफी दर्शनको अद्वैतवादी और प्रतिबिम्बवादी कह सकते हैं। सूफियोंका अद्वैतवाद ठीक वही नहीं है जो भारतीय अद्वैतवाद है। शंकरके अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार जगत्की सत्ता अध्यासात्मक है, किन्तु सूफी ऐसा नहीं मानते। उनकी दृष्टिमें जगत् परमसत्ता की प्रतिबिम्बात्मक अभिव्यक्ति है। परमसत्ता सौन्दर्यमयी है और सौन्दर्यकी

---

[१] According to Sufi philosophy, Reality is the Universal will, the true knowledge, eternal light and supreme beauty, whose nature is self manifestation, reflected in the mirror of the universe. The phenomenal world is an outward manifestation of the one real. From the point of view of its attributes, it is a substance with two accidents, one as creator and the other as creature; one visible and the other invisible. In its essence, it is attributeless, nameless, indescribable and incomprehensible.

—*Outlines of Islamic Culture*—353.

सार्थकता अभिव्यक्तिमें ही है। यह विविधरूपात्मक गोचर जगत् उसी परम सौन्दर्यमयी सत्ताकी प्रतिच्छाया है[१]। सूफियोंकी अद्वैतता इसी अर्थ में मान्य हो सकती है कि वे इस जगत्की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते। अन्तिम सत्य उपाधि रहित और अव्यक्त है। जहाँतक जायसीका सम्बन्ध है वे प्रतिबिम्बवादको तो मानते ही हैं, कहीं-कहीं भारतीय अद्वैतवादके निकट भी पहुँच गये हैं। प्रतिबिम्बवादका एक सुन्दर उदाहरण जायसीने दर्पणमें पद्मिनीकी छाया पड़नेका वर्णन करते हुए प्रस्तुत किया है—

देखि एक कौतुक हौं रहा। रहा अँतरपट पै नहिं अहा।
सरवर देख एक मैं सोई। रहा पानि औ पान न होई।
सरग आइ धरती पर छावा। रहा धरति पै धरत न आवा।

'अखरावट'में तो वे भारतीय अद्वैत सिद्धान्तके बिल्कुल निकट आ गए हैं।

'सोऽहं सोऽहं वसि जो करई। सो बूझै सो धीरज धरई।
× × ×
आप अलख पहिले हुत जहाँ। नाँव न ठाँव न मूरति तहाँ।
× × ×
एक से दूसर नाहिं, बाहिर भीतर बूझि लै।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें एक ओर उस अव्यक्त सत्ताको नाम और रूपसे परे माना गया है और दूसरी ओर 'सोऽहं' कहकर उससे अभेद स्थापित किया गया है। 'अखरावट' में, जायसी, उस सत्ताको सूफी दर्शनके अनुसार ही परम ज्योति रूपमें भी निरूपित करते हैं—

ओहि जोति परछाहीं नवौ खंड उजियार।
सुरुज चाँद कै जोती; उदित अहै संसार॥

और सम्पूर्ण संसारको दर्पणवत् बताकर प्रतिबिम्बवादका भी समर्थन करते हैं—

---

[१] Phenomenal diversity is the reflection of the supreme beauty.

—*Outlines of Islamic Culture*—354.

सबै जगत दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन आपुहि देखा।

तात्पर्य यह कि जायसीकी परमतत्त्व सम्बन्धी मान्यतायें पूर्णतः सूफी दर्शनके अनुसार हैं किन्तु कहीं-कहीं वे भारतीय अद्वैतवादके निकट भी आगए हैं।

रहस्यानुभूतिकी अभिव्यक्ति

रहस्यानुभूतिकी अभिव्यक्ति कई माध्यमोंसे होती है। कभी रहस्यवादी साधक प्रकृतिके क्रिया-कलापोंमें रहस्यमयी सत्ताका आभास पाता है, कभी वह प्रियको ही अलौकिक सत्ताके रूपमें देखता है, कभी वह सांसारिक व्यक्त सौन्दर्यमें उसके सौन्दर्यकी छाया देखता है, कभी ज्ञानियों जैसी मुद्रामें उसके स्वरूपकी चर्चा करता है और कभी भक्तकी स्थितिमें होकर उससे व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करता है। इन्हीं आधारोंपर 'प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवादी' (Nature mystic), 'प्रेम-सम्बन्धी रहस्यवादी' (Love mystic), 'सौन्दर्य-सम्बन्धी रहस्यवादी' (Beauty mystic), 'दार्शनिक रहस्यवादी' (Philosophical mystic) और 'भक्त रहस्यवादी' (Devotional mystic) आदि कई भेदोंकी कल्पना की गई है। जायसीकी रचनाओंमें अभिव्यक्तिके प्रायः ये सभी रूप मिल जाते हैं। कभी वे अनुभव करते हैं कि जगत्के कण-कणमें व्याप्त सौन्दर्य उसी रहस्यमयी सत्ताका सौन्दर्य है।

रबि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।
जहँ-जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ-तहँ छिटकि ज्योति परगसी।

कभी उनको ऐसा भासित होता है कि सृष्टिमें जहाँ कहीं अनुरागकी लालिमा है वह सब उसी रहस्य-सत्ताका अनुराग व्यक्त है।

सूरुज बूडि उठा होइ राता। औ मजीठ टेसू बन राता।
भा बसन्त रातीं बनसपती। औ राते सब जोगी जती।

कभी उनको ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृतिकी सभी शक्तियाँ उसी सत्तासे मिलनेके लिए तड़प रही हैं—

चाँद सुरुज औ नखत तराईं। तेहिं डर अँतरिख फिरहिं सबाई।
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस लोटि भुइँ रहा।

पानि उठा उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ आइ मुइं चूआ।

कभी उनको अखिल सृष्टि ही प्रियके प्रेम-बाणोंसे बिद्ध दिखाई देती है—

उन बानन्ह असको जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा।
गगन नखत जो जाहिं न गने। वे सब बान ओहिके हने।

कभी उनके मनमें आता है कि धरती और स्वर्ग भी परस्पर युगनद्ध थे पता नहीं किसने इन्हें अलग कर दिया ?

घरती सरग मिले हुत दोऊ। केइ निनार कै कीन्ह विछोऊ।

कभी वे दार्शनिककी मुद्रामें कह उठते हैं—

अलख अरूप अवरन सो करता। वह सब सों सब ओहि सों बरता।
परगट गुपुत सो सरब बियापी। घरमी चीन्ह चीन्ह नहिं पापी।
७।१,२

और कभी एक सच्चे भक्तकी कातरतासे ओत-प्रोत होकर कहते हैं—

का रानी का चेरी कोई। जाकहँ मया करहु भलि सोई।

इस प्रकार जायसीकी रहस्य-भावना अनेक माध्यमोंसे व्यक्त हुई है और निस्सन्देह वे हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं।

सूफी-साधना और योग-मार्ग—

भारतवर्षमें प्रवेश पानेके बाद सूफियोंका सम्पर्क योगियोंसे अधिक बढ़ गया था। अतः उनकी रहस्य-साधनापर योग-साधनाका प्रभूत प्रभाव पड़ा। भारतवर्षमें योगियोंके अतिरिक्त तान्त्रिकों, बौद्ध-सिद्धों और रसायनियोंमें भी रहस्यकी प्रवृत्ति थी। प्रकृति और पुरुषके मिलनकी भावना को इन सम्प्रदायोंमें भिन्न-भिन्न प्रतीकोंके माध्यमसे प्रकट किया जाता था। रसायनियोंका सम्प्रदाय सबसे प्राचीन कहा जाता है। ये लोग स्वर्ण-सिद्धि करते थे। 'स्वर्ण' शून्यावस्थाका प्रतीक है और 'रूपा' रूपमय संसार का। इस रूपमय संसारको त्यागकर शून्यावस्था (जो सृष्टिके पूर्वकी सहज स्थिति है) की सिद्धि इनका लक्ष्य था। 'स्वर्ण', 'रूपा' से मिलकर मलीन हो जाता है। 'पारद' की सिद्धिसे (उसकी सहायतासे) यह मलिनता दूर हो जाती है और कुधातु सुवर्णमें परिवर्तित हो जाती है। पारद

वह रस (प्रेम) है जिसके प्रभावसे रूपा (सांसारिक व्यक्ति) सोना (शून्य-सहज-स्थिति) हो जाता है। योगियों में यही भावना 'शक्ति' और 'शिव' या 'चन्द्र' और 'सूर्य' के मिलनके रूपमें कल्पित की गई थी। बौद्ध-सिद्धोंके यहाँ सहस्रार (जो रूप-शून्य स्थिति या सहज स्थितिका द्योतक है) में साधक और सहज-सुन्दरीके मिलन और महासुखकी उपलब्धिकी कल्पना भी ऐसी ही है। जायसीने इन सभी-प्रभावोंको पचाकर सूर्य-चन्द्र मिलनके रूपमें रत्नसेन-पद्मावती-मिलनकी कल्पना की। योगियोंकी साधनामें यह मिलनकी भावना शरीरके भीतर ही कल्पित की गई थी क्योंकि 'जो कुछ ब्रह्माण्डमें है वह सब पिण्डमें है' यह मान्यता योगियोंमें भी प्रचलित थी। सूफी-साधनामें आत्म-परिष्कारके लिए जो व्यवस्था की गई थी उसमें ध्यान, सदाचार आदि योग-साधनाके मूलभूत सिद्धान्त भी मान्य थे। अतः सूफियोंको योगियोंकी साधना स्वीकार कर लेनेमें अड़चन न हुई। उन्होंने पिण्ड और ब्रह्माण्डकी एकता भी स्वीकार कर ली। जायसीने 'अखरावट'में स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

सातौं दीप नवौ खंड आठौं दिशा जो आहिं।
जो बरह्मंड सो पिंड है, हेरत अन्त न जाहिं।

'पद्मावत'में भी 'गढ़ तस बाँक जैसि तोर काया' कहकर उन्होंने योगियोंकी चक्र-भेदन क्रियाको ही स्वीकार किया है। सिंहलगढ़का वर्णन काया-साधनाकी ही व्याख्या है। शरीररूपी गढ़में नव इन्द्रिय द्वार ही नव पौरियाँ है, पंच प्राण ही पाँच कोतवाल हैं, ब्रह्मरंध्र ही दसवाँ द्वार है, सुषुम्ना नाड़ी ही गढ़ की गुप्त सुरंग है, मूलाधार चक्र ही अगाध कुंड है। सुषुम्ना मार्गसे इस चक्रको भेदता हुआ जो पिपीलिका गतिसे दसवें द्वारतक पहुँच सकता है उसीको महा-सुखकी उपलब्धि (सहज-सुन्दरीके—पद्मावतीके—सान्निध्यसे) हो सकती है। इस रहस्यात्मक आध्यात्मिक यात्रामें "चारि बसेरे सों चढै सत सौं चढ़े जो पार" कहकर उन्होंने सूफियोंके चार सोपानों—शरीयत (विधि-निषेध पालनकी स्थिति) तरीकत (हृदयकी शुद्धता द्वारा भगवान्का ध्यान), हकीकत (सत्यके बोधकी स्थिति), मारफत (प्रेममयी सिद्धावस्था)—और सप्तभूमियों—इश्क (प्रेम), जहद (स्वेच्छादारिद्रय) म्वारिफ (स्वरूप चिन्तन) वज्द (उन्मादन), हकीक (सत्यकी झलक), वस्ल (मिलन), फना (अहंका ध्वंस)—को भी मिला दिया। योगियोंकी

-काया-साधना (हठयोगकी साधना)के रूखे रहस्यवादको कथानकके क्रममें डालकर जायसीने उसे बहुत-कुछ मधुर और रमणीय बनाने की चेष्टाकी है। घटमें प्रियकी कल्पना करके काया-साधनाके बलपर उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा ही साधनात्मक रहस्यवाद है। जायसीने काया-साधनाको स्वीकार करते हुए यह भी माना है—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। कोरे मिलाव कहौं केहि रोई।

इस प्रकार जायसीकी प्रेम-साधनामें साधनात्मक रहस्यवाद (काया-साधना) की स्वीकृति भी है किन्तु यह उनके लिए प्रधानवस्तु नहीं है। प्रेमाग्निका प्रज्वलित होना सबसे बड़ी बात है। उसके प्रज्वलित होनेपर कायाको परिष्कृत करनेवाली सभी साधनायें साधन-रूपमें ही मान्य होती हैं।

जायसीके रहस्यवादकी काव्यानुकूलता

काव्यके क्षेत्रमें 'रति' भावकी चरम स्थिति आश्रय और आलम्बनकी अद्वैततामें ही देखी जा सकती है। विद्यापति, सूर, देव, बिहारी आदि सभी कवियोंकी राधा प्रेमकी तन्मयतामें कृष्णमय हो गई हैं। यह अद्वैतता भावात्मक है। सूफियोंकी अद्वैतता भी इसी कोटिमें आती है। उनके यहाँ भी पूर्ण अद्वैत नहीं है (आचार्य शंकरके अर्थमें) उनका उपास्य अरूप होते हुए भी रूपवान और अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त है। काव्य-क्षेत्रमें भावोत्कर्षके लिए आलम्बनका व्यक्त और रूपाश्रयी होना आवश्यक है। सूफी प्रेमियोंका आलम्बन व्यक्त जगत्के कण-कणमें प्रतिबिम्बित होकर सम्पूर्ण रूपात्मक सत्तामें अपना सौन्दर्य बिखेरकर और नारी-सौन्दर्यमें अपनी दिव्य ज्योति अवतीर्णकर प्रेमास्पद (lovable) प्राप्ति योग्य (attainable) सजीव (Alive) और वैयक्तिक (Personal) हो जाता है। इसलिए उसे आलम्बन स्वीकार कर लेनेपर काव्यकी स्वाभाविकता अक्षुण्ण रहती है। भौतिक प्रेमकहानीको स्वीकार कर लेनेपर तो आध्यात्मिक अभिप्रायोंकी गूढ़ता भी रसास्वादनमें बाधा नहीं पहुँचाती।

इसीलिए रत्नसेन जैसे राजा, हीरामन जैसे बुद्धिमान् तोता, अलाउद्दीन जैसे सुल्तान, राघव चेतन जैसे गुनी और पद्मावती जैसी रूपवती रानीके न रहनेपर भी जायसीकी यशःकाया कालजयी होकर आज भी विद्यमान है।

'फूल मरै पै मरै न बासू'

जायसी-प्रशस्ति

प्रेमाख्यानक काव्य सरस रचना मैं नागर ।
हिन्दू-मुसलिम भेद-भाव मेटन मैं आगर ॥
सैयद असरफ शिष्य नगर जायस के वासी ।
मलिक मुहम्मद नाम जनम तैं परम उदासी ॥
पद्मावत सुनि कौन अस जो न प्रेमपथ अनुसरै ।
जेहि हिय गाढ़ी पीर सोइ कवि चित धरै ॥

पठनीय सामग्री

जायसी ग्रन्थावली (भूमिका)	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
जायसी ग्रन्थावली (भूमिका)	डॉ० माताप्रसाद गुप्त
पद्मावत (भूमिका)	डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
पद्मावतका काव्य-सौन्दर्य	श्री शिवसहाय पाठक
सूफी काव्य-संग्रह	पं० परशुराम चतुर्वेदी
सूफीमत साधना और साहित्य	श्रीरामपूजन तिवारी
सूफीमत और हिन्दी-साहित्य	डॉ० विमलकुमार जैन
तसव्वुफ अथवा सूफीमत	पं० चन्द्रबली पाण्डेय
जायसी साहित्य और सिद्धान्त	पं० यज्ञदत्त शर्मा

सूरदास

महात्मा सूरदासजी अष्टछापके प्रतिनिधि कवि हैं। स्वयं गोस्वामी विट्ठलनाथजीने उन्हें 'पुष्टि मारगको जहाज' कहा है। लोक-परम्पराने भी 'सूर सूर तुलसी ससी' कहकर उनके व्यक्तित्वकी महत्ता स्वीकार की है। आचार्य शुक्लकी मर्यादावादी लोक-दृष्टिने भी तुलसीके साथ जिस एक ही महात्माका नाम लेना उचित समझा वह सूरदासजी ही हैं। यह सत्य है कि वल्लभसम्प्रदायमें दीक्षित होनेके पूर्व सूरदासजीने स्वतन्त्र रूपसे भक्ति-साधना की थी, किन्तु उनकी साधनाका चरम-विकास वल्लभ-सम्प्रदाय-प्रवेशोपरान्त ही हुआ। उनकी मान्यतायें 'श्री वल्लभगुरुके तत्त्व सुनाने' और 'लीला-भेद बताने' के बाद ही विकसित और पुष्ट हुईं। अतः उनके सिद्धान्तोंका अध्ययन करनेके पूर्व आचार्य वल्लभके दार्शनिक सिद्धान्तोंका परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

आचार्य वल्लभका शुद्धाद्वैतवाद

जिस प्रकार वेदान्त केशरी शंकराचार्यके दार्शनिक मतको 'पूर्णाद्वैत', 'केवलाद्वैत', 'अखण्डाद्वैत' प्रभृति कई नामोंसे अभिहित करते हैं उसी प्रकार तात्विक दृष्टिसे वल्लभाचार्यके मतको भी 'शुद्धाद्वैतवाद', 'ब्रह्मवाद' तथा 'अविकृत परिणामवाद' आदि कई नामोंसे जानते हैं। साधनाकी दृष्टिसे इसे पुष्टि मार्ग कहते हैं। आचार्य शंकरने 'ब्रह्म'को कर्तृत्व रहित माना है। जगतका कारण तो वह 'मायोपाधिवशाद्' होता है।[1] शुद्धाद्वैतवादमें 'मायासम्बन्धरहित' ब्रह्मको जगत्का कारण माना गया है।[2] यह जगत् ब्रह्मका अविकृत परिणाम है; उसकी

---

[1] मायोपाधिवशाद् ब्रह्म जगतः कारणम् स्मृतम्।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्॥

[2] मायासम्बन्धरहितं शुद्धमिच्युत्यते बुधै।
कार्यकारणरूपं हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम्॥
—शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, भारतीय दर्शन, पृष्ठ ७५८ पर उद्धृत।

आत्मकृति है। जिस प्रकार स्वर्णका अविकृत परिणाम कुण्डल है। कुण्डल रूपमें परिणत होनेपर जिस प्रकार स्वर्णमें किसी प्रकारका विकार नहीं उत्पन्न होता उसी प्रकार कारण रूप ब्रह्म कार्यरूप जगत्में परिणत होनेपर भी अविकृत रहता है। शंकरके अनुसार 'ब्रह्म या आत्मा रूपी अधिष्ठानमें अविद्यासे जीव-जगत् आदि प्रपञ्चजालका अध्यास होता है।'[१] ठीक वैसे ही जैसे अविद्यासे शुक्तिमें रजत और रज्जुमें सर्पका अध्यास होता है। किन्तु आचार्यवल्लभके अनुसार 'जीव' और 'जगत'की सत्ता अध्यासात्मक नहीं वास्तविक है। ब्रह्म क्रीड़ाके लिये स्वेच्छया जब केवल 'सत्' अंशका आविर्भाव करता है तो जगत और जब 'सत्' 'चित्' इन दो अंशोंका आविर्भाव करता है तो जीव आविर्भूत होता है। वह स्वयं 'सत्' 'चित्' 'आनन्द' इन तीनों धर्मोंसे युक्त है। मायाके सम्बन्धसे रहित शुद्ध ब्रह्मकी प्रतिष्ठाके कारण इस मतको 'शुद्धाद्वैतवाद' कहते हैं। जड़ जगत् तथा चेतन जीव ये दोनों ब्रह्म रूप ही हैं अतः यह सम्पूर्ण प्रपञ्च ब्रह्म ही है, ऐसी मान्यताके कारण इसे, 'ब्रह्मवाद' कहते हैं। जगत रूपमें आत्मपरिणति करनेपर भी ब्रह्मको अविकृत 'माननेके कारण इस मतको अविकृत परिणामवाद' मानते हैं।

ब्रह्मतत्त्व

वल्लभमतमें ब्रह्मके तीन रूप माने गये हैं। (क) आधिदैविक—'परब्रह्म'—यह पूर्ण पुरुषोत्तम रसरूप भी है। श्रीकृष्ण ही रसरूप पूर्णपुरुषोत्तम परब्रह्म हैं। वे ही 'अन्तर्यामिन्' रूपमें सभी आत्माओंमें निवास करते हैं। 'अन्तर्यामिन्' रूपमें उनकी आनन्दात्मक सत्ता ससीम रहती है।[२] (ख) आध्यात्मिक—

---

[१] देखिये—बौद्धदर्शन और वेदान्त—डॉ० चन्द्रधर शर्मा, पृष्ठ १६३।

[२] The joy of Purusottam is infinite. He is in fact, a Complete Undivided mass of bliss. He dwells in the souls in the form of Antaryamin who possesses limited joy.

History of Philosophy: Eastern & Western.

Edited by Sarvépalli Radha Krishnan.

pp. 349-350.

अक्षर ब्रह्म। यह अक्षर ब्रह्म गणितानन्द है। इसे ही प्रकृति, जीव तथा अनेक देवादि रूपमें परिणत होनेवाला भी माना गया है यह अक्षर ब्रह्म ज्ञानियोंके ध्यानकी वस्तु है। यही काल, कार्य, स्वभाव आदि रूपोंमें व्यक्त होता है। (ग) आधिभौतिक—जगत् ब्रह्म। 'परब्रह्म' निर्गुण भी है और सगुण भी। वह मन वाणीसे परे है किन्तु शुद्ध भावसे भजनेपर अपनी इच्छासे गोचर भी हो जाता है। वह गुणातीत होनेपर भी जगत्का कर्त्ता है। इस प्रकार उसमें विरुद्ध धर्मोंका समावेश माना गया है। वस्तुतः रसरूप परब्रह्मका आनन्द-विग्रह ही अक्षर ब्रह्म है। इसीलिये रसरूप ब्रह्म अक्षरधाममें नित्य लीला मग्न रहता है।[1] इस अक्षर धामको 'गोलोक' भी कहा गया है।

जीवतत्त्व

वल्लभाचार्यजीके अनुसार 'ब्रह्म' और 'जीव'में अशांशी सम्बन्ध है। ब्रह्म अंशी है जीव अंश। ब्रह्मकी इच्छा मात्रसे अक्षर ब्रह्म भूत-अंश रूप असंख्य जीवोंकी उत्पत्ति हुई।[2] जिस प्रकार अग्निसे स्फुल्लिंग निकलते हैं उसी प्रकार ब्रह्मके चिद् अंशसे अनेक जीवोंका आविर्भाव हुआ। 'जीव'में आनन्द धर्मका तिरोभाव रहता है। उसमें 'ऐश्वर्य', 'वीर्य', 'यश', 'श्री', 'ज्ञान' और 'वैराग्य' आदि गुणोंका भी लोप होता है। इसीलिये उसमें क्रमशः दीनत्व, दुःख, हीनत्व, जन्म-मरणकी अनेक आपदायें, अहंबुद्धि तथा विषयोंमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह होते हुये भी जीव नित्य और सनातन है। यह जीव सृष्टि दो प्रकारकी है। दैवी और आसुरी। दैवी जीव सृष्टिकी भी दो कोटियाँ हैं। पुष्टि सृष्टि और मर्यादा सृष्टि। पुष्टि-सृष्टि जीव ही भगवान्की सेवाके योग्य माने जाते हैं।

---

[1] It is looked upon by the bhaktas as the foot and abode of the Lord Krishna.

—Ibid. p. 349.

[2] तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः।
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वेनिराकारास्तदिच्छया॥

—तत्वदीपनिबन्ध, ज्ञानसागर बम्बई, पृ० ८७।

जगत्तत्त्व

जगत् ब्रह्मका परिणाम है। ब्रह्म ही इसका निमित्त और उपादान कारण है। जगत्की उत्पत्ति और नाश नहीं होता। इसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। तिरोभाव होनेपर वह कारण रूपसे और आविर्भाव होनेपर कार्य रूपसे विद्यमान रहता है। जगत् भी सत्य है क्योंकि यह सत्य तत्वका ही अविकृत परिणाम है। वल्लभ मतानुसार जगत् और संसारमें भेद है। संसारकी सृष्टि जीव अपने भ्रमसे करता है। संसारका उपादान कारण अविद्या माया है और निमित्त कारण 'अविद्यामायासे प्रच्छन्न' जीव है। इसलिये संसार मिथ्या है। विद्याके आगमनसे जब जीवकी अविद्या नष्ट हो जाती है तब उसे मिथ्या संसार-से छुटकारा मिल जाता है। सुख-दुःखात्मक अनुभूति सांसारिक होती है। इसका सम्बन्ध जगत्से नहीं है।

माया

आचार्य वल्लभ शुद्ध ब्रह्मके प्रतिपादक है, इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने 'अविद्या' या 'माया' पर विचार ही नहीं किया है। 'तत्त्वदीप निबन्ध' में मायाका भी विवेचन है। उनके अनुसार अक्षर ब्रह्मकी इच्छा शक्ति ही माया है। इसके दो रूप हैं। 'विद्या' और 'अविद्या'। अविद्या माया ही जीवको संसारमें आबद्ध रखती है। विद्या मायाके प्रभावसे ही वह संसारसे मुक्त होता है। भागवतकी सुबोधिनी टीकामें आचार्यने स्वयं कहा है 'वही माया (व्यामोहिका या अविद्या) जीवके अन्तःकरण बुद्धि आदिको मोहती है और यही मोह अथवा भ्रममें पड़ी बुद्धि पदार्थोंको अन्य प्रकारसे देखती है।[१] यह अविद्या माया पञ्चपर्वा है। पञ्चपर्वोंको ही पंच अध्यास भी कहते हैं। 'जो वह नहीं है' उसमें 'वह है' ऐसी बुद्धि करना ही अध्यास है।[२] जैसे शुक्ति रजत नहीं है किन्तु जब हम वह रजत है ऐसा मानते हैं तो यह हमारा अध्यास है। आचार्य

---

[१] देखिये—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग २, पृष्ठ ४५६।

—डॉ० दीनदयालु गुप्त।

[२] 'अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्‌बुद्धि',

भारतीय दर्शन, पृ० ४७० पर उद्‌धृत।

वल्लभने स्वरूपाध्यास[1], देहाध्यास[2], इन्द्रियाध्यास[3], प्राणाध्यास[4], और अन्तःकरणाध्यास[5] इन पाँच अध्यासोंको अविद्याजनित माना है। इनसे छुटकारा प्राप्त करनेका सरलतम मार्ग भगवान्‌का अनुग्रह प्राप्त करना है।

मुक्ति

वल्लभ सम्प्रदायकी मान्यताके अनुसार आनन्दस्वरूप भगवान् प्रकट होकर जब जीवमें आनन्दकी स्थापना कर उसे अपने स्वरूपमें स्थित कर देते हैं तब उसकी मुक्ति हो जाती है। आचार्य वल्लभने **'सद्योमुक्ति'** और **'क्रम-मुक्ति'** इन दो मुक्ति-भेदोंको स्वीकार किया है। जब भगवान् अनुग्रह पूर्वक जीवको अपनी नित्य रसात्मक लीलामें ले लेते हैं तब उसकी **सद्योमुक्ति** हो जाती है। **'क्रम-मुक्ति'** ज्ञानियोंकी होती है। ज्ञानी कर्म, उपासना, ज्ञान आदि साधनोंके द्वारा अनेक देवलोकोंसे होता हुआ अन्ततः ज्योतिर्मय ब्रह्मको प्राप्त करता है। यही क्रम-मुक्ति है। वैधी भक्ति क्रम-मुक्ति दायिनी है किन्तु पुष्टि-भक्तिसे सद्योमुक्ति प्राप्त होती है। आनन्दस्वरूप भगवान्‌की उपलब्धि के क्रमको ध्यानमें रखकर मुक्तिके चार भेद किये गये हैं। **'सालोक्य'**, **'सामीप्य'**, **'सारूप्य'** और **'सायुज्य'**। रसरूप श्रीकृष्णके लीलाधाममें प्रवेश ही सालोक्य मुक्ति है। उनके चरणोंका नैकट्य ही सामीप्य मुक्ति है। कृष्ण ग्वालवत् आचरण करना ही सारूप्य मुक्ति है। श्रीकृष्णकी नित्य रासलीलामें प्रवेश ही सायुज्य मुक्ति है। सायुज्य मुक्ति-लाभ ही पुष्टिमार्गीय भक्तका चरम लक्ष्य है।

ऊपर आचार्य वल्लभकी दार्शनिक मान्यताओंका संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विद्वान् आलोचकोंने इन्हींके आलोकमें सूरकी मान्यताओंको

---

१. जब जीव देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण इन सबको मिलाकर अपना स्वरूप समझता है, तब उसे स्वरूपाध्यास होता है।

२. जब जीव देह को ही अपना वास्तविक स्वरूप मानता है, तब देहाध्यास होता है।

३. जब जीव अपने इन्द्रियों के धर्मों को ही अपना स्वरूप मानता है, तब इन्द्रियाध्यास होता है।

४. जब जीव प्राण धर्म को ही अपना स्वरूप मानता है। वह कहता है 'मै तृप्त हूँ; या मैं प्यासा हूँ'। तब इन्द्रियाध्यास होता है।

५. जब जीव अपने को ही कर्त्ता और भोक्ता मानता है, तब अन्तःकरणाध्यास होता है।

देखा-परखा है। यह सत्य है कि आचार्य वल्लभ ने सूरको तत्त्व-बोध कराया था, लीलाका रहस्य समझाया था और श्री सुबोधिनीजी (भागवतकी टीका) को उनके हृदयमें स्थापित कर दिया था; किन्तु यह उससे भी बड़ा सत्य है कि सूरदासजीका लक्ष्य दार्शनिक सत्योंकी मीमांसा करना नहीं था। वे परम भावुक भक्त थे। संगीत उनकी आत्मा और काव्य उनका प्राण था। उनका भाव-तरल-व्यक्तित्व दर्शनकी निश्चित रेखाओंमें पूर्णतः नहीं घिर सकता था। यह अवश्य है कि वल्लभ सम्प्रदायके तात्त्विक सिद्धान्तों तथा व्यावहारिक एवं सांस्कृतिक विधि-विधानोंसे वे भलीभाँति परिचित हो गये थे और सम्प्रदायमें दीक्षित होनेके बाद इस परिचित ज्ञान-क्षेत्रमें उनकी वाणी भाव-प्रसार करती रही; उनकी आत्माका संगीत गूँजता रहा। इसलिये उनके उद्गारोंमें वल्लभ सम्प्रदायकी मान्यताओंको सरलतासे ढूँढ़ा जा सकता है।

सूरदासजीकी दार्शनिक मान्यतायें

ब्रह्म—सूरदासजीने अनादि, अनूप, सदा एकरस निर्गुण परब्रह्म रसरूप श्रीकृष्णका उल्लेख सूरसागर तथा सूरसारावलीके अनेक पदोंमें किया है।[१] और इसी अविगत, सनातन अखंडित, पूर्णपुरुषोत्तमको भक्तोंके लिये सगुण-साकार रूपमें संसारमें लीला करता हुआ भी दिखाया है।[२] इस प्रकार उन्होंने

---

१. 'सदा एकरस एक अखण्डित आदि अनादि अनूप'

—सूर सारावली वे० प्रे०, पृ० ३८।

× × ×

'अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनासी'

सूर सारावली, वे० प्रे०, पृष्ठ २।

× × ×

'पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम'

वही, पृ० ३४।

२. वेद उपनिषद जासु कौं निरगुनहिं बतावैं।
सोइ सगुन होइ नन्द की दाँवरी बधावै॥

—सूर सागर, प्रथम स्कन्ध, छन्द ४, सभा सं०।

× × ×

ब्रह्मके विरुद्ध धर्मत्वको स्वीकार किया है। उन्होंने ब्रह्मको अंशी और सम्पूर्ण जगत् तथा जीवको अंश माना है।[1] वे यह भी कहते हैं कि क्रीड़ामें ही प्रभुको सृष्टि-विस्तारकी इच्छा हुई और इसी इच्छामात्रसे सृष्टिका विस्तार हुआ। इस सृष्टि रूपमें उसने अपनेआपको ही आविर्भूत किया। यहाँ सूरदासजीने परिणामवादको ही स्वीकार किया है[2]। अक्षर ब्रह्म ही (जो परब्रह्मकी हो स्वेच्छासे अनेक रूपात्मक होनेकी स्थिति है) प्रकृति, जीव तथा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और अन्य देवताओंके रूपमें परिणत होता है। सूरदासजीने इस मान्यताकी ओर भी संकेत किया है।[3] इस प्रकार सूरदासजीके पदोंमें ब्रह्म सम्बन्धी प्रायः वे सभी

ब्रह्म अगोचर मन बानी ते अगम, अनन्त प्रभाव।
भक्तनि हित अवतार धारि जो करी लीला संसार॥

—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, पद ३४।

[1] सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधिकाल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल॥

—सूर सारावली, वे० प्रे०, पृ० ३८।

खेलत खेलत चित में आई सृष्टि करन विस्तार।
अपने आप करि प्रकट कियो है हरी-पुरुष अवतार॥

—सूर सारावली।

× × ×

आदि निरंजन, निराकार, कोउ हुतौ न दूसर।
रचौं सृष्टि-विस्तार, भई इच्छा इक अवसर॥

—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, पद ३६।

[2] इस सम्बन्ध में डा० गुप्त की निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

"आदि पुरुष भी जिसके परिणाम स्वरूप यह सृष्टि हुई है उन्हीं में से प्रकट हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के इन विचारों में शङ्कर के आभास अथवा प्रतिबिम्बवाद का लेश भी नहीं है।"

—अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, पृ० ४०८।

[3] विष्णु, विधि, रुद्र मम रूप ये तीनिहू दक्ष सों, वचन यह कहि सुनायो'

—सूरसागर, चतुर्थ स्कन्ध, पद ६।

× × ×

विष्नु, रुद्र, विधि, एकहिं रूप। इन्हैं जानि मति भिन्न स्वरूप॥

—वही, पद, ५।

विचार बिखरे हुए मिल जाते हैं जो आचार्य वल्लभ द्वारा निरूपित हैं किन्तु सूरदासकी आत्मा सर्वाधिक परब्रह्म पुरुषोत्तम रसरूप भगवान श्रीकृष्णके ही लीला-गानमें रमी है। उनका सगुण रूप ही उन्हें सर्वाधिक प्रिय है। निर्गुण तो मन, वाणीसे परे है। वह सब प्रकारसे अगम्य है। इसलिये सूरका कवि सगुण ब्रह्मकी लीला-गानको ही सर्वथा श्रेयस्कर मानता है।[1]

जीव—जीवके विषयमें सूरदासजीने दैन्य प्रकाशन तथा आत्मप्रबोधन सम्बन्धी पदोंमें ही अधिकतर अपने उद्गार प्रकट किये हैं। वे उसे 'ब्रह्म' का अंश तो मानते हैं किन्तु उसमें ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यका अभाव बताते हैं। वे उसके उसी रूपका प्रकाशन अधिक करते हैं जो अविद्याके प्रभावसे पञ्चाध्यासोंमें भ्रमित है। वह अपने वास्तविक स्वरूपको भूला हुआ है।[2] उसकी स्थिति 'काँच मन्दिरमें भूकनेवाले श्वान', 'अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर कूपमें कूदनेवाले केहरि' या 'नलिनीके सुवटा' के समान है। विद्याके प्रभावसे वह अपने चेतन और सनातन रूपको पहचान भी सकता है; किन्तु इसके लिये भगवत् अनुग्रह अपेक्षित है।

जगत् और संसार—सूरदासजीने जगत्को ब्रह्मका परिणाम माना है। इसकी उत्पत्ति ठीक उसी प्रकार हुई है जिस प्रकार पानीमें आविर्भूत बुदबुदाकी। बुदबुदा पानीसे आविर्भूत है। वह पानीमें ही तिरोहित भी हो जाता है। पानी

---

[1] सूर सागर सार, पद २।

[2] अपुनपौ आपुन ही बिसरयौ।
जैसें स्वान काँच-मन्दिर मैं भ्रमि-भ्रमि भूकि मरयौ।

× × ×

ज्यौं केहरि प्रतिबिम्ब देखिकै, आपुन कूप परयो।
जैसे गज लखि फटिक सिला मैं, दसननि जाइ अरयौ।

× × ×

सूरदास नलिनी कौ सुवटा, कहि कौनें पकरयौ।

—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, पद २६।

और बुदबुदेमें किसी प्रकारका तात्त्विक भेद नहीं है।[1] इसी प्रकार जगत् ब्रह्मसे ही आविर्भूत होता है और अन्ततः उसीमें तिरोभूत हो जाता है। अन्यत्र, सूरदासजी कहते हैं कि एक ब्रह्म ही विविध रूपोंमें शोभा पा रहा है।[2] इस प्रकार सूरदासजी जगत्की सत्यता तथा उसके ब्रह्मांश रूपका प्रतिपादन करते हैं संसारको वे अविद्याजनित मानकर उसे 'विषय रस छीलर'की संज्ञा प्रदान करते हैं। प्रबल सांसारिक आकर्षणोंको 'मायारस' मानते हैं और इसमें अनुरक्त जीवको लम्पट कहते हैं। हम पहले कह आये हैं कि आचार्य वल्लभने 'जगत' और 'संसार' में भेद स्थापित किया है। उनकी दृष्टिमें 'जगत्' सत्य और 'संसार' मिथ्या है। 'संसार' भ्रममें पड़े हुए जीवकी सृष्टि है। वह अविद्याजनित है। सूरदासजीने आचार्यके इस भेदको स्वीकार किया है वे कहते हैं—

सो जग क्यों मिथ्या कहि जाव।
जहाँ तरै तुम्हरे गुन गाय॥
(दशम स्कंध, पद ४३०१)

संसारके विषयमें वे कहते हैं कि 'यह संसार सुवा सेंवर ज्यों सुन्दर देखि लुभायो'।[3] सूरसागरमें दो एक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ सूरदासजी इस सम्बन्धमें आचार्यवल्लभके सिद्धान्तोंसे कुछ हटते हुये प्रतीत होते हैं। एक स्थान पर उन्होंने कहा है 'ज्यों दर्पण प्रतिबिम्ब त्यों सब सृष्टि करी',[4] इस कथनके आधार पर सूरको प्रतिबिम्बवादी कहा जा सकता है। प्रतिबिम्बवादके अनुसार 'स्वतन्त्रादि गुणोंसे विशिष्ट होनेके कारण ईश्वर बिम्बस्थानापन्न है और परतंत्रता-

---

१. ज्यौं पानी में होत बुदबुदा पुनि तामहिं समाइ।
त्यौंही सब जग प्रगटत तुम तैं पुनि तुम माहिं बिलाइ॥
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ४३०२, सभा सं०।

२. 'सो हौं एक अनेक भाँति करि शोभित नाना भेष'
—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, पद ३८, सभा सं०।

३. सूरसागर प्रथम स्कंध, पद ३३५।

४. सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, पद ३६।

के कारण अविद्यामें चिदाभास जीव है (विवरण) अर्थात् ईश्वर बिम्बरूप है और जीव प्रतिबिम्ब रूप है'[1]।

सूर-साहित्यके मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० दीनदयालु गुप्तने सूरके इस कथनको भी वल्लभमतानुकूल सिद्ध किया है। वे कहते हैं—'दर्पणका दृष्टान्त उन्होंने यह बतलानेके लिये दिया है कि जैसे कोई शिशु अथवा व्यक्ति दर्पणमें अपना स्वरूप देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी सृष्टि-रूपमें अपने स्वरूपका विस्तार देखकर और उसमें अन्तर्यामी रूपसे स्वयं प्रवेश कर प्रसन्न होते हैं।'[2] 'प्रतिबिम्बवाद' की स्वीकृति इसलिये भी यहाँ मान्य नहीं हो सकती कि अधिकांश वेदान्तियोंने इसे स्वीकार नहीं किया था,[3] दूसरे सामान्य जनवर्गमें भी इस मान्यताका प्रचार अधिक नहीं रहा है। सूरदासजी वल्लभमतसे हटने पर या तो शंकरमतसे प्रभावित हो सकते थे या भक्तोंमें प्रचलित सामान्य मान्यताओंसे। वेदान्तके एक अप्रचलित सिद्धान्त की ओर झुकना उनके लिए स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता।

माया—सूरदासजीने ब्रह्मकी 'शक्ति स्वरूपा माया', 'विद्यामाया' और 'अविद्या' माया तीनोंका उल्लेख किया है। उनके पदोंमें सर्वाधिक वर्णन अविद्यामायाका ही मिलता है। अविद्या माया जीवको सांसारिक विषयोंमें रमाकर नाना प्रकारके कृत्य कराती है। यह महाप्रभावशालिनी है। वेदोंका ज्ञान, पुराणोंकी भक्ति, दर्शनोंकी तत्त्वमीमांसा ये सभी इसे संयमित करनेमें असफल रहे हैं। यह महामोहिनी है[4]। किन्तु वस्तुतः यह मिथ्या है। विद्याके उदय होने पर जब जीवके 'अध्यास' मिट जाते हैं तब इसकी स्थिति नहीं रह जाती। भगवानके

---

[1] भारतीय दर्शन, पृष्ठ ७४६।

[2] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ४४२।

[3] 'इस सिद्धान्त में अनेक वेदान्तियों की अरुचि है' —भारतीय दर्शन, पृष्ठ ७४६।

[4] माधौ, नैंकु हटकौ गाई।

× × ×

छुधित अति न अघाति कबहूँ, निगम-द्रुम दलि खाइ।
अष्ट-दस-घट नीर अँचवति, तृषा तउ न बुझाइ।
छहौं रस जौं धरौं आगैं, तउ न गन्ध सुहाइ।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद ५६।

कृपा-कटाक्षसे जब 'विवेकका विहान' हो जाना है तब अज्ञानरूप तमका नाश हो जाता है। जीवका देहाध्यास छूट जाता है और वह भगवानकी आनन्द-दायिनी रहस्य लीलाके श्रवणमें रत होता है।[1] ब्रह्मकी 'शक्तिस्वरूपा मायाका' उल्लेख सूरदासजीने बहुत कम किया है। भगवान्‌की रसशक्ति राधाका गुणगान अधिक किया है। 'राधा' को शक्तिस्वरूपा मायाके रूपमें ग्रहण कर सकते हैं क्योंकि ब्रह्मवैवर्तपुराणमें राधा की स्थिति सृष्टि विधानके लिये ही स्वीकार की गई है।[2] उन्हें सर्वशक्तिस्वरूपा भी माना गया है। साथ ही उन्हें 'रासेश्वसरी-सुरसिका रासवासनिवासिनी' तथा 'परमाह्लादरूपा' भी कहा गया है। आचार्य वल्लभने भागवतको प्रमाण मानकर राधाका कहीं उल्लेख नहीं किया है। वल्लभ सम्प्रदायमें राधाका प्रवेश श्री विट्ठलनाथजीने किया है। विट्ठलनाथजीके सामने राधा सम्बन्धी प्राचीन सामग्री (ब्रह्मवैवर्तपुराण भी) अवश्य रही होगी। अतः उन्होंने उन्हें कारणरूप और रसरूप दोनों स्थितियोंमें स्वीकार किया होगा। सामान्यतः वल्लभ सम्प्रदायमें राधा 'रसशक्ति स्वरूपा' ही मानी

---

१. नमो नमो हे कृपानिधान !

चितवत कृपा कटाक्ष तुम्हारैं मिटि गयौ तम अज्ञान।
मोह-निशा को लेस रह्यौ नहिं भयौ विवेक-विहान॥

× × ×

मैं मेरी अब रही न मेरे, छुट्यौ देह-अभिमान।
मेरे जिय अब यहै लालसा लीला श्री भगवान॥
स्रवन करौं निसि वासर हित सौं सूर तुम्हारी आन॥

—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, पद ३३।

२. गणेश जननी दुर्गा राधा लक्ष्मी सरस्वती।
सावित्री च सृष्टि विधौं प्रकृतिः पञ्चधास्मृता॥

—ब्रह्म वै० पु०, प्रकृति खंड, प्र० अ०, १ श्लो०।

× × ×

नहिं क्षमं तथा ब्रह्म सृष्टिं स्रष्टुं तया बिना।
सर्वं शक्तिस्यरूपासा तया च शक्तिमान् सदा॥

—वही, द्वितीय अध्याय, १० श्लोक।

गई है। उनका आविर्भाव स्वयं रसरूप पूर्ण आनन्द पुरुषोत्तम ब्रह्मसे हुआ है, सूरने सूरसागर दशम स्कंधमें राधा और कृष्णका अभेद स्वीकार किया है।

‘विहँसि कह्यो हम तुम नहि अन्तर, यहि कहिकै उन ब्रज पठई’

—पद संख्या, ४९१०, सभा सं०

दशम स्कंधके ४९३५ वें पद में सूर ने स्पष्ट कहा है—

“फिर जब हरिकी इच्छा होंई। देखैं मायाकी दिसि जोई।
माया सब सबहीं उपजावै। ब्रह्मा ह्वै पुनि सृष्टि उपावै॥

सूरका यह कथन आचार्य वल्लभ के अनुकूल है। राधाको कृष्णसे अभिन्न माननेका तात्पर्य ब्रह्मको उसकी इच्छाशक्तिसे अभिन्न मानना ही है। ऐसी स्थितिमें यह कहा जा सकता है कि सूरने राधा रूपमें कृष्णकी रसशक्ति और जगत्कारणभूत इच्छाशक्ति दोनोंको उपस्थित किया है। विद्वानोंने राधा-तत्त्वकी स्थापनाको सूरकी मौलिकता माना है।[1] ऐसा इसलिए नहीं मान सकते कि सूर के समयमें वल्लभ सम्प्रदायमें राधातत्त्वका प्रवेश हो चुका था। उनकी मान्यता सम्प्रदाय-सापेक्ष्य है। हाँ, राधाके व्यक्तित्वका चित्रण सूरकी मौलिक कल्पना-शक्तिका परिचायक अवश्य है।

मोक्ष

सूरदासजीके मोक्ष सम्बन्धी विचार भी वल्लभ-सम्प्रदायानुमोदित हैं। वल्लभमतके अनुसार जब आनन्द स्वरूप भगवान् ‘जीवके देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणमें अपने आनन्दका स्थापन कर उसे अपने स्वरूपमें स्थित कर देते हैं’, तब वह मुक्त हो जाता है। सूर भी यही कहते हैं—

“मम सरूप जो सब घट जान। मगन रहै तजि उद्यम आन।
अरु सुख-दुख कछु मन नहिं ल्यावै। माता, सो नर मुक्त कहावै॥”[2]

[देवहूति-कपिल संवाद]

---

[1] सूर साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ६२।

[2] सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, पद ३९४।

सूरने 'सद्योमुक्ति' और 'क्रम-मुक्ति' का भी उल्लेख किया है—

भक्त सकामी हू जो होइ। क्रम-क्रम करिकै उधरै सोइ।
सनै सनै विधि लोकहिं जाइ। ब्रह्मा संग हरि पदहिं समाइ।
निष्कामी बैकुंठ सिधावै। जनम मरन तिहिं बहुरि न आवै।[1]

'सालोक्य', 'सामीप्य' 'सारूप्य' और 'सायुज्य' इन चारों प्रकारकी मुक्तियोंकी स्थिति भी सूरसागरमें देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त 'भजनानन्द' को भी उन्होंने मोक्ष-अवस्थाके आनन्दके अनुरूप माना है।[2] प्रेम-भक्ति-साधनाको स्वीकार करनेवाले अन्य भक्ति सम्प्रदायोंमें भी ऐसा माना गया है। अपने दैन्य-भावापन्न पदोंमें सूरदासजीने 'दुःखाभावकी मोक्ष अवस्था' को भी स्वीकार किया है। ऐसे ही पदोंमें उन्होंने संसारको विषय-रस-पूर्ण मानकर जीवको सांसारिक दुःखोंसे छुटकारा प्राप्त करनेकी प्रेरणा दी है। शांकर मतमें इस प्रकारकी मुक्तिको 'जीवन्मुक्ति' माना गया है। वल्लभ-सम्प्रदायमें 'प्रेम-तत्त्व' का प्राधान्य है। 'प्रेम' की कसौटी विरह है। अतः 'विरहानन्द' को इस सम्प्रदायमें सभी प्रकारकी मुक्तियोंसे श्रेष्ठ माना गया है।[3] उद्धव-गोपी-प्रसंगमें सूरदासजीने अनेक अवसरोंपर गोपियों द्वारा इसका समर्थन कराया है।

उपर्युक्त विवेचनके आधारपर निस्संकोच कहा जा सकता है कि सूरदासजीकी दार्शनिक मान्यताएँ वल्लभ-सम्प्रदायानुमोदित हैं। उनके दैन्य-भावापन्न पदोंमें जिन्हें अधिकांश विद्वानोंने वल्लभ-सम्प्रादाय-प्रवेश पूर्व-रचित माना है, कहीं-कहीं शाङ्करमतकी छाप भी लक्षित होती है। डॉ० दीनदयालु गुप्तने सूरदासकी सभी मान्यताओंको आचार्य वल्लभके सिद्धान्तोंके अनुकूल माना है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्माके वैज्ञानिक अध्ययनमें यह प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि उन्होंने अध्ययनकी

---

[1] वही, तृतीय स्कन्ध, पद ३९४।

[2] 'भजनानन्द हमैं अलि प्यारौ, ब्रह्मानन्द सुख कौन विचारौ'

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ४०९४।

[3] 'सिखवहु जाइ समाधि योग रस जे सब लोग सयाने।
हम अपनै ब्रज ऐसेहिं रहिहैं विरह विरह बाई बौराने॥'

—सूरसागर दशम स्कन्ध, पद ३८०४।

आगमन पद्धति (Inductive Method) को स्वीकार किया है किन्तु सूर-साहित्यके अन्य अध्येताओंने कभी विश्वासपूर्वक और कभी झिझक और संकोच के साथ सूरको शंकराचार्यके अद्वैत सिद्धान्तसे भी प्रभावित माना है। इस सम्बन्धमें मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि सभी वैष्णव आचार्य शाङ्कर मतसे प्रभावित हैं। युगकी परिवर्तित परिस्थितियोंके अनुकूल उन्हें मानव-जीवनमें पुनः आस्था, विश्वास और राग उत्पन्न करना था। 'भक्ति-सिद्धान्त' उस युगका सामान्य मानवधर्म बन चुका था। अद्वैत सिद्धान्तको भक्ति-भावनाके अनुकूल सिद्ध करना उन्हें अभीष्ट था। जगत्को मिथ्या मान लेनेपर जीवनके प्रति राग कैसे उत्पन्न किया जा सकता था? 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' स्वीकार कर लेनेपर 'ब्रह्म' और 'जीव' में उपास्य-उपासक सम्बन्ध कैसे स्थापित होता? अपनी स्वतन्त्रतातक खो देनेपर भारतीय जनता 'भक्ति' के आधारके अभावमें उस युगमें जीवित भी कैसे रह सकती थी? अतः शाङ्करमतमें यत् किंचित परिवर्तन अनिवार्य था। वैष्णव आचार्योंने शंकराचार्यके अद्वैत सिद्धान्तका विरोध नहीं किया है वरन् युगके अनुकूल उसमें परिवर्तन उपस्थित किया है। ऐसी स्थितिमें यदि सूरदासजीके विचार कहीं-कहीं वल्लभ-मतसे थोड़े पृथक् प्रतीत होते हैं तो आश्चर्य क्यों? वस्तुतः सूरसागरमें प्रायः उन सभी विषयोंकी चर्चा कर दी गई है जो भागवत पुराणमें वर्णित हैं। पुराणोंमें अनेक नवीन-प्राचीन दार्शनिक मान्यताओं, साधनाओं, नैतिक विचारों और उपदेशोंका समन्वय किया गया है। सूरकी दृष्टि भी बहुत कुछ पौराणिक है। इसलिए उनके विचारोंमें एक निश्चित दार्शनिक मतकी स्थिति ढूँढ़ना अधिक उचित नहीं। अधिकसे अधिक यही कहा जा सकता है कि वे वल्लभ मतके अधिक निकट हैं। सूरसागरके तीसरे स्कन्धको ही लें तो देखेंगे कि उसमें देवहूति-कपिल-संवादके रूपमें सांख्य-दर्शनका वर्णन है। कविने स्वयं कहा है—

'कपिलदेव सांख्यहिं जो गायौ। सो राजा मैं तुम्हैं सुनायौ।

इसी प्रकार पंचम स्कन्धमें ऋषभदेवके अवतारका वर्णन करते हुए कविने लिखा है कि जो कुछ दृश्यमान है वह सब नाशवान है केवल साक्षीरूप आत्मा अनश्वर है—

दृस्य मान विनास सब होइ। साच्छी व्यापक, नसै न सोइ।

सूरका उपर्युक्त कथन भी अद्वैत (शंकराद्वैत) वेदान्तके समीप है। स्पष्ट है कि सम्पूर्ण सूरसागरमें सुनियोजित ढंगसे किसी एक दार्शनिक मतकी पुष्टि नहीं की गई है। हाँ, सूरकी आत्माका रस दशम स्कन्धमें पूरे वेगसे प्रवाहित हुआ है। इस स्कन्धमें उन्होंने रस-रूप ब्रह्मको महत्त्व दिया है और रागानुगा-भक्तिको सर्वतोभावेन स्वीकार किया है। अन्य स्कन्धोंमें व्यक्त विचार विशेष सन्दर्भमें कहे गये हैं। वे एक प्रकारसे प्रेमाभक्तिके लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं। सूरकी निजी मान्यताएँ दशम स्कन्धमें ही लक्ष्य की जा सकती हैं और इस स्कन्धमें वे वल्लभाचार्यकी मान्यताओंको आधार रूपमें स्वीकार करके चले हैं।

सूर की भक्ति-पद्धति

सूर की भक्ति-पद्धति पर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। सूरदासजी के पुष्टिमार्गीय भक्ति स्वीकार करने के बहुत पहले ही कई भक्ति-शास्त्रों की रचना हो चुकी थी। इष्टदेव को केन्द्र मानकर उनके साथ विविध रागात्मक सम्बन्धों के आधार पर भक्ति-भावना के अन्तर्गत अनेक प्रकार की प्रेममूलक भावनाओं का विस्तार हो चुका था। भक्ति के क्षेत्र में इष्ट देवों और उपासना-पद्धतियों में भेद स्थापित करते हुए विभिन्न सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा भी होने लगी थी। स्वयं सूरदासजी वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित भक्त थे। इस प्रकार सुविधा के लिए सूर की भक्ति-पद्धति का अध्ययन कई दृष्टियों से किया जा सकता है।

(क) **शास्त्रीय-दृष्टि**—शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र, नारद भक्ति-सूत्र, हरि भक्ति-रसामृत-सिन्धु (श्री रूप गोस्वामी कृत) भक्ति-शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त महाभारत शान्ति पर्व का नारायणीयोपाख्यान, नारद पाञ्चरात्र, गीता और श्रीमद्भागवत जैसे ग्रन्थों में भी भक्ति के शास्त्रीय तत्त्व मिलते हैं। मध्ययुग की सभी भक्ति-पद्धतियाँ किसी-न-किसी रूप में इन शास्त्रीय ग्रन्थों से प्रेरणा और प्रभाव लेकर पल्लवित हुई हैं। इन सभी ग्रन्थों में 'प्रेम-तत्त्व' को 'भक्ति' का

मूल माना गया है।[१] वल्लभाचार्यजीने भी 'भगवान में माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ सतत स्नेह को ही भक्ति रूप में स्वीकार किया है। कहना न होगा कि सूरदास ने भी प्रेम को ही भक्ति का सर्वस्व माना है।[२] इन शास्त्रीय ग्रन्थों में भक्ति के प्रकारों का भी वर्णन किया गया है। शास्त्रीय आधार पर भक्ति दो प्रकार की मानी गई है—**'गौणी'** और **'परा'**। 'गौणी' साधन दशा की भक्ति है; 'परा' सिद्ध दशा की। 'परा' भक्ति की स्थिति में भक्त को पूर्ण मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। 'गौणी' भक्ति के पुनः दो भेद किये गये हैं—**'वैधी'** और **'रागानुगा'**। वैधी भक्ति शास्त्रानुकूल विधि-विधानों के साथ की जाती है; 'रागानुगा' भक्ति भगवान के अनुग्रह से बिना किसी विधि-विधान के ही प्राप्त होती है। 'रागानुगा' भक्ति भी दो प्रकार की मानी गयी है—**'काम रूपा'** और **'सम्बन्ध रूपा'**। 'काम रूपा' भक्ति में भक्त इन्द्रियों की तृप्ति की कामना लोक से न करके भगवान् से करता है; 'सम्बन्ध रूपा' भक्ति में भक्त निष्काम-भाव से इष्ट-देव से दास, सखा, पिता-माता, पुत्र, पति आदि के सम्बन्धों की स्थापना करता है। वल्लभ सम्प्रदाय में साधन और सिद्ध दोनों दशाओं की भक्तियों को मान्यता दी गई है। साधन रूप में भक्ति को स्वीकार करने पर उसका लक्ष्य पूर्ण प्रेम की अवस्था प्राप्त करना माना गया है। वैधी-साधन-भक्ति के अन्तर्गत इस सम्प्रदाय में 'पूजा', 'अर्चा', इष्टदेव की मूर्ति का ध्यान, नाम-स्मरण तथा आठ प्रहर की स्वरूप-सेवा-विधि का विधान किया गया है। सिद्ध-दशा की भक्ति प्राप्त कर लेने पर, इस सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार, भक्त को किसी प्रकार की कामना नहीं रह जाती। वह सभी प्रकारके विधि-निषेधों से परे हो जाता है।[३] सूरदास ने गोपियों के चित्रण में सिद्ध दशा की भक्ति का ही निरूपण किया है। साधन दशा की भक्ति का वर्णन भी उन्होंने अनेक प्रकार से

---

१. 'सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे'—शाण्डिल्य भक्तिसूत्र।

× × ×

'सा त्वस्मिन् परमप्रेम रूपा अमृत स्वरूपा च' —नारद भक्ति सूत्र।

२. हरि के जन की विशेषता बताते हुए सूर ने कहा है—
'हरि पद पंकज दियौ प्रेम बस ताही के रँग राते' —सूरसागर, ना० प्र० स०, पद ४०।

३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डॉ० गुप्त, पृष्ठ ५३८।

किया है। भगवान् की सेवा में तो वे स्वयं नियुक्त ही थे। भगवान् के नाम-स्मरण, कीर्तन, गुरु-सेवा आदि की चर्चा तो सूर-सागर में अनेक स्थलों पर की गई है।[1] इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना है कि सूरदासजी ने भक्ति के शास्त्रीय रूप का क्रमबद्ध निरूपण नहीं किया है। उनके स्फुट कथनों में उपर्युक्त शास्त्रीय तत्त्वों के बीज मिल जाते हैं। भक्तों के स्वभाव को दृष्टि में रखकर भक्ति के चार भेद माने गये हैं। तामसी, राजसी, सात्विकी तथा निर्गुणा। निर्गुणा भक्ति निष्काम है। प्रथम तीन प्रकार की भक्तियाँ सकाम हैं। सूरदासजी ने इन चारों प्रकार की भक्तियों का उल्लेख किया है। निर्गुणा भक्ति को उन्होंने 'शुद्धासार' भक्ति भी कहा है।[2] इस प्रकार का शास्त्रीय-विभाजन भी वल्लभ सम्प्रदायानुमोदित है।

(ख) साम्प्रदायिक दृष्टि—साम्प्रदायिक दृष्टिसे सूरदासकी भक्ति पुष्टिमार्गीय है। पुष्टिका साम्प्रदायिक अर्थ 'अनुग्रह' है। पोषणं तदनुग्रहः—[3] भगवान्के अनुग्रहसे ही जीवको मुक्ति मिल सकती है। इस संसारसे छुटकारा पानेका और कोई साधन नहीं है। इस सम्प्रदायमें अनुग्रहको बहुत महत्त्व दिया गया है।

---

१. जनम तौ बादिहिं गयो सिराई।
हरि-सुमिरन नहिं गुरु की सेवा मधुबन बस्यो न जाइ।
× × ×
श्री भागवत सुन्यो नहिं स्रवननि नैकहु रुचि उपजाइ।
× × ×
भव अम्बोधि नाम निज नौका, सूरहिं' लेउ चढ़ाइ।
—सूरसागर, ना० प्र० स० प्रथम स्कन्ध, पद १५५।

२. माता, भक्ति चारि परकार, सत, रज, तम गुन सुद्धसार।
× × ×
भक्ति, सात्विकी, चाहत मुक्ति। रजोगुनी, धन-कुटुंबऽनुरक्ति।
तमोगुनी चाहै या भाइ। मम बैरी क्यौं हूँ मरि जाइ।
सुद्धा-भक्ति मोहिं कौं चाहै। मुक्तिहुँ कौं सो नहिं अवगाहै।
मन-क्रम-वच मम सेवा करै। मन तैं सब आसा परि हरै।
ऐसौ भक्ति सदा मोहिं प्यारौ। इक छिन तातैं रहौं न न्यारौं।
—सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, पद ३९४।

३. श्रीमद्भागवत २।१०।

भगवान्‌का अनुग्रह ही साध्य है ।[1] पुष्टिमार्गमें भक्तोंके चार प्रकार बताये गये हैं । **प्रवाही पुष्ट-भक्त, मर्यादा पुष्ट-भक्त पुष्टि-पुष्ट-भक्त** और **शुद्ध-पुष्ट-भक्त** । प्रवाही पुष्टभक्त संसारमें रहते हुए भी भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिमें रत रहता है । मर्यादा पुष्टभक्त संसारके विषयोंसे अपने मनको विरत करके भगवानकी भक्ति करता है । पुष्टि-पुष्ट भक्त भगवान्‌का अनुग्रह प्राप्त करनेपर भी भक्ति-साधनामें रत रहता है । आचार्य वल्लभकी दृष्टिमें इस कोटिका भक्त श्रेष्ठ है । शुद्ध पुष्टभक्त केवल प्रेम (राग) के आधारपर भगवान्‌का अनुग्रह प्राप्त करता है । उसका हृदय ही भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाभूमि बन जाता है[2] । इस प्रकारके भक्त लोकातीत माने गये हैं । जहाँतक सूरदासजीका प्रश्न है, उन्होंने अपनी कृतियोंमें पुष्टि-भक्तिका यह शास्त्रीय विवेचन नहीं किया है । सम्भवतः उनके पदोंमें पुष्टि शब्दका प्रयोग भी नहीं हुआ है । केवल श्री द्वारिकादास पारीखने कुछ ऐसे पद उद्‌धृत किये हैं जिनमें पुष्टि शब्दका प्रयोग हुआ है[3] । यह होनेपर भी उन्होंने अनेक स्थलोंपर भगवान्‌के अनुग्रहपर बल दिया है । एक स्थानपर वे कहते हैं—'जिसपर दीनानाथ द्रवीभूत (ढरै) होते हैं, कृपा करते हैं (अर्थात् अनुग्रह करते हैं) वही कुलीन है; वही बड़ा है और वही सुन्दर है ।'[4] रासलीलाके प्रसंगमें भी सूरने गोपियोंकी कातर वाणी सुनकर भगवान् कृष्णको सदय होकर कृपा करते हुए (अनुग्रह करते हुए) दिखाया है ।[5] उनकी भक्ति-साधनाका व्यावहारिक रूप तो पुष्टिमार्गीय था ही । पुष्टिमार्गमें जिस 'नाम-सेवा' और 'स्वरूप-सेवा' पर सर्वाधिक बल दिया गया है, सूरदासजीने उसे अपने जीवनमें पूर्णतः चरितार्थ किया था । अपने जीवनके आरम्भिक कालमें चाहे वे शैव रहे हों,[6] चाहे स्वामी

---

[1] पुष्टि मार्गोऽनुग्रहैक साध्यः – अणु भाष्य, चतुर्थ अध्याय ।

[2] हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ २१२ ।

[3] 'सूर निर्णय', पृष्ठ २६६ ।

[4] सूरसागर, ना० प्र० सभा, पद संख्या ३५ ।

[5] हरि सुनि दीन वचन रसाल ।

× × ×

सूर प्रभु करि कृपा जोह्यो सदय भये गोपाल ॥

—सूरसागर, ना० प्र० स०, पद १९४९ ।

[6] सिव-विधान तप करेउ बहुत दिन, तऊ पार नहीं लीन ।

—सूर सारावली ।

हरिदासके शिष्य रहे हों[1], चाहे साधारण सन्तोंकी तरह विरक्त होकर भक्ति करते रहे हों[2] : किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अपनी साधनाकी चरम विकसित अवस्थामें वे पूर्णतः पुष्टिमार्गीय भक्त थे।

(ग) भावगत दृष्टि—सूरदासजीके पदोंमें **दास्य, वात्सल्य, सख्य, मधुर या कान्ताभाव** तथा **निर्वेद भावकी** भक्तिका प्राधान्य मिलता है। **दास्य भावकी** भक्तिके विषयमें कुछ विद्वानोंका मत है कि सूरदासजीने वल्लभ सम्प्रदायमें प्रवेश पानेके पूर्व इस भावकी भक्ति की थी। सूर-साहित्यके विशेषज्ञ डॉ० दीनदयालु गुप्तने इस मतको निराधार सिद्ध किया है[3]। जो भी हो, सूरसागरमें दैन्यभावापन्न पदोंकी संख्या कम नहीं है। इन पदोंमें सूरने अपनी हीनता और भगवान्की भक्त-वत्सलताका चित्रण किया है। दैन्यके अन्तर्गत आनेवाली भक्तकी अनेक मानसिक स्थितियाँ भी इन पदोंमें मिल जाती हैं। दैन्य भावकी भक्ति करनेवाला भक्त कभी अपनी दीनताका[4] प्रदर्शन करता है; कभी **मानमर्षण**[5] (अभिमानका त्याग) की भावनासे अभिभूत हो उठता है। कभी संसारकी भयंकरताकी कल्पना करता हुआ अपने मनको **भयदर्शन**[6] कराकर भगवान्की ओर उन्मुख करना चाहता है। कभी अपने मनकी **भर्त्सना**[7] करता है। कभी यह सोचकर कि भगवान्की कृपा उसे प्राप्त हो गई है **मनोराज्यमें**[8] विचरण करता है। कभी भगवान्के विरुदका ध्यान करके **आश्वासन**[9] प्राप्त करता है। कभी संसारकी विचित्र स्थिति लक्ष्य करता हुआ **विचारण**[10] करता है और कभी उसे अपने जीवनकी व्यर्थतापर **पश्चाताप**[11] होता है। सूरसागरमें ये सभी स्थितियाँ मिल

---

[1] सूर सौरभ, प्रथम भाग, पृष्ठ ३९।

[2] अष्टछाप परिचय, प्रभुदयाल मीतल, पृष्ठ १३१।

[3] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग दो, पृष्ठ ६०२।

[4] सूरसागर (ना० प्र० सभा०), पद १६१।

[5] वही, पद संख्या १२६।

[6] वही, ,, ९७।

[7] वही, ,, ३३५।

[8] वही, ,, ३९।

[9] वही, ,, ८।

[10] वही, ,, ९६।

[11] वही, ,, १५५।

जाती हैं। सूरको अपनी लघुतापर गर्व है। भगवान्‌के पतित-पावन-विरुदपर उन्हें पूर्ण आस्था है। इसीलिए वे कभी-कभी भगवान्‌के नैकस्त्यका अनुभव करते हुए धृष्ट भी हो गये हैं। उन्हें चुनौती भी दे देते हैं; व्यंग्य भी करते हैं किन्तु अन्ततः पूर्ण आत्मसमर्पण भी कर देते हैं।[1] वैष्णव-भक्ति-परम्परा 'दास्य' भावकी स्थितिसे 'प्रीतिरस' की निष्पत्ति मानती है। दास्य भावका भक्त अपनेको सतत रूपसे भगवान्‌का अनुग्राह्य समझता है। इसीलिए वह अपनेको हीन और निकृष्ट समझता है और भगवान्‌को प्रसन्न करना चाहता है। इसी कारण उसमें 'संभ्रम' का भाव उत्पन्न होता है। दास्य भक्तके मनमें विश्वासकी दृढ़ता होनेपर यह भावना उत्पन्न होती है कि भगवान् मेरे प्रभु और रक्षक हैं। इसी भावनाको 'गौरव' कहा गया है। इन्हीं आधारोंपर दास्य-भक्तिके दो रूप माने गये हैं। 'सम्भ्रम-प्रीति' और 'गौरव-प्रीति'।[2] सूरके दैन्य भावके पदोंमें 'सम्भ्रम' और 'गौरव' दोनों ही भावनाएँ मिल जाती हैं। दास्य भावकी भक्ति प्रेमाभक्तिकी आरम्भिक अवस्था है। इसीलिए इसे वल्लभ-सम्प्रदायमें विशेष महत्त्व नहीं प्राप्त है। मध्य-युगमें दास्य भावकी भक्ति सामान्यतः सभी भक्ति-सम्प्रदायों और भक्तोंमें मिल जाती है। इसके मूलमें हिन्दू-जातिके पराजय-भावना-जनित-क्लैव्यको लक्ष्य किया जा सकता है। काव्यशास्त्रके ग्रन्थोंमें दैन्यको दुर्गति अथवा परतिरस्कृति आदिसे उत्पन्न मनःक्लैव्य कहा गया हैं।[3] निरन्तर पराजित होनेवाली जातिके जीवनमें यह क्लैव्य क्षणिक भाव न होकर स्थायी मनोवृत्ति बन गया। जीवनमें पुनः विश्वास उत्पन्न करनेके प्रयत्नमें वैष्णव भक्तोंने इसे ईश्वरोन्मुख करके उदात्त और परिष्कृत कर दिया। वल्लभाचार्य 'दैन्य' में अन्तर्निहित इस क्लैव्यको पहचानते थे और वे हिन्दू-जातिका 'घिघियाना' दूर करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने 'सख्य', 'वात्सल्य' और 'मधुर' भावोंको उत्तरोत्तर महत्त्व प्रदान किया।

---

[1] जौ हम भले बुरे तौ तेरे।
सब तजि तुव सरनागत आयौ निजकर चरन गहे री।
—सूरसागर, ना० प्र० स० १७० पद।

[2] कल्याण साधनांक, 'पञ्चधा भक्ति', पृष्ठ ५१९।

[3] 'दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत', साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद।

वात्सल्य-भक्तिका वल्लभ सम्प्रदायमें अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है। भगवान्‌को अपना बालक मानकर उसके प्रति प्रीति करनेमें किसी प्रकारके मानसिक कलुषके उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं रहती। प्रीतिका आलम्बन बालक निरीह, निष्कलुष, अशक्त और अबोध होता है। अपनेको माता या पिता रूपमें कल्पित करके प्रीति करने वाला भक्त प्रीतिके बदलेमें किसी प्रकारकी कामना नहीं कर सकता। इस प्रकार वात्सल्य भावकी भक्ति प्रकृततः निष्काम-भक्ति है। वत्सलताका भाव विश्वजनीन भी है। अतः इसे सहृदय मानव-मात्र भक्तिका आधार बना सकता है। सूरदासजीने वात्सल्य भक्तिको अत्यधिक महत्व दिया है। दैन्य और सख्य इन दोनोंकी तुलनामें वत्सल भावके चित्रणमें उनकी प्रवृत्ति अधिक रमी है। यही कारण है कि उनके सूरसागरमें वत्सल भाव 'वात्सल्य रस'की स्थितिमें पहुँच गया है।

सख्य-भक्तिके अन्तर्गत भक्त परमात्माको अपना सुख-दुःखका साथी सहायक और मित्र मानकर उससे प्रीति करता है। सूरने सख्य-भावका चित्रण बाल और गोचारण लीलाओं तथा 'सुदामा-दरिद्र-भञ्जन' नामक प्रसङ्गमें किया है। कृष्णके साथ अनेक प्रकारकी लीलायें करते हुए गोपवृन्द उन्हें 'अपनेमेंसे एक' समझने लगते हैं। कृष्णका सामाजिक वैशिष्ट्य उन्हें विस्मृत हो जाता है। वे अपनेको समान स्तरपर देखते हैं। भगवान् कृष्ण भी आवश्यकता पड़नेपर अपने रूठे हुये सखाओंको मनाते हैं और अपनेको किसी प्रकार भी बड़ा नहीं अनुभव करते। गोचारण प्रसंगमें सख़्य-भक्तिका पूर्ण विकास हुआ है। विद्वानोंने इस प्रसंगका आध्यात्मिक अर्थ भी लिया है। विषयोंमें प्रवृत्त होनेवाली इन्द्रियाँ (गो) हीं गायें हैं। इनको चराना इनका निरोध करना है। कृष्ण अपने सखाओं-की 'हरिहा' (वशमें न आनेवाली) गायोंको भी चराते हैं अर्थात् वशमें न आने वाली इन्द्रियोंको संयमित करनेमें सहायक होते हैं। यह उनका सख्य-अनुग्रह है।[१] सूरदासके गोचारण सम्बन्धी पदोंका यह आध्यात्मिक अर्थ भी लिया जा सकता है।

मधुर-भक्ति या कान्ता-भक्ति—भगवान्‌को पति और अपनेको पत्नी

---

[१] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, दूसरा भाग, पृष्ठ ६१४

रूपमें, या भगवान्‌को प्रिय और अपनेको प्रेमी रूपमें या भगवान्‌को प्रेमी और अपनेको प्रिया रूपमें देखना ही माधुर्य भावकी भक्ति है।[1] सूरकी प्रवृत्ति सर्वाधिक इसी भावकी भक्तिमें रमी है। गोपियों और कृष्ण तथा राधा और कृष्ण के रागात्मक सम्बन्धोंके माध्यमसे इसी माधुर्य भावकी भक्तिकी अभिव्यक्ति हुई है। वल्लभ-सम्प्रदायमें इसी भावको सर्वोपरि माना गया है यह मधुर-भावकी भक्ति भी दो प्रकारकी मानी गई है—**स्वकीय भाव** और **परकीय भाव**। परकीय भावमें अधिक ऊष्णता, आवेश और तन्मयता मानी गई है। मनोवैज्ञानिक आधारपर भी यह मान्यता सर्वथा सत्य है। सूरदासजीने राधाको स्वकीया रूपमें ही दिखाया है। वे कृष्णकी गान्धर्व विधिसे विवाहिता पत्नी हैं।[2] गोपियों और कृष्णके सम्बन्धमें परकीय भावकी अभिव्यक्ति भी हुई है। सूरने ऐसी विवाहिता गोपियोंका भी वर्णन किया है जो कुल-मर्यादाका उल्लंघन करके उसी प्रकार कृष्णसे जाकर मिल जाती हैं जैसे नदी सिन्धुमें।[3] मिलनकी यह अनिवार्य उत्कंठा माधुर्य भावकी भक्तिका सर्वस्व है।

शान्ता-भक्ति या निर्वेद-भावकी भक्ति—तत्वज्ञानसे उत्पन्न निर्वेद ही शान्त रसका स्थायी भाव होता है।[4] तत्त्वज्ञान होनेपर जब भक्त सांसारिक विषयोंसे चित्त वृत्तिको समेटकर शान्त चित्तसे भगवान्‌का स्मरण करता है तो उसकी भक्ति निर्वेद भावकी मानी जा सकती है। सूरदासजीके विनय सम्बन्धी पदोंमें संसारकी असारता, वैराग्य और आत्म प्रबोधनकी भावनासे युक्त अनेक पद हैं। सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो सारे सूरसागरमें चित्त-वृत्तियोंको समेटकर (शान्त-चित्तता प्राप्त कर) भगवान्‌से अत्यधिक नैकट्य प्राप्त करनेका ही प्रयत्न किया गया है। इस प्रकारसे सूरसागरमें शान्तरसकी अन्तर्धारा प्रवाहित हुई है।

---

[1] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ४९८।

[2] सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृष्ठ ६२९, सभा संस्करण।

[3] लोक-सकुच कुल कानि तजी।
जैसे नदी सिन्धुको धावै तैसे स्याम भजी।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १६३१।

[4] निर्वेदोविषयेस्थायी तत्वज्ञानोद्भवः सचेत्।
भक्ति रसामृत सिन्धु, पश्चिम विभाग, १ लहरी, पृष्ठ ३२५।
—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ६४९ पर उद्धृत।

भक्तिके अन्य प्रकार और सूरकी भक्ति—उपर्युक्त भक्ति-प्रकारोंके अतिरिक्त सूरदासजीने **नवधा भक्ति** (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, और आत्म-निवेदन) और 'नारद भक्ति-सूत्र'के अनुसार **प्रेमाभक्तिके ग्यारह प्रकारों** (गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्तिका भी उल्लेख किया है। नवम् स्कन्धमें राजा अंबरीषके प्रसंगमें नवधा भक्तिकी चर्चा मिलती है।[1] स्वयं आचार्य वल्लभने 'नवधा भक्ति'को 'प्रेमाभक्ति' प्राप्त करनेका साधन माना है और उसके सभी प्रकारोंका समावेश-पुष्टि मार्गीय भक्तिके अन्तर्गत किया है। नौ प्रकारकी भक्तियोंमें प्रथम तीन नाम सेवाके अन्तर्गत आ जाती हैं। दूसरी तीनका सम्बन्ध 'रूपसेवा'से है और अन्तिम तीन भावना-विस्तारके अन्तर्गत आ गई हैं। 'नारद-भक्तिसूत्र'की प्रेमाभक्तिके ग्यारह प्रकार भी पुष्टिमार्गीय भक्तिके अन्तर्गत आ गये हैं। वस्तुतः आचार्य वल्लभने पुष्टिमार्गीय भक्तिका विधान ही पूर्ववर्त्ती भक्ति-ग्रन्थोंके आधारपर किया था। अतः उपर्युक्त भक्ति-प्रकारोंका समावेश सूरदासजीकी कृतियोंमें होना स्वाभाविक ही है।

अन्य साधनायें और सूरकी भक्ति-पद्धति

भक्तिके अतिरिक्त भारतीय साधनाके अन्तर्गत ज्ञान, योग और कर्म साधनाओंकी महत्ता भी स्वीकार की गई है। सूरदासजीने भक्तिको सर्वश्रेष्ठ माना है। मध्ययुगके सभी भक्तोंकी यही मान्यता रही है। ज्ञान-मार्गका सूरने निषेध नहीं किया है। वह उसे इसलिये श्रेयस्कर नहीं मानते कि वह सर्वसाध्य नहीं है। 'हरिके जनकी ठकुराई'की चर्चा करते हुए जहाँ उन्होंने 'दृढ़ विश्वास'को उसका सिंहासन (मूलाधार) माना है वहीं उन्होंने 'ज्ञान'को उसका (भक्तका) मन्त्री स्वीकार किया है। इससे प्रकट है कि वे अन्ध भक्तिके समर्थक नहीं थे। योग-साधनाका वह रूप जो हठयोगियोंमें प्रचलित था, (अर्थात्

---

[1] स्रवन-कीरतन सुमिरन करै। पद-सेवन-अरचन उर धरै।
बंदन दास पनौं सा करै। भक्तनि सख्य भाव अनुसरै॥
काय-निवेदन सदा विचारै। प्रेम सहित नवधा विस्तारै।
नवम स्कन्ध पद ५।

रूपमें, या भगवान्‌को प्रिय और अपनेको प्रेमी रूपमें या भगवान्‌को प्रेमी और अपनेको प्रिया रूपमें देखना ही माधुर्य भावकी भक्ति है।[१] सूरकी प्रवृत्ति सर्वाधिक इसी भावकी भक्तिमें रमी है। गोपियों और कृष्ण तथा राधा और कृष्ण के रागात्मक सम्बन्धोंके माध्यमसे इसी माधुर्य भावकी भक्तिकी अभिव्यक्ति हुई है। वल्लभ-सम्प्रदायमें इसी भावको सर्वोपरि माना गया है यह मधुर-भावकी भक्ति भी दो प्रकारकी मानी गई है—**स्वकीय भाव** और **परकीय भाव**। परकीय भावमें अधिक ऊष्णता, आवेश और तन्मयता मानी गई है। मनोवैज्ञानिक आधारपर भी यह मान्यता सर्वथा सत्य है। सूरदासजीने राधाको स्वकीया रूपमें ही दिखाया है। वे कृष्णकी गान्धर्व विधिसे विवाहिता पत्नी हैं।[२] गोपियों और कृष्णके सम्बन्धमें परकीय भावकी अभिव्यक्ति भी हुई है। सूरने ऐसी विवाहिता गोपियोंका भी वर्णन किया है जो कुल-मर्यादाका उल्लंघन करके उसी प्रकार कृष्णसे जाकर मिल जाती हैं जैसे नदी सिन्धुमें।[३] मिलनकी यह अनिवार्य उत्कंठा माधुर्य भावकी भक्तिका सर्वस्व है।

शान्ता-भक्ति या निर्वेद-भावकी भक्ति—तत्वज्ञानसे उत्पन्न निर्वेद ही शान्त रसका स्थायी भाव होता है।[४] तत्त्वज्ञान होनेपर जब भक्त सांसारिक विषयोंसे चित्त वृत्तिको समेटकर शान्त चित्तसे भगवान्‌का स्मरण करता है तो उसकी भक्ति निर्वेद भावकी मानी जा सकती है। सूरदासजीके विनय सम्बन्धी पदोंमें संसारकी असारता, वैराग्य और आत्म प्रबोधनकी भावनासे युक्त अनेक पद हैं। सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो सारे सूरसागरमें चित्त-वृत्तियोंको समेटकर (शान्त-चित्तता प्राप्त कर) भगवान्‌से अत्यधिक नैकट्य प्राप्त करनेका ही प्रयत्न किया गया है। इस प्रकारसे सूरसागरमें शान्तरसकी अन्तर्धारा प्रवाहित हुई है।

---

[१] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ४९८।

[२] सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृष्ठ ६२९, सभा संस्करण।

[३] लोक-सकुच कुल कानि तजी।
जैसे नदी सिन्धुको धावै तैसे स्याम भजी।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १६३१।

[४] निर्वेदोविषयेस्थायी तत्वज्ञानोद्‌भवः सचेत्।
भक्ति रसामृत सिन्धु, पश्चिम विभाग, १ लहरी, पृष्ठ ३२५।
—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ६४९ पर उद्धृत।

भक्तिके अन्य प्रकार और सूरकी भक्ति—उपर्युक्त भक्ति-प्रकारोंके अतिरिक्त सूरदासजीने **नवधा भक्ति** (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, और आत्म-निवेदन) और 'नारद भक्ति-सूत्र'के अनुसार **प्रेमाभक्तिके ग्यारह प्रकारों** (गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्तिका भी उल्लेख किया है। नवम् स्कन्धमें राजा अंबरीषके प्रसंगमें नवधा भक्तिकी चर्चा मिलती है।[1] स्वयं आचार्य वल्लभने 'नवधा भक्ति'को 'प्रेमाभक्ति' प्राप्त करनेका साधन माना है और उसके सभी प्रकारोंका समावेश-पुष्टि मार्गीय भक्तिके अन्तर्गत किया है। नौ प्रकारकी भक्तियोंमें प्रथम तीन नाम सेवाके अन्तर्गत आ जाती हैं। दूसरी तीनका सम्बन्ध 'रूपसेवा'से है और अन्तिम तीन भावना-विस्तारके अन्तर्गत आ गई हैं। 'नारद-भक्तिसूत्र'की प्रेमाभक्तिके ग्यारह प्रकार भी पुष्टिमार्गीय भक्तिके अन्तर्गत आ गये हैं। वस्तुतः आचार्य वल्लभने पुष्टिमार्गीय भक्तिका विधान ही पूर्ववर्त्ती भक्ति-ग्रन्थोंके आधारपर किया था। अतः उपर्युक्त भक्ति-प्रकारोंका समावेश सूरदासजीकी कृतियोंमें होना स्वाभाविक ही है।

अन्य साधनायें और सूरकी भक्ति-पद्धति

भक्तिके अतिरिक्त भारतीय साधनाके अन्तर्गत ज्ञान, योग और कर्म साधनाओंकी महत्ता भी स्वीकार की गई है। सूरदासजीने भक्तिको सर्वश्रेष्ठ माना है। मध्ययुगके सभी भक्तोंकी यही मान्यता रही है। ज्ञान-मार्गका सूरने निषेध नहीं किया है। वह उसे इसलिये श्रेयस्कर नहीं मानते कि वह सर्वसाध्य नहीं है। 'हरिके जनकी ठकुराई'की चर्चा करते हुए जहाँ उन्होंने 'दृढ़ विश्वास'को उसका सिंहासन (मूलाधार) माना है वहीं उन्होंने 'ज्ञान'को उसका (भक्तका) मन्त्री स्वीकार किया है। इससे प्रकट है कि वे अन्ध भक्तिके समर्थक नहीं थे। योग-साधनाका वह रूप जो हठयोगियोंमें प्रचलित था, (अर्थात्

---

[1] स्रवन-कीरतन सुमिरन करै। पद-सेवन-अरचन उर धरै।
वंदन दास पनौं सा करै। भक्तनि सख्य भाव अनुसरै॥
काय-निवेदन सदा विचारै। प्रेम सहित नवधा विस्तारै।
नवम स्कन्ध पद ५।

काया-साधना) उन्हें मान्य नहीं था। गोपियोंके माध्यमसे उन्होंने हठयोगकी खिल्ली उड़ाई है। योगका मूल रूप (चित्तवृत्तिनिरोध) उन्हें मान्य है। भक्ति-साधना 'मन्त्र-योग' का एक अंग है। मन्त्रयोगकी साधनामें भी ईश्वरके किसी नाम और किसी रूपका ध्यान करते हुये चित्तवृत्तिको सांसारिक विषयोंसे विरत करके एकाग्र किया जाता है। सूरदासजी प्रेम-साधनाको प्रेम-योग मानते हैं। इस प्रकार योगका मूल रूप उन्हें मान्य है। कर्म-साधना अपने तात्त्विक रूपमें अनासक्तिका अभ्यास है। व्यावहारिक रूपमें उसे कर्मकाण्ड (विधि-विधान)के अर्थमें ग्रहण करते हैं। सूरदासजीको कर्मकाण्डका आडम्बर मान्य नहीं। वे जटिल विधि-विधानोंको स्वीकार नहीं करते किन्तु भगवान् की स्वरूप-सेवामें एक प्रकारसे कर्मकाण्डका समावेश तो हो ही गया है। 'अनासक्ति' उन्हें मान्य है। अनासक्त हुये विना निष्काम भक्ति हो ही नहीं सकती। सूरसागरके तीसरे स्कन्धमें भक्त-महिमाका वर्णन करते हुए सूरने 'कर्मयोग' और 'ज्ञानयोग'को भी भक्तिके अन्तर्गत परिगणित किया है और 'कर्मयोगी भक्त', 'ज्ञानयोगी भक्त' और 'भक्तियोगी भक्त' ये तीन कोटियाँ स्थापितकी हैं।[1] दूसरे स्कन्धमें सूरने भक्ति-पथ का अनुसरण करने वालोंके लिए अष्टांग योगकी साधनाको भी आवश्यक बताया है।[2] इस प्रकार सूरकी भक्ति-पद्धतिमें अन्य साधनाओंके उचित और तात्त्विक रूप आ गये हैं। उनकी भक्ति-पद्धतिमें ऊँच-नीचका भेद-भाव भी नहीं है।[3] स्वयं वल्लभाचार्य तथा भक्ति-मार्गके अन्य आचार्योंने भी इस क्षेत्रमें ऊँच-नीचका भेद नहीं माना था। इस भक्ति-पद्धतिमें गृह-त्याग भी आवश्यक नहीं है। इस प्रकार अपने व्यापक रूपमें सूरकी भक्ति 'पूर्ण जीवन दर्शनके' रूपमें ग्रहणकी जा सकती है।

---

[1] त्रिविध भक्ति कहौं सुनि अब सोइ। जातैं हरिपद प्रापति होइ।
एकै कर्म-जोग कौं करैं। बरन-आसरम धर विस्तरैं॥
एकै भक्ति जोग कौं करैं। हरि-सुमिरन पूजा विस्तरैं।
एकै ज्ञान जोग विस्तरैं। ब्रह्म जानि सब सौं हित करैं।—तृतीय स्कन्ध, पद १३।

[2] भक्तिपथ कौं जो अनुसरै। सो अष्टांग जोग कौं करै।—द्वितीय स्कन्ध, पद २१।

[3] 'जाति-पाति कोऊ पूछत नाहीं श्रीपति के दरबार।'
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध।

काव्य-सौष्ठव

सूरदासजीने मानव-हृदयकी लोकव्यापी अन्तर्वृत्तियोंके चित्रणके लिये प्रकृतिके स्वच्छन्द रमणीय वातावरणको आधार-पट बनाया है। व्रजभूमिका ग्राम्य वातावरण, वृन्दावनकी गोरज-मंडितभूमि, करीलके सघन कुञ्ज, यमुनाका मनोहर तट तथा तमाल और कदम्बकी शीतल छाया प्रकृतिके ऐसे उपादान हैं जो मानव-मनको बरबस उल्लसित कर देते हैं। प्रकृतिके इस रहस्य-लोकमें विचरण करते हुये सूरने वह मनोभूमि प्राप्त की थी जहाँ जड़ और चेतन, सीमा और असीम, लौकिक और अलौकिकका भेद मिट गया था। इसीलिए उनके काव्यमें चेतन मानवके समस्त क्रियाकलापोंमें जड़ प्रकृति सहयोग करती है; कृष्णके रूप और लीलाके माध्यमसे असीम सौन्दर्य सत्ता और अलौकिक आनन्द सिमट कर साकार हो उठता है। सूरकी यह विशिष्ट समुन्नत मनोभूमि ही उनके काव्यको अमरत्त्व प्रदान करनेमें समर्थ हुई है। सूरके काव्यके रहस्यमय आकर्षणका एक अन्य कारण भी है। मानवता अपनी विकास-यात्रामें जिन लोक-व्यापारों को सुदूर अतीतमें छोड़ आई है उसके प्रति हमारे मन में सहज तीव्र आकर्षणकी उद्भूति स्वाभाविक है। वे दिन कितने सुखद रहे होंगे जब मानव कृत्रिमतासे दूर पशुचारणकी स्थितिमें स्वच्छन्द जीवनयापन करता रहा होगा। उसकी वृत्तियाँ निष्कलुष, भावनायें पवित्र, आचार सहज और सम्बन्ध अकृत्रिम रहे होंगे। सूरके गोप-गोपियोंका जीवन इसी नैसर्गिक सुषमासे मण्डित है। मध्ययुगकी आध्यात्मिक साधनासे उपलब्ध दिव्य मनोभूमिके अलौकिक आनन्दको पशुचारण युगके मुक्त जीवनके सहज लौकिक उल्लाससे मिलाकर मधुर भाव-सागरकी सृष्टि करना सूर जैसे महाकविका ही कार्य था।

भावानुभूति—सूरका हृदय मधुर भावनाओंका कोष था। उनके काव्यमें प्रीतिके चारों रूपों 'दैन्य', 'वात्सल्य', 'सख्य', और 'दाम्पत्य'का पूर्ण विस्तार मिलता है। इनके पोषक और सहकारी अनेक भाव परिस्थितिके अनुकूल सूरसागरमें तरंगित हुये हैं। दैन्यके अन्तर्गत आत्महीनता और प्रभुकी महत्ताके अतिरिक्त धृष्टता, विनोदात्मकता और ओजस्विताके दर्शन भी होते हैं। कविको प्रभुकी भक्तवत्सलतापर अत्यधिक विश्वास है। विश्वासकी यह सघनता उसे धृष्टताकी सीमा तक पहुँचा देती है। वह प्रभुको चुनौती देता है। यह चुनौती

रागमूलक है। वह अपनेको आराध्यके अतिनिकट अनुभव करता है। उसमें व्यंग्य और विनोदकी प्रवृत्ति जाग उठती है। वह कहता है 'हे माधव, आज मैं अपने बलसे लडूँगा। या तो आप ही रहेंगे या मैं ही।' भीष्म-प्रतिज्ञाके प्रसङ्गमें कविके विश्वासमें ओजस्विता आ जाती है। वह भीष्मके मुखसे ओजपूर्ण प्रतिज्ञा करवाता है।[1] इस प्रतिज्ञामें अन्तर्निहित उत्साह स्वतन्त्र नहीं है। वह दैन्यका ही अंग है क्योंकि कविको विश्वास है कि प्रभु कृपा करके उसकी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी करा देंगे। प्रतिज्ञा-पूर्तिमें प्रभुका अनुग्रह ही कारण है। इस प्रसंगकी अवतारणा भक्तवत्सलताको उदाहृत करते हुए ही की गई है। इन प्रसङ्गोंसे प्रकट है कि सूर अपने दैन्यमें भी अपेक्षाकृत अधिक मुखर हैं। तुलसीमें यह मुखरता नहीं है।

सूरका वात्सल्य वर्णन हिन्दी-साहित्यमें सर्वश्रेष्ठ है। सूरने साहित्य-दर्पण-कारकी इस उक्तिको कि "स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः" (अन्य रसों से भिन्न प्रकारका चमत्कार होनेके कारण वात्सल्य भी रस है) को सार्थक सिद्ध कर दिया है। इस रसका स्थायी भाव 'वत्सल' है। आलम्बन पुत्रादि हैं। उनकी चेष्टायें उद्दीपन विभावका कार्य करती हैं। आलिङ्गन, अंगस्पर्श, शिरश्चुम्बन, स्नेहपूर्वक देखना, आनन्दाश्रु, रोमाञ्च आदि अनुभाव हैं। अनिष्टकी आशंका, हर्ष, गर्व आदि इसके संचारी भाव हैं।[2]

सूरके वात्सल्य चित्रणमें शास्त्रस्थिति-सम्पादन-मात्र नहीं हुआ है। कविने अनेक सहकारी भावोंकी व्यञ्जनासे पुष्ट करके—इस भावको अत्यन्त विशद पट-भूमि प्रदान की है। माता यशोदाके हृदयमें बालरूप भगवानके दर्शनकी

---

१. आजु जौं हरिहिं न शस्त्र गहावौं।
तौ लज्जा गंगा-जननीकी शान्तनु सुत न कहावौं।—प्रथम स्कन्ध, पद २७०।

२. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्या शौर्यदयादयः।
आलिङ्ग-नाङ्ग संस्पर्श शिरश्चुम्बनमीक्षणम्।
पुलकानन्द वाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
सञ्चारिणोऽनिष्ट शङ्का हर्ष गर्वादयो मताः॥
—साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक— २५१; ५२; ५३।

उत्सुकता कम नहीं है। वे उनके भविष्यके सुखद जीवनकी अभिलाषा करती हैं। ऐसे अलौकिक बालकको पुत्र रूपमें प्राप्त कर उन्हें गर्वकी अनुभूति भी होती हैं। वे उसकी परिचर्यामें उत्साहित होकर तन्मय हो जाती हैं। कृष्ण कुछ बड़े हो जाते हैं। माता उन्हें चलना सिखाती हैं। बालक कृष्णके पैर डगमगाते हैं, वे गिरने लगते हैं और 'अरबराकर' अपना हाथ माताको पकड़ा देते हैं। माता मोदमग्न हो जाती हैं। कुछ और बड़े होनेपर बलदेवकी लम्बी, मोटी, चोटी देखकर उनमें स्पर्धाकी भावना जाग्रत होती है। वे पूछ बैठते हैं—

> मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
> किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
> तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों ह्वैहै लाँबी मोटी॥

इस निष्कलुष स्पर्धाकी यशोदाके हृदयमें जो सुखद प्रतिक्रिया हुई होगी उसे मातृहृदय ही समझ सकता है। कुछ दिनों बाद कृष्ण ऊधम मचाने लगते हैं। माखन चुराते हैं। मटकी फोड़ते हैं। बाल-सखाओंकी एक अच्छी टोली बना लेते हैं। यशोदाके पास शिकायतें आती हैं। यशोदाको अमर्ष होता है। कभी-कभी वे कृष्णको दण्ड देती हैं। और कभी वे अपनी सरल वाक्पटुतासे बच निकलते हैं। दण्ड देनेपर माताको ग्लानि भी होती है। अब कृष्ण ग्वाल-बालोंके साथ खूब खेलने लगे हैं। हार जानेपर व्यर्थ ही लड़ाई करने लगते हैं। बाल-सखाओंको क्षोभ होता है। वे कहते हैं—

> खेलनमें को काको गोसैयाँ।
> हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
> जाति-पाँति हमते कछु नाहीं, न बसत तुम्हारी छैयाँ।
> अति अधिकार जनावत याते अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥

कृष्ण बड़े होते जाते हैं। वयके साथ उनके कार्य-कलापोंमें परिवर्तन होता है। साथ ही माताके हृदयमें भावगत परिवर्तन भी होता है।

चीरहरण तथा दधिदानकी घटनाओंसे माता यशोदाको क्षोभ होता है। कालिय-दमनके अवसरपर उनका हृदय कृष्ण-अमंगलकी संभावनासे आशंकित हो उठता है। वे चिन्तासे व्यथित हो जाती हैं। कृष्णकी इन लीलाओंके साथ ही

बीच-बीचमें कवि उनके अलौकिक कृत्योंका वर्णन करता रहता है। कृष्णका बाल-व्यक्तित्व पूरे ब्रजमण्डलके क्रिया-कलापका केन्द्र-बिन्दु बन जाता है। उनका सबसे सम्बन्ध है। नन्द-यशोदाके अतिरिक्त ग्वालबाल, गोपियाँ, राधा, सभी कृष्णपर खीझते-रीझते रहते हैं। जान भी नहीं पड़ता और एक दिन कृष्ण रसिक-शिरोमणि हो जाते हैं और सूर माधुर्य भावके बहुविध चित्रोंके अंकनमें मग्न हो जाते हैं। कृष्णके मथुरा प्रस्थानके अवसरपर कविने वत्सलपूरित-मातृ-हृदयकी व्याकुलता, उद्विग्नता, विवशता, चिन्ता और खिन्नताका बड़ा ही सजीव अंकन किया है। 'गच्छत् प्रवास वात्सल्य' के अनेक मार्मिक चित्र सूरसागरमें देखे जा सकते हैं। कृष्णके मथुरा चले जानेपर माता यशोदाका विवश वात्सल्य उदासीनतामें परिणत हो जाता है। मातृहृदयकी कातरता, विवशता और क्षोभ-गर्भित उदासीनताका विचित्र सन्निवेश वियोग वात्सल्यके इस चित्रमें देखा जा सकता है—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करति ही रहियो।
तुम तो टेव जानतिहि ह्वैहौ तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहिं माखन रोटी भावै।

माता यशोदाकी वत्सलता ऐसी वस्तु नहीं जो कभी भुलाई जा सके। मधुपुरीमें राजकार्योंमें व्यस्त श्रीकृष्णके हृदयमें भी उसकी स्मृति सजीव है। तभी तो वे ऊधवसे सन्देश भेजते हैं—

नीकैं रहियौ जसुमति मैया।
आवैंगे दिन चारि पाँच मैं हम हलधर दोउ भैया।
नोई, बेंत, बिषान, बाँसुरी, द्वार अबेर सबेरैं।
लै जनि जाइ चुराइ राधिका कछुक खिलौना मेरे।
जा दिन तैं हम तुमतैं बिछुरे, कोउ न कहत कन्हैया।
उठि न सबेरे कियौ कलेऊ, साँझ न चीपी धैया।
कहियै कहा नन्द बाबा सौं, जितौ निठुर मन कीन्हौ।
सूरदास पहुँचाइ मधुपुरी, फेरि न सोधौ लीन्हौ।

सचमुच सूरदासजी मातृहृदयका कोना-कोना झाँक आये थे। उनकी

यशोदा विश्वजननी है। वे मात्र माता हैं। उनके कृष्ण विशिष्ट बालक नहीं मात्र बालक हैं। कहीं-कहीं उनके बाल-चरित्र अलौकिक हो गये हैं किन्तु उससे सूरके काव्य-सौष्ठवका कलात्मक ह्रास नहीं हुआ है। वात्सल्य भावका इतना विशद, सूक्ष्म और मार्मिक चित्रण करनेमें मध्ययुगका अन्य कोई कवि समर्थ नहीं है। तुलसी भी नहीं।

सख्य-भावके चित्रणमें भी सूरकी अद्भुत काव्य-शक्तिका परिचय मिलता है। इसके अन्तर्गत भी कई भावोंकी व्यञ्जना देखी जा सकती है। गोचारण करते समय कृष्ण गोप-बालोंके अत्यधिक निकट हैं। बड़ा ही मुक्त जीवन है। ग्वाल-बालोंको कृष्णको अपने बीचमें पाकर अपार हर्ष होता है वे उनके मुरली-वादनपर मुग्ध हैं। उनसे बार-बार मुरली बजानेका आग्रह करते हैं—छबीले मुरली नैंकु बजाउ। कभी-कभी वे कृष्णके अलौकिक कृत्योंको देखकर **विस्मयमें** पड़ जाते हैं। बनमें आकस्मिक घटनाएँ भी आ उपस्थित होती हैं। गोप-बालोंका हृदय आशंकासे भर जाता है। किन्तु ये सब भाव क्षणिक हैं। गोचारणका अधिकांश समय हास-परिहास व्यंग्य-विनोदमें व्यतीत होता है। इसीलिए तो जब कृष्ण मथुरामें जाकर इन सखाओंकी सुधि नहीं लेते तो वे क्षुब्ध होकर कहते हैं—

'भये हरि मधुपुरी-राजा, बड़े बंस कहाय।
सूत मागध बदत विरुदहिं बरनि वसुद्यौ तात।
राज भूषन अंग भ्राजत, अहिर कहत लजात।'

सूरके सागरमें सबसे विशद और गम्भीर भाव दाम्पत्य-रतिका है। इसका पूर्ण विस्तार तीन स्थितियोंमें देखा जा सकता है। **पूर्वराग**की स्थितिमें; **प्रेमप्राप्ति-के उपरान्त** संयोग-वियोगकी स्थितिमें; और कृष्णके मथुरा गमनके पश्चात् **चिर-वियोग**की स्थितिमें। इसका विकास राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्णके रागमय जीवनमें आनेवाली अनेक सम-विषम परिस्थितियोंमें स्वाभाविक ढंगसे हुआ है। इसका आरम्भ प्रत्यक्ष रूप-दर्शनसे 'लरिकाई' में ही होता है। खेलते हुए कृष्ण एक दिन 'रवि-तनया' के तटपर पहुँच जाते हैं। वहाँ—

"औचक ही देखी तहँ राधा, नैन विसाल, भाल दिये रोरी।
सूरस्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥"

कृष्णका कुतूहल मौन नहीं रह पाता—

"बूझत स्याम, कौन तू, गोरी।
कहाँ रहति, का की तू बेटी ? देखी नाहिं कहूँ ब्रजखोरी।"

राधाकी नारी सुलभ लज्जा उसके चञ्चल किशोर सौन्दर्यकी रखवाली नहीं कर पाती। उसका लाजभरा सौन्दर्य प्रत्युत्तरमें मुखर होता है—

"काहेको हम ब्रज तन आवति ? खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति स्रवननि नंद ढोटा करत रहत माखन-दधि चोरी।"

कृष्ण कुछ कम तो थे नहीं—

"तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं ? खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी।"

यहीं उस दाम्पत्य प्रीतिकी नींव पड़ती है जिसके आधारपर आगे चलकर राधा-माधवके मधुर व्यक्तित्वका विकास होता है। किशोरावस्थाकी विविध चपल क्रीड़ाओंमें विकसित होकर यह प्रेम गम्भीरतर होता जाता है। यह प्रेमी और प्रिय दोनों ओरसे सम है। यदि कृष्ण, राधाकी रूपमाधुरीपर मुग्ध हैं तो राधा भी अपनी 'चितवनि' को नहीं रोक पातीं। वह 'स्याम सुन्दर-सिन्धु-सनमुख' प्रवाहित होनेके लिये विवश है। अन्य गोपियोंकी भी यही स्थिति है। वे कृष्णके अनुपम रूप-लावण्यको देखकर आत्म-विस्मृत हो जाती हैं। (स्याम-अंग जुवती निरखि भुलानी) ग्राम्य जीवनके मुक्त वातावरणमें साहचर्यके अवसरोंकी कमी नहीं। खेलके बहाने, गो-दोहनके अवसरपर, जमुना-जलमें विहार करते समय राधा-कृष्णकी भेंट हो ही जाती है। अनेक लीलाओंमें परिपुष्ट होकर राधा-कृष्णका राग मंजिष्ठा रागकी स्थितिमें पहुँच जाता है। यह राग अनेक सहकारी भावोंसे पुष्ट होता है। माखन चोरीके समय 'अभिलाषा' और हर्षके अतिरिक्त 'रोमाञ्च', 'स्तम्भ', 'स्वरभेद' आदि सात्विक भावोंकी व्यञ्जना हुई है। 'दान-लीला' के प्रसङ्गमें 'अमर्ष', 'लज्जा', 'हर्ष', 'क्षोभ' आदि भावोंकी स्थिति देखी जा सकती है। मुरलीके प्रसङ्गमें 'असूया' और 'खीझ'की सुन्दर व्यञ्जना हुई है।

प्रेम-प्राप्तिके उपरान्त गोपियाँ प्रणय विभोर होकर उन्मत्त हो उठती हैं। कभी कृष्णकी **'स्मृति'** में चौंक उठती हैं। कभी **'उद्विग्न'** होकर यमुना-तटपर

जाती हैं। कभी दधि बेचते हुए दधिके स्थानपर 'गोपाल' का नाम लेकर 'प्रलाप' सा करने लगती हैं। कभी परस्पर उनके गुणोंका गान करती हैं। उन्हें क्षणभरके लिए भी कृष्णका वियोग सह्य नहीं है।

'रासलीला' के अवसरपर यह प्रणय-सुख चरम सीमापर पहुँच जाता है। कृष्ण इस मण्डलाकार नृत्यमें ब्रज-भामिनियोंके साथ उसी प्रकार शोभित हैं जिस प्रकार दामिनिके साथ घन। अनेक घन हैं और अनेक दामिनियाँ। प्रकृति अपनी रमणीयताके साथ इस आनन्द-लीलामें पूरा सहयोग देती है। गोपियाँ आनन्द-विह्वल हो उठती हैं। उन्हें अपने प्रेमपर गर्व होता है। कृष्ण इसे लक्ष्य करते हैं। वे राधाके साथ अन्तर्धान हो जाते हैं। गोपियाँ कृष्णको न देखकर व्याकुल हो जाती हैं। चकित होकर एक दूसरेसे पूछती हैं। उन्हें मर्मका ज्ञान नहीं है। वे बनकी लता-वल्लरियोंसे पूछती फिरती हैं। राधाको भी इस स्थितिमें गर्व होता है। वे सोचती हैं 'मो समान तिय और नहीं कोउ, गिरधर मैं ही बस करि पायो'। वे कृष्णसे कहती हैं कि रास-नृत्यके श्रमका परिहार करनेके लिए आप मुझे कन्धेपर चढ़ा लीजिये। कृष्ण उन्हें भी त्यागकर अन्तर्धान हो जाते हैं। राधा सहित गोपियाँ कातर हो उठती हैं। उनका गर्व छूट जाता है। वे कृष्णसे अनुग्रहकी प्रार्थना करती हैं। कृष्ण तो प्रेमके भूखे हैं। वे प्रकट होते हैं और युवतियोंसे मिलकर उन्हें आनन्द-विभोर कर देते हैं।

कृष्णके मथुरा-गमनके पश्चात् यह प्रेम चिर-वियोगमें परिणत हो जाता है। सूरका वियोग-वर्णन क्या है मानो चिर-वियोगमें तड़पते हुए प्रणयीका हृदय ही काव्य-रूपमें साकार हो उठा है। काव्य-शास्त्रियों द्वारा गिनाई जानेवाली विरहकी दश-दशाएँ—अभिलाषा, चिन्ता, गुण-कथन, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, तथा मरण—तो इसमें आ ही गई हैं; इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक भावोंकी व्यञ्जना सूरने की है जिनको नाम ही नहीं दिया जा सकता। अक्रूर कृष्णको रथपर चढ़ाकर चल देते हैं। गोपियाँ जहाँ-तहाँ चित्रलिखी-सी खड़ी रह जाती हैं। वे विवश हैं। उन्हें रातमें नींद नहीं आती। कुछ दिन बीतनेपर उन्हें कृष्णकी निष्ठुरतापर क्षोभ होने लगता है। वे 'कालिन्दी' के बहाने अपनी हीनावस्थाका सन्देश पथिकके द्वारा कृष्णतक पहुँचाना चाहती हैं। किन्तु जो भी मधुपुरी जाता है लौटकर नहीं आता। दिन बीतते हैं। ऋतुएँ बदलती

ज्यों चकईं प्रतिबिम्ब देखिकै आनन्दी प्रिय जानि ।
सूर पवन मिस निठुर विधाता चपल कियो जल आनि ।

कृष्ण-मिलनकी अभिलाषाको मनमें संजोये हुए गोपियाँ प्रति दिन उनका मार्ग देखती रहती हैं । राधाको अब उन एक-एक बातोंका स्मरण आता है जो कभी कृष्णने किसी अवसरपर कहीं थीं । ऐसी ही स्थितिमें एक दिन उद्धव कृष्णका संदेश और पत्रिका लेकर आ जाते हैं । गोपियोंको कृष्णकी 'पाती' देते हैं । श्यामसुन्दरके लिखे अक्षरोंको देखकर—

निरखति अंक स्याम सुन्दर के बार बार लावति लै छाती ।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गइ स्याम स्याम जू की पाती ।

उद्धव निर्गुन ब्रह्म और योग-मार्गकी महिमाका उपदेश देते हैं । भला गोपियोंपर इसका क्या प्रभाव पड़ता ? वे नहीं जानती कि 'निरगुन किस देशका निवासी है' । 'वे तो कान्ह-केलिकी भूखी थीं' । करतीं भी क्या ? एक ही मन, वह उनके हाथमें था नहीं । वे कोरा उत्तर देती हैं—'हे उद्धव ! यह गोकुल है ! यहाँके लोग तो गोपालके उपासक हैं । यहाँ आपका योग नहीं बिकेगा ! आप किसको उपदेश दे रहे हैं ? क्या आपने राधाकी स्थिति देखी है ?'

—अति मलीन वृषभानु कुमारी ।
हरि स्रम जल भीज्यौ उर-अंचल तिहिं लालच न धुवावति सारी ।

विरह-विदग्ध राधाको आप कैसे समझायेंगे । और हमें तो एक और सन्देह है—आपको कृष्णने यहाँ भेजकर बेवक़ूफ़ बनाया है । अच्छा ठीक बताइयेगा यहाँ भेजते समय भगवान तनिक मुस्कराये तो नहीं थे ?

साँच कहौ तुमको अपनी सों बूझत बात निदाने ।
सूरस्याम जब तुम्हें पठाये तब नेकहु मुसकाने ।

बेचारे उद्धव हृदयकी इस सरलता, प्रेम की इस प्रगाढ़ता, प्रियतमके प्रति इस अटूट निष्ठाका क्या उत्तर देते ? स्वयं उन्हें अपने ज्ञानपर अविश्वास हो जाता है । लौटकर उन्हें कृष्णसे कहना ही पड़ता है—

हैं। वर्षा आती है। गोपियोंको आश्चर्य होता है, क्या उस देशमें (जहाँ कृष्ण इस समय निवास करते हैं) घन घुमड़कर गर्जना नहीं करते? यदि ऐसा न होता तो कृष्णको गोपियोंकी स्मृति अवश्य आती। उन्हें कृष्णके अभावमें रात्रि काली नागिनके समान प्रतीत होती है।[1] उन्हें आश्चर्य होता है कि 'यह मधुवन हरा क्यों है? यह खड़ा-खड़ा दग्ध क्यों नहीं हो जाता? वर्षा व्यतीत हुई। शरद आई। कृष्ण का कोई सन्देश न मिला। राधा व्यथित मन को समझानेके लिये वीणा बजाने लगीं। किन्तु प्रभाव उलटा हुआ। वीणाकी ध्वनि-ने चन्द्रमाके वाहन मृगोंको मुग्ध कर लिया। न वे आगे बढ़ते थे न चन्द्रमा ढरता था। व्याकुल होकर राधा सिंहका चित्रण करने लगी।[2] राधाकी व्यथा वही समझ सकता है जो प्रेमके बन्धनमें पड़ा है।—

"दूरि करहि बना करि धरिबो।
रथ थाक्यौ, मानौ मृग माहे, नाहिं न होत चन्द्र कौ ढरिबौ।"

यदि कभी रात्रिमें क्षण भरके लिये नींद आ भी जाती है तो स्वप्नमें भी चिन्ता साथ नहीं छोड़ती। स्वप्नमें कृष्ण राधाके घर आते हैं। हँसकर उनका हाथ पकड़नेका उपक्रम करते हैं; इसी बीच नींद टूट जाती है—

हमको सपनेहूमें सोच
× × ×
मनौ गोपाल आए मेरे घर हँसि करि भुजा गही।
कहा करौं बैरिनि भई निंदिया, निमिष न और रही।

यह व्यापार ठीक ऐसा ही है जैसे—

---

[1] पिय बिनु नागिन कारी रात।
जौ कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, ३२७२।

[2] 'पद्मावत'में जायसीने भी ठीक यही कल्पना की है—
गहे बीनु मकु रैनी बिहाई। ससि-वाहन तहै रहे ओनाई।
पुनि धनि सिंह उरेहै लागै। ऐसिहि बिथा रैनि सब जागै।
—पद्मावत

ज्यों चकई प्रतिबिम्ब देखिकै आनन्दी प्रिय जानि।
सूर पवन मिस निठुर विधाता चपल कियो जल आनि।

कृष्ण-मिलनकी अभिलाषाको मनमें संजोये हुए गोपियाँ प्रति दिन उनका मार्ग देखती रहती हैं। राधाको अब उन एक-एक बातोंका स्मरण आता है जो कभी कृष्णने किसी अवसरपर कहीं थीं। ऐसी ही स्थितिमें एक दिन उद्धव कृष्णका संदेश और पत्रिका लेकर आ जाते हैं। गोपियोंको कृष्णकी 'पाती' देते हैं। श्यामसुन्दरके लिखे अक्षरोंको देखकर—

निरखति अंक श्याम सुन्दर के बार बार लावति लै छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै है गइ स्याम स्याम जू की पाती।

उद्धव निर्गुन ब्रह्म और योग-मार्गकी महिमाका उपदेश देते हैं। भला गोपियोंपर इसका क्या प्रभाव पड़ता? वे नहीं जानती कि 'निरगुन किस देशका निवासी है'। 'वे तो कान्ह-केलिकी भूखी थीं'। करतीं भी क्या? एक ही मन, वह उनके हाथमें था नहीं। वे कोरा उत्तर देती हैं—'हे उद्धव! यह गोकुल है! यहाँके लोग तो गोपालके उपासक हैं। यहाँ आपका योग नहीं बिकेगा! आप किसको उपदेश दे रहे हैं? क्या आपने राधाकी स्थिति देखी है?'

—अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि स्रम जल भीज्यौ उर-अंचल तिहिं लालच न धुवावति सारी।

विरह-विदग्ध राधाको आप कैसे समझायेंगे। और हमें तो एक और सन्देह है—आपको कृष्णने यहाँ भेजकर बेवक़ूफ़ बनाया है। अच्छा ठीक बताइयेगा यहाँ भेजते समय भगवान तनिक मुस्कराये तो नहीं थे?

साँच कहौ तुमको अपनी सों बूझत बात निदाने।
सूरस्याम जब तुम्हें पठाये तब नेकहु मुसकाने।

बेचारे उद्धव हृदयकी इस सरलता, प्रेम की इस प्रगाढ़ता, प्रियतमके प्रति इस अटूट निष्ठाका क्या उत्तर देते? स्वयं उन्हें अपने ज्ञानपर अविश्वास हो जाता है। लौटकर उन्हें कृष्णसे कहना ही पड़ता है—

'नहिं स्रुति, सेष, महेस, प्रजापति, जो रस गोपिन गायौ'

और कृष्ण भी अपना हृदय खोल ही देते हैं—

'ऊधो मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।'

सूरका यह विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्यकी अमूल्य निधि है। आचार्य शुक्लको गोपियोंकी विरह-कातरतामें थोड़ा अनौचित्य दिखाई पड़ा है। वे कहते हैं—'उनका वियोग खाली बैठेका काम सा दिखाई पड़ता है।'[१] उनके गोपाल केवल दो-चार कोस दूर थे। वे चाहतीं तो उनसे मिल सकती थीं। वस्तुतः तुलसीको सर्वत्र आदर्श मानकर शुक्लजी कहीं-कहीं सूरके साथ न्याय नहीं कर पाये हैं। गोपियोंके सामने प्रश्न दूरीका नहीं व्यक्तित्व का है। वे रसरूप कृष्णकी प्रेमिका हैं। राजनितिज्ञ कृष्णकी नहीं। इसके अतिरिक्त सूर पुष्टिमार्गीय भक्त हैं। पुष्टि-मार्ग में भगवान् स्वयं आकर भक्तपर अनुग्रह करते हैं। भक्त तो साधन-रहित है। वह प्रेम कर सकता है, केवल प्रेम। सूरके काव्य का केन्द्र-विन्दु यही 'प्रेम' है। 'दाम्पत्य-प्रेम' और 'वात्सल्य-प्रेम', ये दोनो विश्वजनीन हैं। इसीलिये सूरने इन्हीं दो भावनाओंके वर्णनमें सर्वाधिक रस लिया है। स्वयं आचार्य शुक्लके शब्दोंमें—"'वात्सल्य' और 'शृंगार' के क्षेत्रोंका जितना अधिक उद्घाटन सूरने अपनी बन्द आँखोंसे किया, उतना किसी और कविने नहीं।"[२] सूरके 'वात्सल्य' और 'शृङ्गार' वर्णनकी श्रेष्ठता प्रमाणित करनेके लिये आचार्य शुक्लका साक्ष्य ही बस है।

सूरकी सौन्दर्यानुभूति

सूर प्रेमके ही नहीं सौन्दर्यके भी कवि हैं। सौन्दर्यका आधार लिये बिना माधुर्य मूर्त भी कैसे हो सकता है? आनन्दकी पूर्णता भावकी सरसतामें ही नहीं 'सौंदर्य'की साकारिता में भी है। सूरकी दृष्टिमें सौन्दर्यकी असीम दिव्य सत्ता है। वह रस रूप भगवानकी अलौकिक विभूति है। मानव-मनपर

---

[१] भ्रमरगीतकी भूमिका, पृष्ठ ७।

[२] भ्रमरगीतकी भूमिका, पृष्ठ ३।

उसका भी उतना ही प्रभाव पढ़ता है जितना शक्ति, शील या अन्य किसी विभूति का। यह असीम सौंदर्य-राशि कृष्णके माध्यमसे साकार हुई है। कृष्ण सौंदर्यके सागर हैं। उनके अवतरणके साथ ही सौंदर्यका सागर व्रजकी गलियोंमें लहराने लगा है।[1] कृष्णका यह अनुपम सौंदर्य गोपियों तथा अन्य दर्शकोंके मनको मुग्ध कर लेता है।[2] गोपियाँ इसी रूपके प्रति आकर्षित होकर समर्पणके लिये विवश हो जाती हैं। उनके नेत्र रूप-दर्शनके लिये सदैव प्यासे रहते हैं। निरन्तर देखते रहनेपर भी वे एक क्षणके लिये भी इस असीम सौन्दर्यको हृदयमें सीमित नहीं कर पातीं। यह सौंदर्य क्षण-क्षण परिवर्त्तन शील है।[3] कृष्णका सौंदर्य अलंकृत होनेपर द्विगुणित हो उठता है। मोर-मुकुट, बनमाला, मकराकृत कुण्डल, किंकिणी, भालपर तिलक, भुजाओंमें चन्दन-खौर, उँगलियोंमें मुद्रिका यही कृष्णके अलंकरण हैं। ये सभी अलंकरण ग्राम्य वातावरणकी ओर संकेत करते हैं। कृष्णके सौंदर्यके सम्मुख सभी प्रसिद्ध उपमान लज्जित होकर इधर-उधर छिप जाते हैं। कृष्णका रूप ही नहीं उनकी चेष्टायें और उनकी त्रिभंगी मुद्रा भी आकर्षणकी वस्तु है। उनका अंग-अंग सुन्दर है। नृत्यकी मुद्रामें उनका आकर्षण बढ़ जाता है। सूरने कृष्णके उग्र या परुष रूपका सौंदर्याङ्कन नहीं किया है।

राधाका सौन्दर्य भी अनुपम है। उनका मुख ऐसी मधुर दिव्य आभासे मंडित है मानो साक्षात् चन्द्रमा दुग्ध-सागरमें अपना कलंक प्रक्षालित करके प्रकट हो गया है। उनकी माँग मोतियोंसे अलंकृत है। भाल पर लाल सिन्दूर-विन्दु है

---

[1] 'शोभा सिन्धु न अन्त रही री।
नन्द भवन भरि पूरी उमँगि चलि ब्रजकी विथिन फिरति वही री।'
—सूरसागर, ना० प्र० स०, पद ६४७।

[2] 'मेरो मन गोपाल हरयो री।'
—वही, पद २४९०।

[3] 'स्याम सों काहेकी पहिचानि।
निमिष निमिष वह रूप न वह छवि रति कीजै जेहि जानि।'
—वही, पद २४००।

और उसपर मृगमद (कस्तूरी) शोभित है। उनके नेत्र चञ्चल हैं। नासिका कीर के समान है। अधर विम्बाफलके समान हैं। दन्त-पंक्ति विद्युतिकी आभा से युक्त है। कृष्णको देखकर वे लज्जित हो जाती हैं। कृष्ण इस अनुपम सौन्दर्य-राशिको अंकमें भर लेते हैं।[1] अन्य गोपियोंका सौन्दर्याङ्कन सूरने विस्तारसे नहीं किया है।

प्रकृतिके सौंदर्यांकनमें उनकी चित्त-वृत्ति अधिक नहीं रमी है। प्रसंग वश उन्होंने प्रभात, संध्या, वृन्दावन, कुन्ज, वर्षा-ऋतु, मेघ, चपला, शरद, दावानल आदिका वर्णन किया है। किन्तु ये प्राकृतिक उपकरण मानव जीवनकी सापेक्षितामें चित्रित किये गये हैं। प्रभातका वर्णन बड़ा ही मनोरम है किन्तु वह कृष्णके जागरणकी पृष्ठभूमि बनकर रह गया है। संध्या आती है किन्तु गोचारणसे लौटते हुये कृष्णके साथ। वृन्दावन बसंतमें अनुपम शोभा युक्त हो जाता है किन्तु वह सखियोंके साथ विहार-रत कृष्णकी राग-वृद्धिमें सहायक मात्र है। 'शरद' की शोभा भी रास-लीलाकी पृष्ठभूमि बनकर रह गई है। मेघ, चपलाऔर वर्षाका वर्णन भी इसी परिपाटीपर किया गया है। काली घटा घुमड़-घुमड़ कर गर्जन कर रही है, चपला चमक उठती है। वातावरण सुहावना हो जाता है किन्तु कविकी दृष्टि कुञ्जोंमें भीगते हुए पीताम्बर और चूनरीमें ही उलझ कर रह गई है। कृष्ण और राधाके सौंदर्यांकनमें उपमान रूपमें भी प्राकृतिक उपादानोंको ग्रहण किया गया है किन्तु उसमें भी परम्पराभुक्त उपमान ही अधिक आये हैं। सूरकी कला अवसरानुकूल उनके ग्रहण और प्रस्तवनमें है। वस्तुतः सूरका साध्य मधुर सौंदर्य और आनन्दकी अभिव्यक्ति है। कृष्ण और गोपियाँ तथा उनकी विविध लीलायें ही इसके माध्यम हैं। संसारके सारे उपकरणोंकी सार्थकता इसीमें है कि वे इस आनन्दके विस्तारमें सहायक हों। इसीलिये सूर क्षमता होते हुये भी प्रकृतिका मुक्त-सौंदर्य सजीव नही कर सके हैं। फिर भी उनका 'दावानल' का

---

[1] 'प्रिया-मुख देखो श्याम निहारि'।

× ×

लीन्ही उमँगि उठाइ अंक भरि सूरदास बलिहारि॥

—सूरसागर, पद २७३६; ३११८।

चित्र आचार्य शुक्लको भी जँच ही गया[1] और उन्होंने वात्सल्य और शृंगारके साथ ही इस कविके 'भयानक रस'के चित्रणकी सफलताकी दाद दे ही डाली।

सूर-साहित्यमें सामाजिक तत्त्व

आचार्य रामचन्द्र शुक्लने सूरकी भक्तिको एकान्त साधनाका विषय माना है। उनकी दृष्टिमें वह लोकधर्मका आदर्श नहीं प्रतिष्ठित करती। इसीलिए कृष्ण-चरित्रके माध्यमसे पारिवारिक और सामाजिक जीवनका सम्यक् स्फुरण नहीं हो सका है।[2] सूर-साहित्यके एक दूसरे मर्मज्ञ सूरकी भक्तिको पूर्णतः सामाजिक मानकर लिखते हैं—'रास वह स्थल है जहाँ प्रेमी-प्रेमिकाका सम्बन्ध समाज-व्यापी होकर रहस्यमयी भक्तिमें परिणत हो जाता है। × × यह व्यक्तिगत सम्बन्धका पूर्ण समाजीकरण है, जिसे हम भक्ति कहते हैं।'[3] आपकी सम्मतिमें राधा-कृष्णका सम्बन्ध प्रेमी-प्रेमिकाका सम्बन्ध है और कृष्ण-गोपियोंका सम्बन्ध भक्त-भगवानका सम्बन्ध है जो एक प्रकारसे सामाजिक प्रेमका प्रतीक है। राधा और गोपियोंके प्रेमके बीच इस प्रकारका भेद स्थापित करना उचित नहीं प्रतीत होता। हाँ, शुक्लजीकी बात समझमें आती है। यह सत्य है कि सूरके साहित्यमें 'पुत्रजन्म', 'छठी व्यवहार' 'नामकरण', 'अन्नप्राशन', 'वर्षगाँठ', 'कर्णछेदन', 'यज्ञोपवीत', 'विवाह' (गांधर्व ही सही) आदि संस्कारोंका उल्लेख है। पूजा, व्रत, स्नान, पर्व और उत्सव आदिकी भी चर्चा है।[4] यह भी सत्य है कि इन संस्कारों, पर्वों और उत्सवोंका

---

१. 'भहरात झहरात दावानल आयो।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अन्दोर बन धरनि अकास चहुँ पास छायो।
बरत बन बाँस, थरहरत कुस-कास, जरि उड़त बहु झाँस, अति प्रबल धायो।
झपटि झपटत लपट, फूल फूटत पटकि, चटकि लट लटकि द्रुम फटि नवायो।
अति अगिनि झार भंभार धुंधार करि उचटि अंगार झंझार छायो।
बरत बनपात भहरात झहरात, अररात तरु महा धरनी गिरायो।'
—सूरसागर

२. भ्रमरगीतसारकी भूमिका, पृष्ठ ९।

३. महाकवि सूरदास, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ १५२।

४. इनके विस्तृत विवरणके लिए देखिये—
भारतीय साधना और सूर-साहित्य, पृष्ठ ३७१।

भारतीय समाजमें बहुत बड़ा महत्त्व है और इस दृष्टिसे सूर-साहित्यमें पर्याप्त सामाजिक तत्त्व मिल जाते हैं किन्तु सूरने जिस समाजके अन्तर्गत इनकी स्थिति दिखाई है वह एक भिन्न प्रकारका समाज है। उस समाजका केन्द्र-विन्दु प्रेम है। यशोदा और नन्द सामाजिक मर्यादाके अनुसार कृष्णके माता-पिता नहीं हैं। उनमें कृष्णके प्रति वत्सलता है इसलिए वे पिता-माता हैं। सामाजिक मर्यादा देवकी-वसुदेवको माता-पिताके रूपमें स्वीकार करेगी। गोपियाँ, सामाजिक मर्यादाके अनुसार कृष्णकी परिणीता नहीं हैं। उनमें प्रणय-तत्त्वका प्राधान्य है इसलिए वे कृष्ण-प्रिया हैं। यही स्थिति कृष्ण-सखाओंकी है। इस प्रकार सूरद्वारा रचित इस समाजमें प्रेम ही सत्य है। 'प्रेम' पहले है, समाज बादको। तुलसी साहित्यमें इसके विपरीत स्थिति है। वहाँ समाज पहले है, प्रेम बादको। वहाँ सीता धनुष तोड़कर समाजके पूर्ण समर्थनके साथ ब्याही जाती हैं। उनके परिणयमें सामाजिक स्वीकृति प्रधान है, दाम्पत्य-भावना गौण। तुलसीने प्रत्येक स्थितिमें सामाजिक मर्यादाको प्राथमिकता दी है। प्रेम, सामाजिक मर्यादाकी रक्षामें सहायक है। सूर समाजको यथार्थ रूपमें (as it is) स्वीकार नहीं करते। अपने आदर्शोंके अनुरूप नया समाज बना लेते हैं। इसीलिए वह 'गोलोक' है। यथार्थ लोकसे भिन्न नित्य-आनन्दभूमि। इस लोकमें सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द, और माधुर्यके लिए स्थान है; परुषता, कठोरता, भयंकरता, तथा इसी प्रकारकी अन्य जीवन-वृत्तियोंके लिए नहीं। यदि ये आती भी हैं तो सहज ही 'लीलैव' चली जाती हैं। मानवको जीवनकी यथार्थ स्थितिमें हर प्रकारकी ऊँची-नीची भूमियोंसे गुजरना पड़ता है। सूर इन सभी स्थितियोंको ग्रहण नहीं करते। इसीलिए आजका आलोचक उन्हें एक सीमातक पलायनवादी मानता है। सूर-साहित्यमें जीवनका निषेध नहीं है किन्तु उसकी पूर्ण स्वीकृति भी नहीं है। उस समयका वास्तविक समाज तो कंससे शासित-समाज है। सूर इस समाजसे बराबर अलग रहकर आनन्दकी अभिव्यक्तिमें मग्न हैं और जहाँ कृष्ण कंस-वध करके नया व्यक्तित्व ग्रहण करते हैं, सूरका मन उचट जाता है। वे गोपियोंके साथ परमविरहकी स्थितिमें कातर भावसे कृष्णकी प्रतीक्षा करते रह जाते हैं। इससे सूरका महत्त्व कम नहीं होता। जिस युगमें दार्शनिक और भक्त 'संसारको कागदकी पुड़िया' बताकर और जीवनकी क्षणभंगुरताका उपदेश देकर नैराश्य भावके प्रचारमें सहायक हो रहे थे उस समय

पूरी शक्तिसे 'प्रेम' की सत्यता और उसको केन्द्र मानकर चलनेवाले समाजकी नित्यता घोषित करना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सूरकी दृष्टिमें प्रेम सत्य है किन्तु उसकी प्रतिष्ठा समाजमें ही हो सकती है; इसलिए प्रेममय समाज सत्य है। तुलसी-की दृष्टिमें समाज सत्य है। सामाजिक सम्बन्धोंकी रक्षाके लिए प्रेमकी स्थिति अनिवार्य है। इसलिए समाज स्वीकृत प्रेम सत्य है।

अभिव्यक्ति सौन्दर्य

अनुभूतिको सच्चाई, सघनता, एवं मार्मिकताके साथ अभिव्यक्ति देनेके लिए कवियोंको महान् शब्द-साधना करनी पड़ती है। वर्ण्य-विषयको स्पष्ट, प्रभावपूर्ण, आकर्षक, बनानेके लिए प्रस्तुतके समानान्तर अप्रस्तुतका संश्लिष्ट चित्र सामने लाना पड़ता है। कथनको सांकेतिक बनानेके लिए व्यंग्य तथा चमत्कारपूर्ण करनेके लिए उक्तिवक्रताका आधार लेना पड़ता है। इन सभी विशेषताओंसे युक्त होकर कविकी वाणी विशिष्ट हो जाती है। अभिव्यक्ति अलंकृत हो उठती है। सूरदासने अभिव्यक्तिको अलंकृत करनेका विशेष प्रयत्न नहीं किया है। अपनी तन्मयतामें कृष्ण-लीलाका गान करते हुए वे पद-रचना करते रहे। फिर भी अलंकार उनके संकेतपर नाचते हैं। उक्तिवक्रता उनके कथनोंके साथ सहजभावसे चली आती है। व्यंग्य उनकी 'भणिति' का अंग बन जाता है। तभी तो आचार्य शुक्लने बहुत सोच-विचारकर कहा है 'सूरमें जितनी सहृदयता और भावुकता है प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता भी है'।[1] उक्तिवक्रता और व्यंग्यके लिए 'भ्रमरगीत' का नाम लेना ही पर्याप्त है। यह सारा प्रसंग ही उपालम्भ रूपमें है; कथन भ्रमरके प्रति है, व्यंग्य उद्धवके प्रति। दो-चार सरस छींटे कृष्णतक पहुँच गये हैं। अनायास प्रयुक्त होनेके कारण सूरके अलंकार भावोंके उत्कर्षमें सहायक हुए हैं। उनकी उपस्थिति रस-व्यञ्जनामें बाधा नहीं पहुँचाती। सूरके काव्यमें अलंकारोंकी स्थिति स्वतन्त्र नहीं है। वे भाव और रसरूप अंगीकी दृष्टिसे ही ग्रहण किये गये हैं। दैन्यके पदोंमें कविने या तो भगवानके विस्मयकारक कार्योंका वर्णन किया है या उनके भक्तोद्धारक रूपका बार-बार स्मरण किया है। विस्मयकी व्यञ्जना

---

[1] भ्रमरगीतसारकी भूमिका, पृष्ठ ३८।

करानेके लिए उसे प्रायः अतिशयोक्ति अलंकारका सहारा लेना पड़ा है। भगवान् भक्तोंका उद्धार बिना कारण ही अपने सहज स्वभावानुसार कर देते हैं। अतः अकारण कार्यकी सिद्धि दिखाते हुए कवि 'विभावना' या उसी कोटिमें आनेवाले 'असंगति', 'असम्भव' और 'विषम' अलंकारोंका प्रयोग करता है। वसन्त वर्णन, वर्षा-वर्णन और मथुरानगरी वर्णन करते समय कविके मनमें दो-दो चित्र एकसाथ उभरते हैं। वसन्तमें व्रजनाथके साथ कवि रतिनाथकी कल्पना भी करता है; वर्षा-वर्णनमें मेघोंकी चढ़ाईके साथ कवि कामकी चढ़ाईकी कल्पना करता है और इसी प्रकार मथुरा नगरीकी साज-सज्जामें वह पति-आगमके अवसरपर शृंगार करनेवाली कामिनीका चित्र भी देखता है। स्वभावतः ऐसे अवसरोंपर उसे 'रूपक' अलंकारका प्रयोग करना पड़ता है। पात्रोंके गुण और स्वभाव-वर्णन करनेमें कविको प्रस्तुतके अनुकूल अप्रस्तुतकी सटीक कल्पना करनी पड़ती है। वह बराबर ध्यान रखता है कि दोनोंकी समताके आधारपर निर्मित चित्र उभरकर पाठकके मनमें वर्ण्यकी स्पष्ट प्रतीति उत्पन्न करा दे। ऐसी स्थितिमें उसे 'उपमा', 'दृष्टान्त' और 'रूपक' अलंकारोंका प्रयोग अधिक उचित प्रतीत हुआ है। इसीलिए 'कृष्ण' 'राधा' और गोपियोंके स्वभाव-चित्रणमें इन्हीं अलंकारोंका अधिक प्रयोग हुआ है। तात्पर्य यह कि कविने अवसरके अनुकूल प्रस्तुतके प्रभावको बढ़ानेके लिए अप्रस्तुत विधान करते हुए उचित और आवश्यक अलंकारोंका ही प्रयोग किया है।[1]

कविके सर्वाधिक प्रिय अलंकार 'उत्प्रेक्षा', 'उपमा', 'रूपक' और 'अतिशयोक्ति' हैं। कृष्ण और राधाका सौंदर्य चित्रण करते समय कवि एकके बाद एक उत्प्रेक्षायें करता जाता है। कहीं-कहीं तो पूरा पद उत्प्रेक्षा से ही अलंकृत है। कृष्णके अधरोंकी लालिमाका वर्णन करते हुए कवि एक ही पदमें संदेहगर्भित सात उत्प्रेक्षओंका प्रयोग करता है।[2] 'चकई री चलि चरन सरोवर' वाला पद

---

[1] डॉ० व्रजेश्वर वर्माने 'सूरदास' ग्रंथमें अलंकारोंके इस प्रकारके परिस्थित्यानुसारी प्रयोग पर अच्छा विचार किया है।

[2] देखि सखी अधरनिकी लाली।
मनि मरकत तैं सुभग कलेवर, ऐसे हैं वनमाली।
मनौ प्रातकी घटा साँवरी, तापर अरुन प्रकास।
× × ×

'रूपक' अलंकारका सुन्दर उदाहरण है। सूरकी 'अप्रस्तुत-व्यापार-योजना' उनकी कल्पनाकी मूर्ति विधायिनी शक्तिकी परिचायिका है। स्वप्नमें राधा-कृष्ण-मिलन का उपक्रम और सहसा स्वप्न-भंग होनेपर राधाकी विषादमयी मानसिक स्थितिको सामने रखनेके लिए सूरने जो अद्‌भुत अप्रस्तुत व्यापार-योजना की है वह समस्त हिन्दी-साहित्यमें बेजोड़ है।[1] कहीं-कहीं सूरने अतिशय चमत्कार प्रदर्शनके लिये ऊहात्मक पद्धतिको भी ग्रहण किया है। जैसे राधाका चन्द्रमाके वाहनों (मृगों) को भगाने के लिये सिंहका चित्र बनाना। किन्तु इस पद्धतिका प्रयोग नहींके बराबर हुआ है। सूरको 'रूपकातिशयोक्ति' बहुत प्रिय है। सामान्यतः इसका प्रयोग सूरने वहीं किया है. जहाँ प्रत्यक्ष रूप-चित्रणकी परिस्थिति नहीं रही है। जब कृष्ण गोपियोंसे दान माँगते हैं किन्तु अपना अभिप्राय स्पष्ट रूपसे नहीं कहना चाहते; या जब दूती रूपमें ललिता विरहिणी राधासे श्यामको मिलानेके लिये उनके सामने सांकेतिक रूपसे ही राधाका सौंदर्य वर्णन करना ठीक समझती है; या जब स्वयं राधाकी माता अकस्मात् युवती होती हुई राधाको देखकर उसे अंग छिपानेका उपदेश देती हैं, तभी सूरने कूटशैलीमें 'रूपकातिशयोक्ति' का प्रयोग किया है। परिस्थितिगत औचित्य होते हुये भी इसका अतिशय प्रयोग सूरकाव्यकी मार्मिकतामें बाधक ही हुआ है।

शैली—सामान्यतः सूरकी काव्य-शैली गीति-शैली है। सारा कृष्ण-चरित्र (व्रज कृष्णसे तात्पर्य है) ही गीति-काव्यकी सुन्दरतम भाव-भूमि है। इन गीतोंमें कथाकी क्षीण धारा भी प्रवाहित हुई है और भावका मधुर-सरस स्रोत भी। कथा और भावमें चित्र और भित्तिका सम्बन्ध है। भावकी सरसता कथाको उभरने नहीं देती; दूसरी ओर कथाकी सहज मर्यादा भावनाको स्वतन्त्र नहीं होने देती। सूरसागरमें वर्णनात्मक प्रसंग भी हैं किन्तु उनमें कविकी प्रवृत्ति रमी नहीं है। कहीं-कहीं वर्णनात्मक शैली भी अद्‌भुत प्रवाहमयी और आकर्षक हो गई है। दधि-दान लीलाका वर्णन करते समय सामान्य कथा-प्रसंगोंके वर्णनमें भी कविका मन रमा

सूर अरुन अधरनिकी सोभा, बरनत बरनि न जाय।
—सूरसागर, दशम स्कंध, पद २४५०।

[1] ज्यों चकई प्रतिविम्ब देखिकै आनन्दी पिय जानि।
सूर पवन मिल निठुर विधाता चपल कियो जल आनि।

है और उसकी वास्तविक वर्णन-क्षमताका स्वरूप प्रकट हुआ है। डॉ० सत्येन्द्र सूरसागरको कीर्तन-काव्य ठहराते हुये लिखते हैं—"अतः स्पष्ट है कि सूरदासने सूरसागरको 'कीर्तन-काव्य' के रूपमें प्रस्तुत किया, जिसमें कथा-काव्यका ढाँचा था, किन्तु प्रधान तत्त्व था भावोद्रेक, जो गेय पदोंसे प्रस्तुत होता था, और जिसमें पद अथवा छन्दों और चरणोंकी सीमाका कोई प्रतिबन्ध नहीं था"।[1] कारण जो भी रहा हो, सूरको मार्मिक कथानककी रमणीय पीठिका पर सरस भाव-चित्रोंके अङ्कनमें अद्भुत सफलता मिली है। प्रसंगानुसार गेय पदोंके स्वरूपमें भी कवि परिवर्त्तन करता गया है। चरित्र-चित्रण करने वाले गेय पदोंकी तुलनामें लीला-सम्बन्धी पदोंमें अधिक तन्मयता है। यह तन्मयता रूप-चित्रात्मक और भाव-चित्रात्मक पदोंमें क्रमशः बढ़ती गई है। कदाचित् ऐसा इसलिए हुआ है कि ये काव्यात्मक स्थल कविकी अनुभूतिके अधिक निकट हैं।

सूरके पदोंमें गीति-काव्यके सभी प्रधान तत्त्व मिल जाते हैं। संगीत इनकी आत्मा है। ये पूर्ण तन्मयताकी स्थितिमें गाये गये हैं। प्रायः प्रत्येक पदमें एक ही मूल भावानुभूतिको विस्तार दिया गया है। इनकी सृष्टि सघन अनुभूतिके क्षणोंमें हुई है। इनमें भाषा भावोंकी वशवर्त्तिनी है। इनमें कविके अन्तर्वेगको छन्दने लयकी एकरूपतामें बाँध दिया है। इनमें अभिप्रेत अर्थको भावक तक पहुँचाने तथा उसकी संवेदनाको जगानेको पूर्ण क्षमता है। सूरके गीति-काव्यका स्वरूप-विश्लेषण करते हुए डॉ० मनमोहन गौतमने कहा है कि 'सूरका गीति-काव्य न तो गीत (Lyric) है, न मुक्तक और न प्रबन्ध, इसमें तीनोंके संतुलित सामञ्जस्यसे एक चिर-नवीन काव्य-रूपका निर्माण हुआ है।' इसी विशेषताके कारण आपने सूरके काव्यको 'वर्णनात्मक गीति-काव्य' कहा है।[2]

भाषा—भाषा अभिव्यक्तिका प्रधान साधन है। अनुभूतिकी विशदता और सूक्ष्मताको प्रौढ़, सांकेतिक और सशक्त भाषामें ही व्यक्त किया जा सकता है। यों तो किसी कवि की भाषाका अध्ययन अनेक दृष्टियोंसे किया जा सकता है किन्तु साहित्यिक दृष्टिसे विचार करते समय काव्य-भाषाकी अभिव्यक्ति-क्षमता पर विचार करना ही अधिक समीचीन है। सूरकी भाषामें अभिव्यक्ति-क्षमता किस

---

[1] सूरकी झाँकी, डॉ० सत्येन्द्र, पृष्ठ १४८।

[2] सूरकी काव्य कला, पृष्ठ ८६।

सीमा तक है इसे समझनेके लिए उसके **'अन्तरसंघटन' भावनुरूपता, ध्वन्यात्मकता, चित्रमयता** और **सजीवता** पर विचार करना आवश्यक है। सूरकी भाषा व्रजकी प्रचलित बोलीके निकट है किन्तु उसका संघटन व्यापक आधारपर हुआ है। वह समृद्ध भाषा है। उसमें संस्कृतके शब्द, प्राचीन हिन्दी (अपभ्रंश)के अप्रचलित अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्द तथा विदेशी (अरबी-फारसी) भाषाओंके अनेक प्रचलित शब्द मिल जाते हैं।[१] भाषाकी अभिव्यञ्जना-वृद्धिके लिए सूरने अनेक अनुकरणात्मक शब्दोंका भी प्रयोग किया है। उसमें लोक-प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियोंकी भी कमी नहीं है। इनका प्रयोग कविने स्वतन्त्र ढंगसे किया है। शब्दग्रहण करते समय सोच-विचारकर उसे पदमें जड़ा नहीं गया है। गेयपदके प्रवाहमें वह जहाँ जैसे बैठ गया बिठा दिया गया है। यदि टेक की पंक्तिमें 'घटी' शब्द आगया तो अंत्यानुप्रासकी पूर्तिके लिये कटी, गटी, पटी, आरभटी, लटी, जटी, उचटी, हटी, नटी, ठटी, और मिटी शब्द बिठाल दिये गये। यदि कोई शब्द विकृत होता है तो कविको उसकी चिन्ता नहीं है। यद्यपि यह स्थिति सर्वत्र नहीं है। इससे प्रकट है कि सूरकी भाषा समृद्ध होते हुए भी पूर्णतः परिमार्जित नहीं है।

भावोंके अनुसार सूरकी भाषाका रूप बदलता गया है। सरस-मधुर शृंगारिकपदोंमें वह माधुर्य-प्रसाद-गुण युक्त हो जाती है। उत्साह पूर्ण प्रसंगोंमें उसकी स्वाभाविक मिठासका स्थान परुषता और ओज ले लेते हैं। सम्वाद और कथोपकथनके अवसरोंपर उसमें नाटकीयता आ जाती है। किसी अपरिचितको देखकर मानो वह स्वयं आगे बढ़कर टोकने लगती है—'कहाँ रहति ? काकी है बेटी ? देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी ?[२] या काकी नारि ? कौन की बेटी, कौन गाउँ तें आई ?''[३]

ध्वनिके माध्यमसे **रूप, गति, लय, स्थिति** आदिको व्यक्त करके भाषाको **गतिमय** और संगीतात्मक बनानेमें सूर प्रवीण हैं। इसका सुन्दरतम उदाहरण

---

[१] इन शब्दोंकी लम्बी सूचीके लिए देखिये 'सूरदास'—डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, पृष्ठ ५५६; ६६; ६७।

[२] 'सूरसागर सार'—सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ७९।

[३] वही " पृष्ठ १०५।

रासलीलाके पदोंमें देखा जा सकता है। एक पद नीचे उद्धृत किया जाता है—

मानौ माई घन-घन अन्तर दामिनि।
घन-दामिनि दामिनो-घन अंतर, सोभित हरि ब्रज-भामिनि।
सुंदर ससि गुन-रूप-राग-निधि, अंग-अंग अभिरामिनि।
रच्यौ रास मिलि रसिक राइ सौं मुदित भईं गुन ग्रामिनि।[१]

प्रथम पंक्ति गोपियों और कृष्णकी रासनृत्यके समयकी स्थितिकी ओर संकेत करती है। दूसरी पंक्तिका वेग त्वरा और प्रवाह नृत्यकी तीव्रताका सूचक है। पूरे छन्दसे मुखरित ध्वनि और लय रास-नृत्यका स्वरूप सा खड़ाकर देती है। अष्टछापके कवियोंमें नन्ददासका रास-वर्णन भी इन सभी विशेषताओंसे युक्त है। 'दावानल'—वर्णनमें भी कविने इसी ध्वन्यात्मकताके सहारे प्रचण्ड होती हुई दावाग्निका रूप सा खड़ाकर दिया है—

'बरत बन-बाँस, थरहरत कुस-कास, जरि उड़त बहु झाँस, अति प्रबल धायो।

इस पंक्तिके पढ़ते ही भयानक दावानल का तीव्र वेगसे बढ़ता हुआ रूप नेत्रोंके सामने साकार हो जाता है।

सूरदासजीकी भाषामें चित्राङ्कनकी पूर्ण क्षमता है। पात्रोंके मुखसे निकलते हुये वाक्य उनकी मुद्राका भी द्योतनकर देते हैं। 'मैया मैं नाहीं दधि खायो।' वाले पदमें सफाई देते हुये बालकका भोलापन भी मूर्त हो गया है—

"तुही निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायो।
मुख दधि पोछि कहत नँद नन्दन दोना पीठ दुरायो।"

सफाई देते-देते अपराधके चिन्हों—दधिको पोछना और दोनेको छिपा लेना—को मिटा देना, बालक कृष्णकी चपलता और ढिठाईका द्योतक है। पूरा छन्द एक भोले, चपल, और धृष्ट बालकका चित्र सा उपस्थितकर देता है। इसी प्रकार—

'नटवर वेष धरे ब्रज आवत।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल कुटिल अलक मुख पर छवि छावत।'

---

[१] सूरसागर, पद १६६६।

वाला छन्द भी रूप-चित्रका एक सुन्दर उदाहरण है। सूरसागरमें इस प्रकारके चित्रोंकी कमी नहीं है।

भाषाकी सजीवताके लिये आवश्यक है कि शब्द-चयन लोकप्रचलित शब्दावलीसे किया जाय। वे शब्द जो व्यावहारिक जीवनमें बराबर प्रयुक्त होते रहते हैं, युग-विशेषके सामाजिक सम्बन्धोंको व्यक्त करनेकी अधिक क्षमता रखते हैं। उनकी यह क्षमता ही उन्हें सजीव रखती है। इस सम्बन्धमें डॉ० गुप्तका यह कथन ध्यान देने योग्य है—'उनकी ब्रज-भाषा साहित्यिक होते हुये भी अपने समयकी प्रचलित सजीव भाषा थी[1]।' इस सजीवताका एक कारण यह भी है कि सूरका प्रत्येक प्रयुक्त होनेवाले शब्दके साथ परिचय ही नहीं निकटका सम्बन्ध भी है। वे शब्दको दुलारकर प्रयुक्त करते हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—देखिये—

'बैठें जाइ **मथनियाँ** कैं ढिग मैं तब रहौं **छपानी**'

× × ×

कैसें गहत दोहनी **घुटुवनि** कैसैं बछरा थन लै लावहु।

× × ×

मुरलिया कपट चतुरई ठानी।

×

हमारे माई **मोरवा** बैर परे।

×

ऊधौ इक **पतिया** हमरी लीजै।

×

बरु ये **बदराऊ** बरसन आये।

उपर्युक्त उदाहरणोंमें प्रयुक्त शब्दोंपर ध्यान दीजिये। 'मथनियाँ', 'घुटुवनि', 'मुरलिया', 'मोरवा', 'पतिया', 'बदराऊ' आदि शब्दोंके स्थानपर किसी अन्य कोमलसे कोमल शब्दको रख दीजिये, पूरी पंक्ति निर्जीव हो जायगी। इन शब्दोंके साथ कविकी आत्मीयता सी जान पड़ती है। सूर जब गोप-जीवनके

---

[1] 'सूर-प्रभा', भूमिका, पृष्ठ ४०।

अनेक मधुर प्रसङ्गोंकी अवतारणा करते हैं तो उनका मानस लोक-जीवनकी सामान्य भूमिपर उतरकर लोक-मानस बन जाता है। सारा प्रसङ्ग एक तरल जीवन-स्रोतसे आप्लावित हो जाता है। भाषाके साथ लोक-जीवन सिमटकर साकार हो उठता है। भाषा सजीव, प्राणवान और आभामयी हो जाती है।

छन्द-योजना—सूर सागरमें कई प्रकारके छन्दोंका प्रयोग हुआ है। कुछ छन्द तो अपने मूल रूपमें हैं और कुछको थोड़ा-बहुत घटा-बढ़ा कर गेय पदोंमें ढाल दिया गया है। सूरने कहीं-कहीं कई छन्दोंको मिलाकर संगीतके अनुसार ठीक करके एक गेय पद बना दिया है। 'घनाक्षरी', 'चौपाई', 'दण्डक', 'हरिगीतिका', 'सार', 'विष्णुपद', 'लावनी','समान सवैया', 'उपमान', 'कुण्डल' आदि छन्द कहीं अपने मूल रूपमें और कहीं थोड़े विकृत रूपमें सूरसागरमें बिखरे हुए मिल जाते हैं। सूरको 'रोला' और 'दोहा' छन्दोंको मिलाकर नवीन छन्द-रचना बहुत प्रिय है। ऐसा लगता है कि वस्तु-वर्णनके अनुकूल होनेके कारण तो वे रोला और दोहा छन्दोंको ग्रहण करते है और उन्हें गेय बनानेके लिए कभी ऊपर एक पंक्तिकी टेक जोड़ देते हैं और कभी नीचे एक छोटा वाक्यांश रख देते हैं।[१]

दोष—काव्यगत दोष पाँच प्रकारके माने गये हैं। 'पदगत', 'पदांशगत', 'वाक्यगत', 'अर्थगत', और 'रसगत'। दोषोंको रसका अपकर्षक माना गया है।[२] विचार करनेपर सूरमें ग्राम्यत्व, अप्रतीतत्व, क्लिष्टत्व, च्युतसंस्कारत्व, अश्लीलत्व, पुनरुक्ति आदि पदगत और वाक्यगत दोष मिल जाते हैं। इनमें सबसे बड़ा दोष पुनरुक्तिका है। वस्तुतः काव्यगत गुण-दोषोंको दृष्टिमें रखकर सूरने पद-रचना नहीं की है। उन्हें अपने हृदयकी भावना व्यक्त करनी थी और गा-गाकर व्यक्त करनी थी। ऐसी स्थितिमें सहस्रों पदोंकी विस्तृत रचनामें कुछ दोषोंके पाये जानेसे सूरके गौरवकी ग्लानि नहीं होती।

निष्कर्ष—अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य आनुभूतिक सौन्दर्यका ही बाह्य रूप है।

---

[१] सूरकी पद-रचनामें छन्द-विधानके विस्तृत अध्ययनके लिए देखिये डॉ० मनमोहन गौतमकी 'सूरकी काव्यकला' का पाँचवाँ प्रकरण।

[२] रसापकर्षकाः दोषाः ते पुनः पञ्चधामताः।
पदे तदंशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि मत् ॥१॥ साहित्य-दर्पण, सप्तम परिच्छेद।

अभिव्यक्तिकी पूर्णता आत्मानुभूतिकी प्रधानतापर आधृत है। इस प्रसंगमें प्रसादजीके विचार मननीय हैं। वे कहते हैं "क्या कारण है कि रामचन्द्रके वात्सल्य-रसकी अभिव्यञ्जना उतनी प्रभावशालिनी नहीं हुई, जितनी सूरदासके श्यामकी ? मैं तो कहूँगा कि यही प्रमाण है आत्मानुभूतिकी तीव्रताका। सूरदासके वात्सल्यमें संकल्पात्मक मौलिक अनुभूतिकी तीव्रता है, उस विषयकी प्रधानताके कारण।"[1] मैं इतना ही और कहना चाहूँगा कि वात्सल्यमें ही नहीं, सूरके सख्य और दाम्पत्यमें भी मौलिक अनुभूतिकी ही तीव्रता है और उनके काव्यमें अभिव्यक्तिके सौन्दर्यका रहस्य यह अनुभूतिकी तीव्रता ही है, शास्त्राभ्यास नहीं। सूरकी काव्यकलाके सम्बन्धमें नाभादासजीने जो कुछ कहा था वह आज भी बहुत कुछ सार्थक और मान्य है।

सूरके विषयमें नाभादासकी उक्ति

उक्ति चोज अनुप्रास बरन अस्थिति अति भारी।
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी॥
प्रतिबिम्बित दिव दिष्टि हृदय हरि-लीला भासी।
जन्म करम गुन रूप सबै रसना परकासी।
विमल बुद्धि गुन और की जो वह गुन स्रवननि करै।
सूर-कवित सुन कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै॥
—नाभादास

पठनीय सामग्री

अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय	डॉ० दीनदयालु गुप्त
भारतीय साधना और सूर-साहित्य	डॉ० मुंशीराम शर्मा
सूरदास	डॉ० व्रजेश्वर वर्मा
सूर-साहित्य	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
सूर और उनका साहित्य	डॉ० हरवंशलाल शर्मा
सूरदास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

---

[1] काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ, ४५।

महाकवि सूरदास	पं० नन्ददुलारे वाजपेयी
अष्टछाप परिचय	श्री प्रभुदयाल मीतल
सूर-निर्णय	श्री प्रभुदयाल मीतल : श्री द्वारिकादास पारीख
सूर-साहित्यकी भूमिका	डॉ० रामरतन भटनागर
सूर-सौरभ	डॉ० मुंशीराम शर्मा
भ्रमरगीत सारकी भूमिका	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
सूरकी झाँकी	डॉ० सत्येन्द्र
हिन्दी साहित्यका इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी-भाषा और साहित्य	डॉ० श्यामसुन्दरदास
हिन्दी-साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास	डॉ० रामकुमार वर्मा
सूरकी काव्य-कला	डॉ० मनमोहन गौतम

नन्ददास

अष्टछापी कवियोंमें नन्ददासजीका स्थान (सूरदासके पश्चात्) दूसरा है। और यदि कलात्मक दृष्टिसे देखा जाय तो उन्हें पहला स्थान भी प्राप्त हो सकता है। कहा भी गया है—'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया'। वास्तवमें नन्ददासजीने एक-एक शब्द मणियोंके समान जड़ दिया है जिनका सौन्दर्य पूरे वाक्यको अद्‌भुत आभासे मंडित कर देता है। नाभादासजीने आपको 'आनंदनिधि, रसिक, और प्रभुहित रंगमगे' कहकर स्मरण किया है। प्रभु-प्रेममें आचूड़ मग्न होने के कारण ही आपका प्रेम-सिद्धान्त-निरूपण बहुत ही स्पष्ट, मधुर और मार्मिक हो सका है। आपके दार्शनिक विचार भी उलझे हुये नहीं हैं। उनपर आचार्य वल्लभके सिद्धान्तोंकी छाप स्पष्ट लक्षित होती है।

दार्शनिक-विचार—नन्ददासजीके अनुसार रस-रूप कृष्ण ही परब्रह्म हैं।[1] वे घट-घटमें व्याप्त हैं। वे नित्य, एकरस, अखण्ड और केवल प्रेमगम्य हैं।[2] षटगुण सम्पन्न (ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) नारायण भी वही हैं।[3] यही ब्रह्म समय-समय पर अवतार धारण करता है। समस्त जड़-चेतनका कारण भी यही है।[4] सत, रज, तम गुणोंसे युक्त होकर व्यक्त होनेवाली यह प्रकृति भी

---

१. तहँ निरखे ब्रज राज कुमार। अव्यय ब्रह्म अनंत अपार।

—भाषा दशम स्कन्ध, त्रयोदश अध्याय, नन्ददास ग्र०, पृ० २६७

२. नहिं कछु इन्द्रिय-गामी कामी कामिनि कै वस।
सब घट अंतर जामी स्वामी परम एक रस॥
नित्य, आत्मानन्द, अखंड स्वरूप, उदारा।
केवल प्रेम सुगम्य अगम्य अवर परकारा॥

—नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० ७४, ना० प्र० सभा संस्करण।

३. षट्‌गुन अरु अवतार धरन नारायन जोई।
सबकौ आश्रय अवधि भूत नँद नन्दन सोई॥—वही, पृष्ठ ३८।

४. जो प्रभु जोति जगत मय, कारन करन अभेव।—वही, पृष्ठ ४९।

उसीका रूप है ।[१] अनन्त रूप होते हुए भी यह ब्रह्म-तत्व एक ही है । यही ज्योति रूप भी है । यह समस्त जगत उससे भिन्न नहीं है । ब्रह्म ही इस जगतका निमित्त और उपादान कारण है । एक ही ब्रह्मसे अनेक रूपोंमें परिणत होकर यह जगत उसी प्रकार जगमगा रहा है जिस प्रकार एक ही कंचनसे किंकिनी, कंकन, कुण्डल आदि अनेक वस्तुयें बन जाती हैं ।[२] इस प्रकार ब्रह्मको नित्य और एकरस मानना साथ ही उसे षट्गुण-सम्पन्न अवतारी पुरुष भी स्वीकार करना, उसमें परस्पर विरुद्ध धर्मोंका आरोप करना है । यह विरुद्ध-धर्मारोप आचार्य वल्लभके सिद्धान्तोंके अनुसार ही किया गया है ।

नन्ददासजीके 'जीव' सम्बन्धी विचार भी शुद्धाद्वैतके अनुसार ही हैं । भागवतके भाषानुवादके दूसरे अध्यायमें मुनीश्वरगण कृष्णकी स्तुति करते हुये कहते हैं "हम सब प्राणी आपसे उसी प्रकार उद्भूत हुये हैं जिस प्रकार अग्निसे स्फुल्लिंग निकलते हैं ।"[३] 'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी'में तो 'ब्रह्म' और 'जीव'का परस्पर भेद भी दिखाया गया है । 'जीव' काल, कर्म और मायाका वशवर्ती है । वह पाप-पुण्यका भोक्ता है । उसे विधि-निषेधकी सीमायें भी माननी पड़ती हैं । ज्ञान-विज्ञानका प्रकाशक परब्रह्म इन सीमाओंसे परे है ।[४]

'जगत'को नन्ददासजी भी 'ब्रह्म'का अविकृत परिणाम मानते हैं । 'ब्रह्म'से 'जगत'का उद्भव उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार कञ्चनसे 'किंकिनी', 'कुण्डल' आदि अनेक आभूषण बन जाते हैं ।[५] वल्लभसिद्धान्तके अनुसार ही नन्ददासजी

---

[१] तुमहीं प्रकृति सुकृत सब तुमहीं । सत रज तम जे लै लै उमहीं ॥
—नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ २५३ ।

[२] एकै वस्तु अनेक है जगमगात जगधाम ।
जिमि कंचन तें किंकिनी, कंकन, कुंडल नाम ॥—वही, पृष्ठ ४९ ।

[३] तुम तैं हम सब उपजत ऐसैं । अगिनि तैं विस्फुलिंग गन जैसैं ।
—वही, पृष्ठ २२६ ।

[४] काल-कर्म माया-अधीन ते जीव बखानें ।
विधि-निषेध अरु पाप-पुन्य तिनमें सब साने ।
परम-धरम परब्रह्म ज्ञान-विज्ञान प्रकासी ।
ते क्यों करिये जीव-सदृश श्रुति (प्रति) शिखर निवासी—वही, पृष्ठ ३९ ।

[५] नन्ददास ग्रन्थावली, अनेकार्थ ध्वनि मञ्जरी, पृष्ठ ४९, ना० प्र० सभा ।

'जगत' और 'संसार'में अन्तर भी करते हैं। 'संसार' असार है।[१] 'जगत' ब्रह्मका ही परिणाम होनेके कारण सत्य है। संसारी-जन काल-कर्म और अविद्यासे सने होते हैं। उन्हें वह गति नहीं प्राप्त होती जो जोगी-जनोंको क्रमशः तपस्याके बलसे और ब्रजवासियोंको कृष्णके अनुग्रहसे प्राप्त होती है।

नन्ददासजीके अनुसार 'माया' 'ब्रह्म'के अधीन रहती है। यह माया ही सृष्टिके उद्भवको सम्भव बनाती है। 'रूप', 'गन्ध', 'रस', 'शब्द', 'स्पर्श' आदि पाँच विषय, 'पञ्चमहाभूत', 'दस इन्द्रियाँ', 'मन', 'अहंकार', 'महत्तत्त्व', 'त्रिगुण' ये सभी मायाके ही विकार हैं। प्रभुकी आज्ञासे यह माया ही विश्वका उद्भव, पालन और संहार करती है।[२] यह महामोहिनी है। इसकी 'मलमई' काया है। लोक-सृष्टि करती हुई भी यह प्रभुसे दूर रहती है।[३] इस प्रकार इसकी दो स्थितियाँ या दो रूप हैं। यह 'कीच'का कार्य भी करती है और दर्पणका भी। दर्पणका कार्य यह प्रकृति मायाके रूपमें करती है। जिस प्रकार दर्पणमें उसके सम्मुख आनेवालेका रूप विम्बित हो उठता है उसी प्रकार माया (प्रकृति) रूपी दर्पणमें प्रभुके शुद्ध गुण विम्बित हैं। यह बिम्बित गुण, शुद्ध गुणसे भिन्न नहीं है। अतः यह माया (प्रकृति) प्रभुके सत् स्वरूपसे भिन्न कोई मिथ्या वस्तु नहीं है। 'कीच' रूपमें यह प्रभुके शुद्ध गुणोंको विकृत कर देती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शुद्ध जल कीचड़में सनकर गँदला हो जाता है। यह मायाका अविद्या-रूप है।[४] इस प्रसंगमें शंकराचार्यकी माया सम्बन्धी मान्यतासे नन्ददासके विचारोंकी भिन्नता दिखाते हुये डॉ० दीनदयालु गुप्त कहते हैं—"जिस मायाके दर्पणका नन्ददासने यहाँ उल्लेख किया है वह शंकरकी मिथ्या

---

[१] अरु संसार असार अपार। सहजहि भयौ जु ताके पार।—नन्ददास ग्रंथावली, पृ० ३१५।

[२] सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, छन्द, ३, ४, ५, पृष्ठ ३८।

[३] लोक सृष्टि सिरजति यह माया। तुम ते दूरि मलमई काया।

—भाषा दशम स्कंध, २८ अध्याय—नन्ददास ग्रं०, पृष्ठ ३१५।

[४] जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ तें।
बीज विना तरु जमे मोहिं तुम कहौ कहा तें॥
वा गुनकी परछाँह री माया दर्पन बीच।
गुन तें गुन न्यारे नहीं अमल बारि मिलि कींच॥

—भ्रमर गीत, पद २०, ग्रन्थावली, पृष्ठ १७७।

मायाका मिथ्या दर्पण नहीं है, यह दर्पण ब्रह्मकी सत् स्वरूपा प्रकृतिकी मायाका दर्पण है। इसमें जो विजातीय विकार है वह अविद्या रूपिणी मायाकी कीच है, जो अन्यथा प्रतीति कराती है।[१] शंकराचार्यके अनुसार 'ब्रह्म' का ज्ञान होनेपर 'माया'का ज्ञान वाधित हो जाता है[२], इसलिये 'माया'को सत् नहीं कह सकते किन्तु यहाँ 'गुन तें गुन न्यारे नहीं' कहकर प्रकृति (माया)के गुणोंको प्रभुके शुद्ध गुणोंसे अभिन्न माना गया है। इस प्रकार प्रकृति (माया)की सत्ताको भी सत्य स्वीकार किया गया है। अतः डॉ० गुप्तका मत समीचीन जान पड़ता है।

नन्ददासजीने प्रेम-साधनाके बलपर ही 'मुक्ति'के आनन्दकी उपलब्धिको सम्भव माना है। 'ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः'के सिद्धान्तको वे सर्वथा सत्य नहीं मानते।[३] भक्तिरसके अमृत-सरोवरके सम्मुख वे ज्ञानियोंकी मोक्षावस्थाको उससे निःसृत साधारण निर्झरसे अधिक नहीं मानते।[४] वल्लभ सम्प्रदायके अनुसार प्रभुका विरह, विरही भक्तके सभी प्रकारके पाप-पुण्यमय कर्मोंको भस्म कर देता है और तब भक्त प्रभुके प्रेममें मग्न होकर सानिध्यसद्योमुक्तिके आनन्दका अनुभव करता है। शुद्ध-प्रेमके बलसे समस्त सांसारिक विषयोंको त्यागकर 'निज-स्वरूप'की प्राप्ति ही मुक्ति है।[५] नन्ददासजीने कृष्णके विरहमें गोपियोंके सभी कर्मोंको विदग्ध कराकर उन्हें इसी सद्योमुक्तिके आनन्दकी उपलब्धि कराई है।[६] रासके वर्णनमें उन्होंने गोपियोंको क्रमशः रसरूप कृष्णके निकट लाकर अन्ततः नित्य रासमें प्रवेश कराकर सायुज्य मोक्षके आनन्दकी स्थितितक पहुँचा दिया है। उन्होंने एक

---

[१] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग, २ पृष्ठ ४६४।

[२] भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४५०।

[३] ज्ञान बिना नहिं मुकति इह जुपंडित गन गायो।
गोपिन अपनो प्रेम-पन्थ न्यारोइ दिखरायो॥
—सिद्धान्त पन्चाध्यायी, ग्रंथा०, पृष्ठ ४१।

[४] तुम्हरी भगति अमीरस सरवर। मोक्षादिक जाके सब निर्झर
—भाषा दशम स्कंध, ग्रं० पृ० २६९।

[५] अन्य रूपकी त्यागन जुक्ति। निज स्वरूपकी प्रापति मुक्ति।
—भाषा दशमस्कन्ध, ग्रं०, पृष्ठ २१७।

[६] 'ता करि पापन कौं फल जितौ, जरि बरि मरि सरि गयौ है तितौ'
—भागवत भाषा दशम स्कन्ध, अध्याय २९।

प्रकारसे रासलीला-वर्णनमें सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्तियोंकी स्थितिको उदाहृत सा कर दिया है। 'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी' में वे कहते हैं 'व्रज-सुन्दरियों के साथ मिलकर कृष्ण उसी प्रकार शोभित हैं जिस प्रकार अपनी अनेक शक्तियों से आवृत्त होकर परमात्मा शोभित होते हैं'।[१] 'शक्ति' 'शक्तिमान्' से अलग नहीं हो सकती उसी प्रकार गोपियाँ कृष्णसे अलग स्थिति नहीं रखतीं। यह सायुज्य मोक्षकी स्थितिका ही वर्णन है। इस प्रकार नन्ददासजीके मोक्ष सम्बन्धी विचार भी वल्लभसम्प्रदायानुमोदित हैं।

नन्ददासजीके भक्ति-सिद्धान्त

नन्ददासजी पुष्टिमार्गीय भक्त थे। उन्होंने साम्प्रदायिक आधारपर पुष्टिकी व्याख्या करते हुये कहा है कि भक्तोंके दोषों पर ध्यान न देकर भगवानका अनुग्रह पूर्वक उनकी रक्षा करना ही 'पोषण' है।[२] यही नहीं उनकी भक्ति सम्बन्धी अन्य मान्यतायें भी पुष्टिमार्गीय भक्तोंकी परम्पराके अनुकूल हैं। उन्होंने अन्य साधनाओंकी तुलनामें 'भक्ति' की श्रेष्ठता स्वीकारकी है। भक्तिके अभावमें वे ज्ञानकी सार्थकता नहीं मानते।[३] भक्ति अमृत-सरोवर है। इसका आलम्बन, रसरूप परब्रह्म कृष्णका सगुण स्वरूप है। सगुण भगवान ही प्रेमगम्य है। ज्ञानकी आँखोंसे योगीजन जिस ज्योतिरूप ब्रह्मका आभास पाते हैं, प्रेमके सरलमार्ग पर चलनेवाला भक्त उसकी अनुभूति नहीं कर पाता।[४] सारे भ्रमरगीतका प्रसग ही सगुण ईश्वरकी प्रेम-भक्तिकी स्थापना है। भक्तिके शास्त्रीय प्रकारोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो नन्ददासजीकी भक्ति 'रागानुगा' है। प्रेमकी अनुभूतिसे गोपियोंके

---

[१] पुनि व्रज सुंदरि संग मिलि सोहै सुन्दर वर यौं।
अनेक शक्ति करि आवृत्त सोहै परमातम ज्यौं॥ —नन्ददास ग्रं०, पृष्ठ ४६।

[२] जद्यपि भगत भरयो बहु दोषन। ताकी रच्छा कहियै पोषन।
—भागवत भाषा, प्रथम अध्याय, ग्रं०, पृष्ठ २१७।

[३] अब विधि कहत ग्यान है जोई। भक्ति बिना सोउ सिद्धि न होई। —वही, पृष्ठ २६९।

[४] कौन ब्रह्म को जोति ग्यान कासों कहै ऊधौ?
हमरे सुन्दर स्याम प्रेमको मारग सूधो॥
—भ्रमरगीत, ग्रं०, पृष्ठ १७५।

हृदयमें आनन्द उल्लसित होता है किन्तु अन्ततः वे कामना-रहित होकर रस-सागर कृष्णमें उसी प्रकार मिल जाती हैं जिस प्रकार नदी का स्रोत जलधिमें विलीन हो जाता है। इसी स्थिति में उन्हें पूर्णशान्ति प्राप्ति होती है। यह साध्य-भक्ति या परा भक्ति है। श्रीमद्भागवतमें उल्लिखित नवधाभक्तिको वल्लभ-सम्प्रदायमें अनन्य-प्रेमाभक्तिका साधन स्वीकार किया गया है। रास-पंचाध्यायीके पाँचवें अध्यायमें नन्ददासजीने श्रवण, कीर्तन, स्मरण, ज्ञान, ध्यान आदि साधनोंके सार रूपमें प्रेमाभक्तिके मधुरभाव या उज्ज्वल रसको स्वीकार करके एक प्रकारसे नवधा भक्तिको साधन रूपमें ही ग्रहण किया है।[२] 'नारद-भक्ति-सूत्र'में भगवान्के प्रति जिन ग्यारह प्रकारकी आसक्तियोंका उल्लेख है, नन्ददासकी रचनाओंमें उन सभीका रूप मिल जाता है। यही नहीं कान्तासक्तिके अन्तर्गत जार-भावकी भक्तिका उल्लेख भी नन्ददासजीने किया है।[३] यह सब होनेपर भी आपकी प्रवृत्ति 'प्रेमा-भक्ति'के निरूपणमें ही अधिक रमी है। 'रासपंचाध्यायी', 'सिद्धान्त-पंचाध्यायी', 'रूपमञ्जरी' 'रसमञ्जरी', 'विरहमञ्जरी', 'भ्रमरगीत', आदि सभी कृतियोंमें प्रकारान्तरसे 'प्रेमा-भक्ति'के ही किसी न किसी रूपका उल्लेख हुआ है।

नन्ददासकी प्रेमा-भक्ति—नन्ददासजीके अनुसार समस्त विश्वमें भासित होनेवाली सत्ता प्रेममयी है।[४] शुद्ध प्रेमके आधारपर इस सत्ताकी अनूभूति एवं

---

[१] आइ उमगि सो मिलीं रँगीली गोप-वधू अस।
नंद-सुअन-सागर सुन्दर सों प्रेम नदी जस॥

—रास पंचाध्यायी, ग्रं०, पृष्ठ २६।

[२] यह उज्ज्वल रस-माल कोटि जतनन कै पोई।
सावधान ह्वै पहिरौ यहि तोरौ जनि कोई॥
श्रवन कीर्तन सार-सार सुमिरन को है पुनि॥

—रास पञ्चाध्यायी, ग्रं०, पृष्ठ २५।

[३] जदपि जार-बुद्धि अनुसरी। परमानन्द-कंद रस भरी।

—भाषा दशम स्कंध, ग्रं०, पृष्ठ ३१८।

[४] प्रथमहि प्रनऊँ प्रेममय परम जोति जो आहि।
रूपउ पावन रूपनिधि, नित्य कहत कविताहि॥

—रूप मंजरी, ग्रं०, पृष्ठ ११७।

प्राप्ति हो सकती है। गोपियोंको इसी प्रेम-पंथपर चलनेसे परम प्रेममय रस-रूप विश्वव्यापी भगवान् कृष्णकी प्राप्ति हुई थी। जो उनकी प्रेम-लीलका गान करता है, सुनता है या सुनाता है उसे भी प्रेमा-भक्ति प्राप्त हो जाती है।[1] यह शुद्ध प्रेम सांसारिक वासना-जन्य प्रेमसे भिन्न है। यह लोक मर्यादाके विधि-निषेधोंसे परे है।[2] लौकिक शृंगारकी आसक्तिमयी सीमासे परे है।[3] यह प्रेम काम-भावनापर जय प्राप्त कराता है।[4] जीवको मुक्त करता है। आश्रयरूप भक्तके हृदयमें जब आलम्बनरूप कृष्णके प्रति शुद्ध प्रेमका उदय होता है तो 'उज्ज्वलरस'की निष्पत्ति होती है।[5] वासनाजन्य-प्रेम और शुद्ध प्रेम एक-दूसरेसे उसी प्रकार मिले हुए हैं जिस प्रकार नीर-क्षीर। कोई विरला जन ही शुद्ध प्रेम को अलग करके उसके अलौकिक आनन्दकी अनुभूति कर सकता है।[6] शुद्ध प्रेमके सामने ज्ञान, योग और कर्म आदि साधनोंकी स्थिति वैसी ही है जैसे हीरा की तुलनामें काँच की।[7] यह प्रेम अतुलित है। ज्ञान, विज्ञान, यम, नियम तथा संसारकी अन्य सभी

---

१. जो यह लीला गावै चित दै सुनै सुनावै।
प्रेम-भगति सो पावै अरु सब कै मन भावै॥

—रासपञ्चाध्यायी, ग्रं०, पृष्ठ २४।

२. लोक-वेदकी सुद्दढ़ सिंखला तृन सम तोरी—वही, पृष्ठ ३१।

३. जो पंडित शृंगार ग्रंथ मत यामें सानैं।
ते कछु भेद न जानैं हरिको विषई मानैं॥

—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, ग्रं०, पृष्ठ ४१।

४. हरि मन-मथ करि मथ्यौं उलटि वा मनमथ कौं मन। —रासपंचाध्यायी प्रथम अध्याय।

५. यह उज्जल रस-माल कोटि जतनत कै पोई।

—वही, ग्रं०, पृष्ठ २५।

६. गरल अमृत इकंग करि राखै। भिन्न-भिन्न कै विररै-चाखै।
छीर-नीर निरवारि पिवै जो। इहि मग प्रभु पदई पावै सो॥

—रूप मंजरी, ग्रं०, पृष्ठ ११८।

७. ग्यान जोग सब कर्म ते परे प्रेम ही साँच।
हौं या पटतर देत हौं हीरा आगे काँच॥

—भ्रमरगीत, ग्रं०, पृष्ठ १८७।

वस्तुओं की तुलना हो सकती है किन्तु प्रेमकी नहीं।[१] 'प्रेमा-भक्ति'को 'परम एकान्त' भक्ति भी कहते हैं।[२] विरह प्रेमकी कसौटी है। थोड़ा सा विरहका पुट प्रेम-भावनामें वृद्धि कर देता है।[३] विषय-वासनाको जलाकर प्रेमीके व्यक्तित्वको निष्कलुष कर देता है। वह तन्मय होकर प्रिय-स्वरूप हो जाता है। इसीलिए नन्ददासजीने प्रेमा-भक्तिके अन्तर्गत विरह-भावनाको महत्व प्रदान किया है। इस प्रेमा भक्तिका सच्चा स्वरूप गोपियोंके व्यक्तित्वमें देखा जा सकता है। उनके व्यक्तित्वमें शुद्धप्रेमका चरम-विकास रासलीलाके प्रसंगमें हुआ है। इसीलिये कविने 'रासपञ्चाध्यायी'में 'रास'का सर्वोत्कृष्ट वर्णन किया है।

नन्ददास वर्णित रासका स्वरूप—विद्वानोंने 'रास'की व्याख्या कई आधारों-पर की है। 'रसानां समूहः रासः'[४] (रस समूह ही रास है) या 'बहुनर्तकी युक्तो नृत्यविशेषो रासः'[५] (बहुत-सी नर्तकियोंसे युक्त नृत्यविशेषको रास कहते हैं) या 'नटैर्गृहीत कंठेन अन्योन्यातकर्ताश्रियाम् नर्तकीनां भवेत रासो मंडलीभूय नर्तनः'[६] (जिसमें अनेक नट-नर्तकियाँ एक दूसरेके गलेमें हाथ डालकर मण्डलाकार नृत्य करते हैं वह रास है) अथवा 'नृत्यगीत-चुम्बनालिङ्गनादीनां रसानां समूहो रासः तन्मयी या क्रीड़ा ताम् अनुव्रतैस्तादीनां परस्परैकमत्येन स्वानुकूलैः अन्योऽन्यम्

---

१. ग्यान तुलित, विग्यान पुनि, तुलित-तुलित जप-नेम।
सबै वस्तु जग मैं तुलित, अतुलित एकै प्रेम॥

—भाषा दशम स्कंध, ग्रं०, पृष्ठ ३२१।

२. परम कांत एकांत भगति रस तौ भल पावै।

—रास पंचाध्यायी, ग्रं०, पृष्ठ ३७।

३. ज्यों पट पुटके दिये निपट ही रसहि परै रँग।
तैसेहि रंचक विरह प्रेमके पुंज वढ़त अंग॥

—रास पञ्चाध्यायी, ग्रं०, पृष्ठ १४।

४. श्रीधर स्वामीकी व्याख्या, रास पंचाध्यायी, डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ ३४ पर उद्धृत।

५. श्री वल्लभाचार्यकी व्याख्या, वही, पृष्ठ ३४ पर उद्धृत।

६. श्री चैतन्य सम्प्रदायके जीव गोस्वामीकी व्याख्या,
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ४९७ पर उद्धृत।

आबद्धः संग्रथिता बाहवो यैस्तैस्सह रासः"[1] । (अर्थात् जिसमें नट-नटी एक दूसरेके अनुकूल, एकमत, अनुवत होकर परस्पर बाहोंमें आबद्ध होकर चुम्बन आलिङ्गन आदि क्रियाओंके साथ गान करते हुये नृत्य करते हैं, वह रास है) उपर्युक्त सभी व्याख्याओंकी मूल भावना एक ही है। आनन्दकी चरम अभिव्यक्तिके लिये स्त्री-पुरुषोंका उल्लसित होकर परस्पर मुक्त स्पर्श, गान और नृत्य करना ही रास है—'रास'के तीन रूप या स्थितियाँ मानी गई हैं। **नित्य रास, नैमित्तिक रास और अनुकरणात्मक रास**। अनुकरणात्मक रास भी दो प्रकारका होता है—**मानसिक** और देहात्मक।[2] रस-रूप कृष्ण गोलोकमें अपनी शक्तियोंके साथ **नित्य रासलीला करते हैं, यही नित्य रास है**। अवतारी कृष्णने द्वापर युगमें गोपियोंके साथ जो रास-लीला रचाई थी वही **नैमित्तिक रास** है। कृष्णके प्रेमी-भक्त अपनी मानसी कल्पनामें जिस रासलीलाका अनुभव कर आनन्दित होते रहते हैं वही अनुकरणात्मक मानसिक रास है। जो रासलीला भक्त लोग मण्डलियाँ बनाकर करते हैं वह अनुकरणात्मक दैहिक रास है।

नन्ददासजी वर्णित रासमें ये तीनों स्वरूप समन्वित हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि यह रासलीला नित्य है।[3] साथ ही भागवतके अनुकरणपर लिखी गई उनकी रास पञ्चाध्यायी द्वापर युगमें अवतरित कृष्णकी विशिष्ट रासलीलाका आख्यानक वर्णन है। अतः वह नैमित्तिक भी है। यहीं नहीं शिव, शुक, नारद आदि भक्त जन इसकी मानसिक कल्पनामें सदा मग्न रहते हैं, कविने इस ओर भी संकेत किया है।[4] स्वयं नन्ददासजीने भी निश्चय ही अपने मानसलोकमें इस लीलाका काल्पनिक बिम्ब ग्रहण किया था अन्यथा उनके वर्णन इतने सजीव न हो पाते। इसलिए इसे अनुकरणात्मक मानसिक रास भी कह सकते हैं।

---

[1] श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीकी व्याख्या,
—रास पंचाध्यायी, सं० डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ २५ पर उद्धृत।

[2] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ४९८।

[3] नित्य रास रमनीय, नित्य गोपीजन-वल्लभ।
—रास पंचाध्यायी, सं० उमाशंकर शुक्ल, पृष्ठ १८१, प्रथम संस्करण।

[4] सिव सुक नारद-सारद तिनकौं इहै महानिधि।
—नन्ददास ग्रं०, पृष्ठ ३७।

वस्तुओं की तुलना हो सकती है किन्तु प्रेमकी नहीं।[१] 'प्रेमा-भक्ति'को 'परम एकान्त' भक्ति भी कहते हैं।[२] विरह प्रेमकी कसौटी है। थोड़ा सा विरहका पुट प्रेम-भावनामें वृद्धि कर देता है।[३] विषय-वासनाको जलाकर प्रेमीके व्यक्तित्वको निष्कलुष कर देता है। वह तन्मय होकर प्रिय-स्वरूप हो जाता है। इसीलिए नन्ददासजीने प्रेमा-भक्तिके अन्तर्गत विरह-भावनाको महत्व प्रदान किया है। इस प्रेमा भक्तिका सच्चा स्वरूप गोपियोंके व्यक्तित्वमें देखा जा सकता है। उनके व्यक्तित्वमें शुद्धप्रेमका चरम-विकास रासलीलाके प्रसंगमें हुआ है। इसीलिये कविने 'रासपञ्चाध्यायी'में 'रास'का सर्वोत्कृष्ट वर्णन किया है।

नन्ददास वर्णित रासका स्वरूप—विद्वानोंने 'रास'की व्याख्या कई आधारों-पर की है। 'रसानां समूहः रासः'[४] (रस समूह ही रास है) या 'बहुनर्तकी युक्तो नृत्यविशेषो रासः'[५] (बहुत-सी नर्तकियोंसे युक्त नृत्यविशेषको रास कहते हैं) या 'नटैर्गृहीत कंटेन अन्योन्यातकाँश्रियाम् नर्तकीनां भवेत रासो मंडलीभूय नर्तनः'[६] (जिसमें अनेक नट-नर्तकियाँ एक दूसरेके गलेमें हाथ डालकर मण्डलाकार नृत्य करते हैं वह रास है) अथवा 'नृत्यगीत-चुम्बनालिङ्गनादीनां रसानां समूहो रासः तन्मयी या क्रीड़ा ताम् अनुव्रतैस्तार्दानां परस्परैकमत्येन स्वानुकूलैः अन्योऽन्यम्

---

[१] ग्यान तुलित, विग्यान पुनि, तुलित-तुलित जप-नेम।
सबै वस्तु जग मैं तुलित, अतुलित एकै प्रेम॥

—भाषा दशम स्कंध, ग्रं०, पृष्ठ ३२१।

[२] परम कांत एकांत भगति रस तौ भल पावै।

—रास पंचाध्यायी, ग्रं०, पृष्ठ ३७।

[३] ज्यों पट पुटके दिये निपट ही रसहि परै रँग।
तैसेहि रंचक विरह प्रेमके पुंज वढ़त अंग॥

—रास पञ्चाध्यायी, ग्रं०, पृष्ठ १४।

[४] श्रीधर स्वामीकी व्याख्या, रास पंचाध्यायी, डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ ३४ पर उद्धृत।

[५] श्री वल्लभाचार्यकी व्याख्या, वही, पृष्ठ ३४ पर उद्धृत।

[६] श्री चैतन्य सम्प्रदायके जीव गोस्वामीकी व्याख्या,
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ४९७ पर उद्धृत।

आबद्धः संग्रथिता बाहवो यैस्तैस्सह रासः"[1]। (अर्थात् जिसमें नट-नटी एक दूसरेके अनुकूल, एकमत, अनुवत होकर परस्पर बाहोंमें आबद्ध होकर चुम्बन आलिङ्गन आदि क्रियाओंके साथ गान करते हुये नृत्य करते हैं, वह रास है) उपर्युक्त सभी व्याख्याओंकी मूल भावना एक ही है। आनन्दकी चरम अभिव्यक्तिके लिये स्त्री-पुरुषोंका उल्लसित होकर परस्पर मुक्त स्पर्श, गान और नृत्य करना ही रास है—'रास'के तीन रूप या स्थितियाँ मानी गई हैं। **नित्य रास, नैमित्तिक रास और अनुकरणात्मक रास।** अनुकरणात्मक रास भी दो प्रकारका होता है—**मानसिक और देहात्मक।**[2] रस-रूप कृष्ण गोलोकमें अपनी शक्तियोंके साथ **नित्य रासलीला** करते हैं, यही **नित्य रास** है। अवतारी कृष्णने द्वापर युगमें गोपियोंके साथ जो रास-लीला रचाई थी वही **नैमित्तिक रास** है। कृष्णके प्रेमी-भक्त अपनी मानसी कल्पनामें जिस रासलीलाका अनुभव कर आनन्दित होते रहते हैं वही अनुकरणात्मक मानसिक रास है। जो रासलीला भक्त लोग मण्डलियाँ बनाकर करते हैं वह अनुकरणात्मक दैहिक रास है।

नन्ददासजी वर्णित रासमें ये तीनों स्वरूप समन्वित हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि यह रासलीला नित्य है।[3] साथ ही भागवतके अनुकरणपर लिखी गई उनकी रास पञ्चाध्यायी द्वापर युगमें अवतरित कृष्णकी विशिष्ट रासलीलाका आख्यानक वर्णन है। अतः वह नैमित्तिक भी है। यहीं नहीं शिव, शुक, नारद आदि भक्त जन इसकी मानसिक कल्पनामें सदा मग्न रहते हैं, कविने इस ओर भी संकेत किया है।[4] स्वयं नन्ददासजीने भी निश्चय ही अपने मानसलोकमें इस लीलाका काल्पनिक बिम्ब ग्रहण किया था अन्यथा उनके वर्णन इतने सजीव न हो पाते। इसलिए इसे अनुकरणात्मक मानसिक रास भी कह सकते हैं।

---

१. श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीकी व्याख्या,

—रास पंचाध्यायी, सं० डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ २५ पर उद्धृत।

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ४९८।

३. नित्य रास रमनीय, नित्य गोपीजन-वल्लभ।

—रास पंचाध्यायी, सं० उमाशंकर शुक्ल, पृष्ठ १८१, प्रथम संस्करण।

४. सिव सुक नारद-सारद तिनकौं इहै महानिधि।

—नन्ददास ग्रं०, पृष्ठ ३७।

रासपञ्चाध्यायीमें प्रेमकी आध्यात्मिक भूमि

मध्ययुगीन प्रेममार्गी कवियोंकी बहुत बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने लौकिक प्रेमके माध्यमसे आध्यात्मिक प्रेमकी व्यञ्जना की है। लौकिक जीवनमें सबसे तीव्र स्थायी और उष्ण प्रेम दम्पतिके बीच होता है। इसीलिए दाम्पत्य प्रेमको ही ईश्वरोन्मुख करके उसके माध्यमसे आध्यात्मिक प्रेमकी ओर संकेत किया जाता है। दैन्य-भावापन्न-भक्तिसे इस प्रेम-मूलक भक्तिमें स्पष्ट अन्तर है। भक्तिके द्वारा भक्तका मानसिक उन्नयन होता है। किन्तु प्रेमके बलसे भगवान स्वयं मानव जीवनके निकट खिंच आते हैं।[1] रासपञ्चाध्यायीमें लौकिक अनुभूतियोंकी तीव्रताके आधारपर आध्यात्मिक प्रेमकी व्यञ्जना की गई है। कवि इस आध्यात्मिकताकी ओर संकेत करना नहीं भूलता। रासपञ्चाध्यायीमें वर्णित प्रेमके सारे उपकरण दिव्य हैं। आलम्बन कृष्ण साक्षात् रसरूप परब्रह्म हैं। आश्रय गोपियाँ उन्हींकी अंश रूपा आत्मायें हैं। प्रेमलीला-भूमि वृन्दावन भी दिव्य है। उद्दीपक प्रकृति—कुञ्ज, लता, वीरुध, तृन—काल-प्रभावसे परे शाश्वत शोभा-युक्त हैं। इन परिस्थितियोंमें उत्पन्न होनेवाला प्रेम दिव्य, काम-नाशक और गर्वका शमन करनेवाला है। इस प्रेमकी अधिकारिणी व्रजबालायें ही हैं, जो पञ्चभूतोंसे परे शुद्ध ज्योति-रूपा हैं।[2] स्वयं रूपनिधि कृष्ण उनके आकर्षणके विषय हैं। आकृष्ट होनेका कारण भी दिव्य और आध्यात्मिक है। नाद-ब्रह्म (शब्द-ब्रह्म) की जननी भुवनमोहिनी योगमायाकी प्रतीक रूपा मुरलीका निनाद सुनकर 'नाद-पंथ'[3] का अनुसरण करती हुई गोपियाँ 'सावन-सरित'के समान अपार प्रेमोल्लास एवं

---

[1] Devotion wafts the mind above.
But Heaven itself descends in love.
—Byron.

[2] सुद्ध जोति-मय रूप पाँच भौतिक तें न्यारी।
तिनहिं कहा कोउ गहै जोति-सी जगत उज्यारी॥ नन्ददास ग्रं०, पृष्ठ ९।

[3] 'कर्णेन्द्रियमें सम्पूर्ण सम्वेदन शक्तिको केन्द्रितकर चित्तवृत्ति निरोधके साथ शब्द-ब्रह्ममें प्रवृत होना ही नादमार्ग है'—विस्तृत विवरणके लिए देखिये अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, दूसरा भाग, पृष्ठ ७९६।

अबाध गतिसे रस-सागर कृष्णसे मिलती हैं। यह उत्कट प्रेम जीवात्मा और परमात्माके नित्य और शाश्वत प्रेमकी ओर संकेत करता है।

काव्य-सौष्ठव

नन्ददासजीके काव्यकी भावभूमि विस्तृत नहीं है। पुष्टिमार्गीय भक्ति-सिद्धान्तको अधिकसे अधिक निरूपित करनेकी चेष्टामें अनिवार्यतः कवि 'प्रेम और सौन्दर्य'की सीमाओंमें ही चक्कर काटता रह गया है। 'मानमञ्जरी', (नाममाला), 'रूपमञ्जरी', 'विरहमञ्जरी', 'भ्रमरगीत', 'श्याम-सगाई', 'रुक्मिणी मंगल', सिद्धान्त पञ्चाध्यायी' और 'रास पञ्चाध्यायी' इन सभी कृतियोंमें 'प्रेम और सौन्दर्य' वर्णनका ही प्राधान्य है। 'गोवर्द्धन लीला', 'सुदामा चरित' और 'भाषा दशम स्कन्ध', तथा स्फुट पदोंमें कविका ध्यान प्रसंगके अनुरोधसे अन्य भावोंकी ओर भी गया है किन्तु उसकी प्रवृत्ति अन्यत्र रमती हुई नहीं जान पड़ती। 'प्रेम'के अन्तर्गत 'संयोग' और 'वियोग' वर्णनकी परम्परा रही है। 'विरह' प्रेमकी कसौटी है। आध्यात्मिक दृष्टिसे भी इसका विशेष महत्त्व है। विरहकी ज्वालामें प्रेमीके मनका कलुष दग्ध हो जाता है और उसका व्यक्तित्व शुद्ध-निर्मल होकर प्रिय-मिलनके योग्य बन जाता है। इसीलिये सभी प्रेमी कवियोंने विरहकी तीव्रता और व्यापकताकी ओर अधिक ध्यान दिया है। नन्ददासजीने भी संयोगके क्षणोंको पूरी तन्मयतासे साकार करते हुये भी विरहकी व्यापकतापर अधिक बल दिया है। संयोगके चित्र विशद नहीं हैं। **मानमञ्जरीमें** संयोगका चित्र अन्तमें आता है किन्तु मिलनकी अनुभूतियोंकी अभिव्यक्ति नहीं है। कविने 'यों राधा-माधव मिले परमप्रेम हरषाइ' कहकर बात समाप्त कर दी है। उसका लक्ष्य तो अमरकोषकी प्रणालीपर नाना नामोंकी माला गूँथना था। **'श्याम सगाई'**में भी अन्तमें राधाको कृष्णका दर्शनमात्र कराकर प्रसंग समाप्त कर दिया गया है। लड़ैती राधा कृष्णके आगमनकी बात सुनकर नेत्र खोलती है। घनस्यामको देखकर लज्जावश बदनपर बिखरे हुए केशोंको ठीक कर लेती है। माताको भी समीप देखकर मन्द-मन्द मुसकराकर मुखपर अञ्चल डाल लेती है। **विरहमञ्जरीमें** काल्पनिक विरहकी समाप्तिके बाद व्रजबालाको संयोगकी स्थितिमें 'प्रेममग्न' दिखाकर काव्य समाप्त कर दिया गया है। विरहिणी व्रजबाला

'निरवधि परम प्रेम रस'से सिक्त होकर आनन्द मग्न हो जाती है। **'रूपमञ्जरी'** में संयोगका संक्षिप्त किन्तु सुन्दर चित्र मिलता है। कृष्ण रूपमञ्जरीसे मादक और मधुर बातें करते हुए उसे कुञ्जमें ले आते हैं। कुञ्ज क्या है मानो सुखपुञ्ज ही साकार हो गया है। उसमें पुष्पोंके ही दीपक जगमगा रहे हैं। प्रथम समागमके कारण अतिशय लज्जावश रूपमञ्जरी अञ्चलकी वायुसे दीपकोंको बुझाना चाहती है। पुष्पदीप क्यों बुझने लगे? अपनी इस भ्रान्तिपर वह और लज्जित होती है और हँसकर प्रियतमके हृदयसे लिपट जाती है। प्रेम-पुलकित होनेके कारण उसे रोमाञ्च हो जाता है। अंकुरित रोम पूर्ण-मिलनमें बाधा पहुँचाते हैं। प्रेम-मुग्ध रूपमञ्जरीको यह अन्तर भी सह्य नहीं है। कवि और आगे बढ़ता है। कृष्ण प्रियाके अधरोंका चुम्बन लेते हैं। इस क्रियामें नाककी बेसरिका मोती डोलने लगता है। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो वह मोती विवश अधरोंको छुड़ानेके लिए हा-हा खा रहा है।[1] चित्र यहीं समाप्त हो जाता है। **'भाषा दशम स्कंध'**के उन्तीसवें अध्यायमें भी गोपी-कृष्ण-मिलन दिखाया गया है। प्रेमोद्दीपक प्राकृतिक उपकरणोंकी रमणीयताकी पृष्ठभूमिमें गोपियाँ प्रियतम कृष्णसे मिलती हैं। कविने मिलनके समयकी उन सभी कल-केलियोंका वर्णन सहज भावसे कर दिया है जिन्हें सामान्यतः श्लील नहीं कहा जा सकता। इस मिलन-चित्रमें बाह्य क्रीड़ाओंका ही उल्लेख है, आन्तरिक अनुभूतियोंका नहीं। काव्य-सौष्ठवकी दृष्टिसे यह वर्णन अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। **'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी'**में रासलीला-वर्णनके प्रसंगमें कृष्णका अनेक गोपियोंके साथ मिलन दिखाया गया है। किन्तु यहाँ कविने पुष्टिमार्गीय मधुर भक्तिके सिद्धान्तोंको निरूपित एवं उदाहृत करनेमें ही अपनी पूरी

---

[1] का कहिये तिहिं कुञ्ज निकाई। जनु सुखपुंजन ही करि छाई।
× × ×
पुहपनिही के दीपक जहाँ। जगमग जोति लगी रहि तहाँ।
प्रथम समागम लज्जित तिया। अंचल पवन सिरावति दिया।
दीप न बुझहिं विहँसि वर बाला। लपटि गई पिय उरसि रसाला।
× × ×
प्रेम पुलक अंतर तिहिं काला। सो अंतर सहि सकति न बाला।
—रूपमञ्जरी।

शक्ति लगा दी है। वह लौकिक शृंगार और उज्ज्वल रसका पार्थक्य समझानेमें ही लगा रह गया है। उसका उद्देश्य रासकी नित्यता, प्रेमकी आध्यात्मिकता, वृन्दावनकी दिव्यता, गोपियोंकी प्रतीकरूपात्मकता और कृष्णकी निष्काम-शुद्ध-रस-रूपता प्रमाणित करना ही प्रतीत होता है। इसीलिए इस रचनामें सिद्धान्त उभर आये हैं और काव्यानुभूति दब-सी गई है।

'रास पञ्चाध्यायी'में संयोगका विशद चित्र मिलता है। कविने मिलनके पूर्व गोपियोंकी आतुरता, उमंग, उत्कट प्रेम-पिपासा और संभ्रमात्मक मानसिक स्थितिका चित्रण किया है। गोपियोंके आगमनकी सूचना कृष्णको उनके रुनुक-झुनुक नूपुर-निनादसे ही मिल जाती है। उत्सुकता वश उनका मन और नेत्र सिमटकर कानोंमें ही आ जाते हैं। परम रूपवती गोपियोंके सम्मुख आ जानेपर तो कृष्ण उन्हें निर्निमेष नेत्रोंसे देखने लगते हैं। गोपियाँ उन्हें चतुर्दिक घेरकर खड़ी हो जाती हैं। लगता है बादल विद्युत्की आभासे आवृत होकर शोभित हो उठा हो। जब प्रेम-परीक्षा लेनेके लिए कृष्ण उन्हें घर लौट जानेको कहते हैं तब उनका सारा उल्लास 'चिन्ता'में परिवर्तित हो जाता है। वे संभ्रमित होकर पुतलीकी भाँति खड़ी रह जाती हैं। गोपियोंके सच्चे प्रेमकी प्रतीति हो जाने पर कृष्णका हृदय द्रवीभूत होता है और कवि विपिन-विहारकी संयोगावस्थाका मनोरम चित्रांकन करता है। कृष्ण गोपियोंके साथ कुंजोंमें डोलते हैं। यमुना तट-पर विचरण करते हैं। फूलोंकी माला बनाकर परस्पर पहनते और पहनाते हैं। कुछ क्षणोंके लिए यमुनाके कर-तरंगोंसे निर्मित शुभ्र मृदु वालुका राशिपर बैठ जाते हैं। उनका हृदय आनन्दसे उल्लसित है और वे प्रणय-सुलभ अनेक क्रीड़ायें आरम्भ कर देते हैं। चौथे अध्यायमें पुनर्मिलन दिखाकर कविने उत्कट प्रेम-लीलाकी विविध क्रियाओंका विशद वर्णन किया है। कोई गोपी उनका पीताम्बर पकड़ लेती है; कोई उनकी भुजा पकड़ कर लटक जाती है: कोई अपने अधरोंको दाँतोंसे दबाकर किञ्चित रोष प्रकट करती है और कोई उन्हें निर्निमेष देखनेमें ही मग्न हो जाती है। पाँचवें अध्यायमें रासलीलाके माध्यमसे कृष्ण-गोपियोंका महामिलन दिखलाया गया है। यह मिलनका चित्र बहुत ही सजीव है। कविने रास-नृत्यको साकार कर दिया है। यहाँ भी कवि आन्तरिक अनुभूतियोंकी अभिव्यक्ति नहीं करता। नृत्यकी विविध स्थितियों, अनेक वाद्य-ध्वनियों, गोपियोंकी

विविध नृत्य-मुद्राओं, कृष्ण की अंग-भंगियों और प्रणय-सूचक अनेक क्रिया-कलापोंके सजीव चित्रांकनमें ही उसकी प्रवृत्ति अधिक रमी है। फिर भी यह निश्चित है कि रास-लीलाका ऐसा रमणीय, गतिमय, सजीव, नाद-सौन्दर्य-युक्त, विशद, भव्य और विविध-प्रणय-क्रिया-कलाप संकुल चित्र अष्टछापके अन्य किसी कविने उपस्थित नहीं किया है। एक चित्र देखिये—

नूपुर कंकन किंकिनि करतल मंजुल-मुरली।
ताल, मृदंग, उपंग, चंग एकहि सुर जुरली॥
मृदुल मुरज टंकार, ताल झंकार मिलि धुनि।
मधुर जंत्र के तार भँवर-गुंजार रली पुनि॥
तैसिय मृदु-पद पटकनि-चटकनि करतारन की।
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुण्डल हारनकी॥
साँवरे पिय के संग लसत यौं ब्रज की बाला।
जनु घन मंडल मंजुल विलसति दामिनी माला॥[1]

नन्ददासजीके स्फुट पदोंमें भी संयोग-श्रृंगारके मोहक चित्र मिलते हैं। कवि ने संयोगका चित्र प्रायः 'हिंडोराझूलने' और 'होरीखेलने' के समयका ही अंकित किया है। हिंडोरेका उल्लास वर्षाऋतुके मोहक प्रभावसे द्विगुणित हो उठा है। कभी यह हिंडोरा गोकुलनाथकी 'पौरि' में रचा जाता है कभी कालिन्दी के तटपर और कभी सघन मधुवनकी कदम्ब-डालोंपर। कभी मोहन राधाके साथ झूलते हैं और कभी अन्य सखियोंके साथ। इस प्रसंगमें भी कविने वर्षा ऋतुका उद्दीपक वातावरण, कृष्ण-गोपियोंका सौन्दर्य, हिंडोरेकी सज्जा तथा सखियोंका हँसना, किलकना, तारी देना, लपक कर गले लगना और रमक कर झूमना आदि प्रसंगोंकी ही उद्भावनाकी है। सूक्ष्म आन्तरिक भावानुभूतियोंकी ओर उसका ध्यान नहीं गया है। यही स्थिति होरीके चित्रोंकी भी है। कृष्ण सखाओंके साथ और राधा सखियोंके साथ कनक पिचकारी लेकर होरी खेलनेके लिए एक दूसरेके सम्मुख आते हैं। सखियोंके नेत्र प्रियतम कृष्णके रूप लावण्य को देखनेमें उलझ जाते हैं। रंग भरी पिचकारियाँ छूटने लगती हैं। आकाशमें

---

[1] रास पञ्चाध्यायी, पाँचवाँ अध्याय, ग्र०, पृष्ठ २२।

गुलाल और अबीरका चँदोवा टँग जाता है। सखियोंका 'दुरना', 'मुड़ना', 'भगना', 'अपनेको बचाना' और बीच-बीचमें कुटिल कटाक्ष-बाणोंसे कृष्णको घायल करना दर्शनीय है।[1]

नन्ददासजीकी विभिन्न कृतियोंके आधारपर दिये गये उपर्युक्त संयोग-शृंगार-चित्रोंपर विचार करनेसे दो बातें स्पष्ट लक्षित होती हैं। एक तो यह कि इन चित्रोंमें कविकी वृत्ति पूर्णतया नहीं रमी है। इसीलिये रासपञ्चाध्यायीके अतिरिक्त अन्य कृतियोंमें उसने इसका विशद-चित्र नहीं उपस्थित किया है। दूसरे, संयोग-शृंगारके अन्तर्गत आश्रय-आलम्बनकी आन्तरिक अनुभूतियोंकी ओर ध्यान न देकर उसने प्रायः प्रणय-क्रीड़ाके अनुकूल आंगिक क्रियाकलापोंपर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखी है।

वियोग-वर्णनमें नन्ददासजी अधिक उत्साहसे प्रवृत्त हुये हैं। 'विरहमञ्जरी', 'रूपमञ्जरी' 'भ्रमरगीत' 'रुक्मिणीमंगल' 'रासपञ्चाध्यायी', आदि सभी कृतियोंमें वियोग-शृंगारका ही प्राधान्य है। विरहमञ्जरीमें कविने विरहकी नवीन स्थितियों की उद्भावना भी की है। उसने विरहके चार प्रकारोंका उल्लेख किया है— १. प्रत्यक्ष, २. पलकान्तर, ३. बनान्तर, ४. देशान्तर। उत्कट प्रेमकी मनः स्थितिमें कभी-कभी प्रियके सम्मुख रहते हुए भी प्रेमीको उसके वियोगका भ्रम हो जाता है। यही प्रत्यक्ष विरह है। प्रियको निर्निमेष देखते हुये जब कभी पलकें गिर जाती हैं तो एक प्रकारका अन्तराय हो जाता है। यही पलकान्तर वियोग है। प्रियके प्रवासी होनेपर देशान्तर वियोगकी स्थिति होती है। काव्य-शास्त्रके अनुसार विरहकी तीन स्थितियाँ—पूर्वराग, मान, प्रवास—मानी जाती हैं। नन्ददासजीका देशान्तर वियोग तो प्रवासवियोग ही है। शेष स्थितियोंकी कल्पना उनकी मौलिकता है। वैसे उन्होंने 'रुक्मिणी मंगल'में पूर्वराग-जनित-वियोगका वर्णन भी किया है। 'मान-मञ्जरी' या 'नाममाला'में राधाके मान-जनित वियोगका वर्णन है। नन्ददासजी काव्य-रीतिके ज्ञाता थे। इसीलिये उन्होंने मौलिक उद्भावनाके साथ ही काव्य-परम्परामें प्रचलित विरहकी स्थितियोंका भी वर्णन किया है। 'रूपमञ्जरी'में छ ऋतुओंके आधारपर रूपमञ्जरीका विरह वर्णित है। सभी

---

[1] पदावली, (फागलीला) पद १७३, ग्र०, पृष्ठ ३८१।

ऋतुयें अपने मोहक प्रभावसे विरह-वेदनाको तीव्रतर कर देती हैं। विरहकी अनुभूतियोंका वर्णन परम्परागत ही है। विरहिणी रूपमञ्जरीके लिये पावसमें घनका उमड़ना, पवनका झकोरा देना, दादुर और झींगुरका शब्द करना, पापी पपीहेका पी-पी पुकारना यह सब दुःसह दुःख देनेवाला प्रतीत होता है। शरदमें चन्द्रमा अग्नि-वर्षा करता हुआ जान पड़ता है। वह उन्मादिनी होकर दर्पणमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमापर हथौड़ेकी चोट करनेकी बात कहती है।[1]

इसी प्रकार अन्य ऋतुयें भी उसे मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाती हैं। ग्रीष्मकी भीषण उष्णतामें उसकी विरहाग्नि सतगुनी अधिक हो जाती है। तापाधिक्यसे वक्षस्थलपर शोभित हारके मोती तच-तच कर तड़कते हैं और लावा हो जाते हैं[2]। यहाँपर कविने ऊहात्मक शैलीका प्रयोग किया है। इसी कृतिमें कविने विरहका औचित्य सिद्ध करते हुये कहा है—

हौं जानौं पिय-मिलन ते, विरह अधिक सुख होय।
मिलतै मिलिये एक सौं, बिछुरे सब ठाँ सोय ॥[3]

यह रूपमञ्जरीका विरह भी पूर्वराग-जनित ही है। 'भ्रमरगीत'में विरह-विदग्ध गोपियोंकी विवशता प्रियतमका निष्ठुर आचरण देखकर उपालम्भके रूपमें प्रकट हुई है, किन्तु यह उपालम्भ भी अधिक समय तक नहीं चल पाता। गोपियाँ हे नाथ ! हे करुणामय ! हे कृष्ण ! हे मुरारि ! कहकर एक साथ ही रो पड़ती हैं। उनका शुद्ध प्रेम उद्धव जैसे ज्ञानीको भी विचलित कर देता है। वे मथुरा लौटनेपर यही कह पाते हैं—

पुनि पुनि कहै हे स्याम जाय वृंदावन रहिये।
परम प्रेम को पुंज जहाँ गोपी सँग लहिये ॥[4]

---

[1] कै अटरनि पर धरि मुकुर, सुकर लोह घनु लेहि।
जबई आनि परै तहाँ, तबई ता सिर देहि ॥
—रूपमञ्जरी, ग्रं०, पृ० १३५।

[2] हारके मुतिया उर झर माहीं। तचि-तचि तरकि लवा ह्वै जाहीं।
—रूपमञ्जरी, ग्रं०, पृ० १४०।

[3] वही, पृ० १३९।

[4] भ्रमरगीत, ग्रं०, पृ० १८९।

सखाका यह कथन सुनकर कृष्णकी जो विचित्र स्थिति हो जाती है वह बड़ी ही करुण और मार्मिक है—

> सुनत सखा के बैन नैन आए भरि दोऊ।
> विवस प्रेम-आवेस रही नाहिं न सुधि कोऊ॥
> रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै गईं साँवरे गात।
> काम तरोवर साँवरो ब्रज बनिता ही पात॥
> उलहि अँग अँग तें।[१]

'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' और 'रास-पञ्चाध्यायी'में विरहका विशद वर्णन है। सिद्धान्त-पञ्चाध्यायोमें गोपियोंका गर्व दूर करनेके लिये भगवान क्षण भरके लिये छिप जाते हैं। गोपियाँ विरह-विह्वल हो जाती हैं। वे जड़-चेतनका भेद भूल जाती हैं। कदम्ब, निम्ब, अम्ब, पनस आदि वृक्षोंसे उनका पता पूछती हैं। कृष्णके चरण-चिह्नोंके आधारपर उन्हें इधर-उधर ढूँढ़ती हैं। व्रजबालाओंको अतिशय व्याकुल देखकर भगवान प्रकट हो जाते हैं। विरहका यही स्वरूप 'रास-पञ्चाध्यायी'में भी है। गोपियोंको यह मिथ्या गर्व हो जाता है कि भगवान् हमारे वशमें हैं। कृष्ण इस गर्वका शमन करनेके लिए थोड़ी देरके लिये मंजुकुंजमें छिप जाते हैं। गोपियाँ व्याकुल हो जाती हैं। उन्हें उन्माद हो जाता है। वे जड़-चेतनका भेद भूल जाती हैं। बन-बनमें कृष्णको ढूँढ़ती फिरती हैं। वृक्षों-लताओंसे कृष्णका पता पूछती हैं। प्रेमातिरेकसे वे कृष्णमयी हो जाती हैं। तन्मयताकी इस स्थितिमें वे कृष्णकी लीलाओंका अनुसरण करने लगती हैं। इसी विह्वल स्थितिमें उन्हें एक स्थानपर कृष्णके चरण-चिह्न मिलते हैं। उसीके समीप 'प्यारी तियके पगचिह्न' देखकर वे एक दूसरेकी ओर देखकर चकित रह जाती हैं। वे सोचती हैं कि यह कौन सौभाग्यवती है जिसे एकान्तमें प्रियतमके अधरोंका रसपान करनेका अवसर प्राप्त हुआ है। आगे बढ़नेपर एक स्थानपर उन्हें नवीन पल्लवोंकी पंक्ति मिलती है। निश्चय ही यहीं बैठकर प्रियतमने उस सौभाग्यवतीकी वेणी पुष्पोंसे गूँथी है। समीप ही एक मणिजटित मंजु मुकुर देखकर वे तर्क करती हैं—वेणी गूँथते समय छबीले लालको पीछे बैठना पड़ा होगा। प्रियका सुन्दर

---

[१] भ्रमरगीत, ग्रं०, पृ० १८९।

वदन विलोकनेमें बाधा पहुँची होगी। तब उस सौभाग्यवतीने मुकुर दिखाया होगा और उसमें प्रतिबिम्बित मुखश्रीको देखकर सन्तुष्ट हुई होगी। और आगे बढ़नेपर उन्हें वह सौभाग्यवती भी एकाकिनी महाविरहकी वेदनासे विह्वल दिखाई पड़ी। गोपियोंने दौड़कर उसे भुजाओंमें भर लिया। सभी मिलकर यमुना तटपर आईं। अत्यन्त कातर होकर वे कहने लगीं कि हे नाथ! यदि इसी प्रकार मारना था तो व्रजपर आनेवाली अनेक आपत्तियोंसे आपने हमारी रक्षा क्यों की थी? व्रजबालाओंको अत्यधिक व्याकुल देखकर कृष्ण उन्हींमें-से निकलकर प्रकट हो जाते हैं।

उपर्युक्त सभी कृतियोंमें विरह-वर्णन करते हुए कविने बराबर उसके आध्यात्मिक पक्षको स्पष्ट करनेकी चेष्टा की है। वास्तवमें नन्ददास वर्णित प्रेम सर्वत्र आध्यात्मिक प्रेम है। वह जीवात्मा और परमात्माका प्रेम है। वह पुरुष और प्रकृतिकी आनन्दमयी लीलाकी अभिव्यक्ति है। सृष्टि-रचनाके लिये एक ही परब्रह्म द्विधा विभक्त हो गया। दक्षिण अंग पुरुष और बाम अंग प्रकृति कहलाया। इस प्रकृतिकी सहायताके बिना वह सृष्टि-रचनामें असमर्थ है। इसी प्रकृति या शक्तिसे युक्त होकर ही वह शक्तिमान् है। कृष्ण परब्रह्म हैं। राधा उनकी प्रकृति (आह्लादिका शक्ति) है। गोपियाँ भगवानकी आनन्द-प्रसारिणी शक्तिरुपा हैं। इन्हें भगवानका वियोग क्षणभरके लिये भी सह्य नहीं है। भला शक्ति, शक्तिमान्से अलग कैसे रह सकती है? जीवात्मा, परमात्माका वियोग कैसे सहन कर सकती है। इसीलिये तो नन्ददासजीने कहा है—

जिनके नैन निमेष ओट कोटिक जुग जाहीं।
तिनके गृह बन कुंज ओट दुख अगनित आहीं॥

बार-बार आध्यात्मिकताकी ओर संकेत करते रहनेके कारण काव्यका स्वाभाविक सौन्दर्य कम हो गया है। ज्योंही पाठकका मन संयोग-चित्रोंकी रमणीयतामें मुग्ध होकर तन्मय होने लगता है, कवि उसे सतर्क करता हुआ कह उठता है—'नाहिन कछु सृंगार कथा इहि पञ्चाध्याई'। आध्यात्मिकताके आग्रहसे ही कविने 'प्रत्यक्ष' और 'पलकान्तर' वियोगों की उद्भावना की है। यह वियोग-वर्णन परिस्थितिके अनुरोधसे नही किया गया है। आचार्य शुक्लका यह आक्षेप कि

'सूरका वियोग-वर्णन, वियोग वर्णनके लिये ही है, परिस्थितिके अनुरोधसे नहीं',[1] वस्तुतः सभी अष्टछापी कवियोंपर समान रूपसे लागू होता है। इस अस्वाभाविकताका एकमात्र कारण आध्यात्मिक प्रेमकी व्यञ्जनाका प्रयत्न ही है। नन्ददासजीमें प्रेमके उभय पक्षों—संयोग और वियोग—के चित्रणकी पूर्ण क्षमता थी। यदि उन्होंने लौकिक प्रेमके माध्यमसे आध्यात्मिक प्रेमकी व्यञ्जनाको अपना लक्ष्य न बनाया होता तो उनका काव्य अधिक मार्मिक सरस और प्रभावक हो सकता था।

प्रेमके अतिरिक्त अन्य भावोंकी अभिव्यक्तिमें कविका मन रमता हुआ नहीं जान पड़ता। स्फुट पदोंमें वात्सल्य वर्णन मिलता है किन्तु बहुत कम। कृष्णकी बाललीलाके पद अधिक नहीं हैं। कृष्णका पालना झूलना, माखन खाना, बनमें खेलने जाना, माताका सोये हुये कृष्णको आग्रहपूर्वक जगाना, कृष्णका गायोंको खिलाना आदि थोड़ेसे चित्र ही अंकित किये गये हैं। इसी प्रसंगमें कृष्णके बालरूपका वर्णन भी किया गया है। माताके हृदयकी सूक्ष्म व्यञ्जना नहीं हुई है। दो-एक पदोंमें कविने इतना ही कह दिया है कि 'बालक कृष्णकी तोतली बोली सुनकर माता यशोदा हर्षित हो जाती हैं।'[2] **'सुदामा-चरित'**में 'सख्य-भाव' की अभिव्यक्ति हुई है किन्तु काव्यकी दृष्टिसे यह महत्त्वपूर्ण रचना नहीं है। **'गोबरधन-लीला'**में 'भय' और 'आश्चर्य' भावोंकी अभिव्यक्ति कथा-प्रसंगके अनुरोधसे ही हुई है। **'भागवत भाषा दशम स्कन्ध'**में 'धेनुक-मर्दन', 'काली-दमन' 'दावानल-पान', 'गोवर्द्धन-धारण' आदि लीलाओंमें 'भय', 'आश्चर्य', 'क्रोध' आदि भावोंकी व्यञ्जना हुई है किन्तु यह ग्रन्थ भी इतिवृत्तात्मक है और इन लीलाओंको कवि चलताऊ ढंगसे वर्णित करता गया है। अतः यह निर्विवाद रूपसे कहा जा सकता है कि भावनाओंकी दृष्टि नन्ददासजी केवल प्रेम-भावनाके कवि हैं।

---

१. 'भ्रमरगीतसार'की भूमिका, पृष्ठ ७।

२. जननि वचन सुनि तुरत उठे हरि कहत बात तुतरानी।
'नन्ददास' प्रभु मैं बलिहारी जसुमति मन हरषानी॥
—पदावली, पद, ३१, ग्रं०, पृष्ठ ३३७।

नन्ददासका सौन्दर्य-अंकन

प्रेम-वर्णनके बाद यदि किसी विषयमें कविकी रुचि अधिक रमी है तो वह है 'सौन्दर्यांकन'। 'कृष्ण', 'शुकदेव','राधा','रुक्मिणी','रूपमञ्जरी', 'गोपी' आदिके रूप-वर्णनमें कविने पर्याप्त ध्यान दिया है। यह रूप-वर्णन 'नखशिख' परम्पराके अनुसार ही किया गया है। कविने क्रमशः मुख, अलक, भाल, नैन, नासिका, अधर, मसि, गण्ड-मण्डल, मुसकान, कण्ठ, उर, उदर, नाभि, त्रिबली, जानु, बाहु, आदि अंगोंका आलंकारिक वर्णन किया है। शुकदेव और कृष्णका रूप-वर्णन इसी पद्धतिपर किया गया है। नारी-रूप वर्णनमें अंगोंके साथ उनके सौन्दर्य-वृद्धिमें सहायक अलंकारोंका भी उल्लेख है। 'रूपमञ्जरी' के सौन्दर्यांकनमें कविने स्फुट अंगोंके सौन्दर्य-चित्रणके साथ ही शरीरकी पूरी आभाको दृष्टिमें रखकर उसके विभिन्न छाया-बिम्बोंका उल्लेख भी किया है। 'रूपमञ्जरी'की छबिमें द्युति, लावण्य, रूप, माधुर्य, कान्ति, रमणीयता, सौन्दर्य, मृदुता, सुकुमारता सभी कुछ एकत्रित हो गया है। कविने इन छाया-बिम्बोंकी व्याख्या भी की है। शरद-चन्द्रमासे विकीर्ण होनेवाली शुभ्र झलमलाहटके सदृश ही स्त्रीके शरीरसे जो आभा फूट पड़ती है वही द्युति है। मुक्ताफलके पानीकी झाईके सदृश ही ललनाके तनसे प्रकट होनेवाली लुनाई ही लावण्य है। भूषणोंके अभावमें नारीके अंगोंका सहज सौन्दर्य ही रूप है। नारी-सौन्दर्यमें वह कुछ जिसे देखते हुए तृप्ति नहीं होती वही माधुर्य है। बार-बार देखनेपर भी जो अनदेखी-सी प्रतीत होती है वही रमणीयता है। सब अंगोंकी सामञ्जस्यमयी सन्तुलित शोभा ही सौन्दर्य है। जिसे बार-बार स्पर्श करनेपर भी मनमें यह भावना बनी ही रहे कि अभी तो कुछ भी स्पर्श नहीं किया है, वही प्रमदाके तनकी मृदुता है। अमल-कमल-दलोंकी शय्यापर सोनेमें भी जो स्त्री नाक भौं चढ़ावे उसे सुकुमार कहना उचित है। रूपमञ्जरीका सौन्दर्य इन सभी गुणोंसे समन्वित होकर अनुपम हो गया है।

कविने गतिशील सौन्दर्यका अंकन भी किया है। गोपियाँ कृष्णसे मिलनेकी आतुरतामें सघन बनके बीचसे चली जा रही हैं। उनके श्रवणोंमें कुण्डल झलक रहे हैं। उनके नेत्र चपल किन्तु शंकित हैं। उनकी अलकें विलुलित होकर ललित

छवि विकीर्ण कर रही हैं। गमन करती हुई सखियाँ कभी झलक जाती हैं कभी ओझल हो जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो मेघ-वनमें रह-रहकर बिजली कौंध जाती हो। चित्र देखिये—

चलत अधिक छवि फबी स्रवनमें कुण्डल झलकैं।
संकित लोचन चपल ललित छवि विलुलित अलकैं॥
कहुँ दिखियत कहुँ नाहिं सखी बन बीच बनीयौं।
बिजुरिनकी-सी छटा सघन बन माझ चली ज्यौं॥[1]

कृष्णके रूप-वर्णनमें कविने विविध अवस्थाओं—बाल, किशोर, युवा—और विविध स्थितियों—खिड़कीपर खड़े होनेकी स्थिति, गायको खिलानेकी स्थिति, सायंकाल बनसे लौटनेकी स्थिति, झूला-झूलनेकी स्थिति, होरी खेलनेकी स्थिति, रास-रचानेकी स्थिति, गोवर्द्धन-धारण करनेकी स्थिति, कालीनागके फनपर नृत्य करनेकी स्थिति—आदि—के सौन्दर्यको उपस्थित करनेकी चेष्टा की है। इस प्रकार इन रूप-चित्रोंमें विविधता आगई है। कहीं तो ये चित्र अपनी मृदुता सुकुमारता और कमनीयतामें अनुपम हैं और कहीं इनमें ओजस्विता और परुषताका सौन्दर्य साकार हो गया है। अवस्था और स्थिति-भेदके साथ कृष्णके वेश-विन्यासमें अन्तर पड़ता गया है और उनके रूपके प्रभावमें भी परिवर्तन होता गया है। कृष्णका बाल-रूप देखकर ठगौरी-सी लग जाती है। किशोरावस्था-का रूप देखकर भवन-गमन भूल जाता है, रात्रि और भोरका ध्यान नहीं रहता और चकचौंधी-सी लग जाती है। गोप-सभा रूपी सरोवरमें पुष्पित युवा कृष्णके रूप-कमलमें मधुसिक्त होनेके लिये गोपियोंके दृग-अलि आकुल हो उठते हैं। इसी प्रकार नारी-सौन्दर्य-अंकनमें भी चित्रोंको विविध अवस्थाओंके अनुकूल बनाया गया है। वयःसन्धिकी स्थितिमें रूप-मञ्जरीके नेत्रोंमें लज्जा है। उसके अंकुरित कुच अञ्चलमें पूर्णतः नहीं छिप पाते। उसके उरोज अभी उल्लसित नहीं हैं परन्तु उनके बीच मोतियोंकी माला शोभित है। उसके कान काम-कथामें रस लेने लगे हैं। वयःसन्धिकी स्थितिमें बालाका रूप क्या है मानो दीपककी

---

१. 'रासपञ्चाध्यायी'—ग्रं०, पृष्ठ २६।
२. 'रूप-मञ्जरी'—ग्रं०, पृष्ठ १२१।

ज्योति है जिसमें नर-नारियोंके पतंग रूपी नेत्र बार-बार उड़-उड़ कर गिर पड़ते हैं।[1] इस चित्रमें नवीनताका आकर्षण है किन्तु इसके विपरीत सद्यःविरहिणी राधाका मलीन रूप चित्र देखिये—

जनु घन तें विछुरी विजुरी, मानिनि-मन-काछे।
किधौं चंद सौं रूसि चंद्रिका रहि गई पाछे॥[2]

इन रूप-चित्रोंकी एक बड़ी विशेषता यह है कि कविने वर्ण्य-विशेषके लिये उत्प्रेक्षाके आधारपर सादृश्यमूलक उपमान ग्रहण करते समय अद्‌भुत कल्पना शक्तिका परिचय दिया है। प्रस्तुतके समानान्तर कल्पना-ग्रहीत अप्रस्तुत रूप-विधान इतना उचित सजीव और हृदयग्राही हुआ है कि पूरा चित्र अनुपम आभासे मण्डित होकर जगमगा उठा है। दो-एक उदाहरण अप्रासंगिक न होंगे। प्रियतम कृष्णकी भुजाओंसे कोई नवयुवती गोपिका लिपट गई है, ऐसा प्रतीत होता है मानो शृंगारके वृक्षमें छविकी वेलि लिपट गई हो।[3] गोपियोंके चञ्चल दृगञ्चल अञ्चलकी ओटमें इस प्रकार झलक रहे हैं, मानो स्वर्णकमलकी जालमें खंजन उलझ गये हों।[4] यमुना-जल में विहार करती हुई गोपियाँ कभी-कभी जलके भीतर-भीतर 'ढुरि-मुरि' कर कलोल करती हैं, ऐसा लगता है नवीन मेघ-मण्डलके बीच दामिनी दमकती हुई डोल रही हो।[5] इस प्रकारके अनेक उदाहरण नन्ददासकी कृतियोंमें पाये जा सकते हैं।

क्षण-क्षण नूतनता, भारतीय काव्य-परम्परामें, रूपकी रमणीयताका आधार

---

[1] 'रूपमंजरी'—ग्रं० पृष्ठ १२१।

[2] 'रास पञ्चाध्यायी'—ग्रं० पृष्ठ १७।

[3] कोउ पिय भुज लिपटाय रहीं नव नारि नवेली।
जनु सुन्दर सिंगार विटप लपटी छवि वली॥
× × —रासपंचाध्यायी, ग्रं०, पृ० ३०।

[4] रुचिर दृगंचल चंचल अंचल मैं झलकत अस।
सरस कनक के कंजन खंजन जाल परत जस॥
× × —वही, पृष्ठ ३५।

[5] जमुना जल में 'ढुरि-मुरि' कामिनि करत कलोलैं।
जनु नव-घन के मध्य दामिनि दमकति डोले॥
—रासपञ्चाध्यायी, सं० डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० १२९।

माना गया है। राधा और कृष्णके सौंदर्यांकनमें इस प्रकारकी अनुभूतिका उल्लेख नन्ददासजीने भी किया है। वे—"छिनु छिनु बाढ़ै छवि, कैसे कहैं कोउ कवि" कहकर राधा और कृष्णके प्रत्येक अंगमें 'झिलमिलाती हुई झाई' के वर्णनमें अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं।[1]

इस प्रकार नन्ददासजीके रूप-चित्रोंपर विचार करनेसे यह भलीभाँति प्रकट है कि वे भारतीय काव्य-परम्पराके अन्तर्गत रूप-वर्णनकी समस्त प्रणालियोंसे भलीभाँति परिचित हैं। उनके सौन्दर्यांकनमें विविधता है। उन्होंने स्थिर और गतिशील दोनों प्रकारके चित्रोंको उपस्थित किया है। रूप-वर्णनके लिए अप्रस्तुत दृश्य-विधान करनेमें वे अद्वितीय हैं। सौन्दर्य-वर्णनमें उन्होंने प्रायः 'नख-शिख' परम्पराका ही पालन किया है। सौंदर्यके कोमल कमनीय और सुकुमार चित्रोंमें उनका मन अधिक रमा है। परिस्थितिके अनुरोधसे उन्होंने परुष-रूप-चित्र भी प्रस्तुत किये हैं। राधा-कृष्ण का सौन्दर्य नित्य नवीन और विकसित होनेवाला है। अतः कवि बार-बार प्रयत्न करनेपर भी उसकी रमणीयताको ग्रहण करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है।

वस्तुवर्णन—नन्ददासजीकी कृतियोंमें वस्तुवर्णनका अभाव नहीं है। '**रूपमञ्जरी**'में उन्होंने 'निर्भयपुर' का वर्णन किया है। '**रुक्मिणी-मंगल**'में 'द्वारिका नगरी'का वर्णन किया गया है। 'रासपञ्चाध्यायी'में 'वृन्दावन' और 'शरदरजनी'-का वर्णन किया गया है। '**विरहमञ्जरी**' में 'बारहमासा' और '**रूपमञ्जरी में** षट्ऋतु-वर्णन कवि-परम्परा के अनुसार प्रासंगिक रूपमें हुआ है। इस प्रकार नन्ददासजीने वस्तुवर्णनके अन्तर्गत मुख्यतः नगर और प्रकृतिका वर्णन किया है।

नगर-वर्णन, कविने सादृश्यमूलक अलंकारोंके आधारपर अतिशयोक्तिपूर्ण ढंगसे किया है किन्तु कथाकी सीमाओंका ध्यान रखकर अधिक विस्तार नहीं दिया है। नगरवर्णनके अन्तर्गत उपवन, सरोवर, अट्टालिका, भवनोंके ऊपरकी पताकाओं, सिंह-पौरि, धौरहर आदिका ही उल्लेख किया है।

प्रकृति-वर्णन भी कवि-परम्पराके अनुसार उद्दीपन रूपमें ही हुआ है। सर्वा-

---

[1] नन्ददास ग्रं०, पृष्ठ ३७७।

धिक मोहक वर्णन 'शरद-रजनी' का है। रँगीली शरदके आगमनसे वृन्दावनका सौन्दर्य बढ़ गया है। शरद-रजनीके मुख (चन्द्रमा) को देखकर ललित-मालती मुकुलित हो गई है जैसे गुणवती बाला नवयौवन प्राप्तकर कमनीय हो उठती है। अनेक नवीन पुष्पोंके विकसित हो जानेसे ऐसा प्रतीत होता है मानो छबीली शरद-रात्रि हँसती हुई आ गई हो। इसी समय चन्द्रमाका बिम्ब आकाशमें ऊपर उठ आता है। लगता है प्रियाका मुख है जिसे प्रियने कुमकुमसे मण्डित कर दिया है। चन्द्रमाकी कोमल किरणोंकी अरुणिमा बनमें व्याप्त हो रही है, लगता है कामदेवने फाग खेला है इसीसे गुलालकी लालिमा चारों ओर फैल गई है। कुञ्ज-रन्ध्रों से छनकर स्फटिकके समान शुभ्र ज्योत्सना विकीर्ण हो रही है, मानो सुन्दर बितान तन गया हो। चन्द्रमाको 'रस-रास-सहायक' कहकर कविने इस सम्पूर्ण प्रकृति-सौन्दर्यके उद्दीपन रूपको ही महत्व दिया है।

'वृन्दावन-वर्णन' में कविने प्रकृतिकी नैसर्गिक शोभाका बिम्ब तो कम उपस्थित किया है उसकी महिमाका गान अधिक किया है। वृन्दावनके 'खग, मृग, कुंज, लता, वीरुध, तृन' सभी सतत शोभायुक्त रहते हैं। उसमें निवास करनेवाले जीवोंमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है। वे काम-क्रोध-मद-लोभ-से रहित हैं। वहाँ नित्य वसन्त-श्री व्याप्त रहती है। त्रिभुवनके समस्त काननोंका सौंदर्य वहाँ एक साथ ही बिखरा हुआ है। वहाँके सभी तरु, कल्पतरुके समान हैं; भूमि, चिन्तामणिके समान है। इस प्रकारकी दिव्य विभूतियोंसे युक्त वृन्दावन चैतन्य स्वरूप ही है। केवल कृष्णकी ललित लीलाकी आधारभूमि बननेके लिये उसने जड़ता धारण कर ली है।

नन्ददासजीके प्रकृति-वर्णनकी तीन प्रमुख विशेषताएँ लक्ष्य की जा सकती हैं एक तो उनके वर्णनको कलात्मकता प्रदान करनेवाले सादृश्यमूलक अलंकार हैं। ऐसा कदाचित् ही कोई दृश्य हो जिसके लिये कविने अप्रस्तुत विधान न किया हो। दूसरे, कविकी दृष्टिमें प्रकृति प्रभुकी नित्यलीलाकी आधारभूमि होनेके कारण उसका एक अभिन्न अंग है। वह लीलाके मूलमें निहित आनन्द और आह्लादकी भावनाको उद्दीप्त करनेमें सहायकका कार्य करती है। तीसरे वह चेतन ब्रह्मका ही अविकृत परिणाम होनेके कारण स्वयं भी तात्विक रूपसे चेतन ही है।

अभिव्यक्ति-सौन्दर्य (कला-पक्ष)—नन्ददासकी रचनाओंमें भाव और कलाका अद्भुत समन्वय हुआ है। यद्यपि कविकी सभी रचनाओंमें कलात्मक सौष्ठव नहीं मिलता किन्तु जिन दो एक कृतियोंमें इसका उत्कर्ष हुआ है उन्हें सरलतापूर्वक व्रजभाषाकी श्रेष्ठ कृतियोंमें स्थान मिल सकता है। कविकी सर्वोत्कृष्ट रचना 'रासपञ्चाध्यायी' है। इस ग्रन्थमें भावोंको व्यक्त करनेमें कविने उच्चतम कलात्मकताका परिचय दिया है। अभिव्यक्तिको सुन्दर बनानेके लिये कविगण 'रीति' 'गुण', 'अलंकार' 'वक्रोक्ति' तथा शब्द-शक्तिके विविध रूपोंका आधार लेते हैं। काव्यमें मूलवस्तु अनुभूति है। अनुभूत तत्वका व्यक्त करनेमें उसके स्वरूपके अनुसार अभिव्यक्तिकी जो विशिष्ट प्रणाली ग्रहण करनी पड़ती है वही 'रीति' है। नन्ददासजीका अनुभूत विषय 'प्रेम' है। प्रेम विश्वव्यापक होनेपर भी बड़ा ही मधुर, सलज्ज और सुकुमार पदार्थ है। इसलिये नन्ददासजीने उसकी अभिव्यक्तिमें 'पाञ्चाली रीति' का प्रयोग किया है। क्योंकि—"मधुरां सुकुमाराञ्च पाञ्चालीम् कवयो विदुः"। 'गुण', रीतिको प्रशस्त करते हैं। इसलिये नन्ददासजीने 'माधुर्य' और 'प्रसाद' गुणोंको ही ग्रहण किया है। रासपञ्चाध्यायीमें तो सर्वत्र इनकी स्थिति देखी जा सकती है। अनुभूतिको व्यक्त करनेमें भाषागत शब्द-विधान ही प्रधान साधन है। शब्द-विधानको 'सुष्ठु' 'प्रभावोत्पादक' 'रमणीय' और 'आकर्षक' बनानेके लिये अनेक प्रकारके चमत्कारवर्द्धक प्रयोगोंका आधार लेना पड़ता है। यही अलंकार हैं। नन्ददासजीने अनुभूतिको उत्कर्ष देनेके लिये ही अलंकारोंका प्रयोग किया है। प्रस्तुत विषय (अनुभूत तत्त्व) को प्रभावोत्पादक बनानेके लिये उसके समानान्तर रूप, गुण, धर्म, प्रभाव आदिकी समताके आधारपर अप्रस्तुत-विधान करना पड़ता है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, भ्रम, सन्देह आदि अलंकार साम्यमूलक अप्रस्तुत विधानपर ही आधृत हैं। नन्ददासजीने उपर्युक्त अलंकारोंका प्रयोग ही अधिक किया है। उनका सर्वप्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा है। कहीं-कहीं 'प्रतीप', 'दृष्टान्त', 'अतिशयोक्ति', 'असंगति', 'विभावना' आदि अलंकार भी प्रयुक्त हुए हैं। इन अलंकारोंका प्रयोग कोरी कलाबाजीके लिये नहीं किया गया है। उचित स्थानपर प्रयुक्त होनेके कारण इनसे वर्ण्य वस्तुके सौन्दर्यमें वृद्धि हुई है। उदाहरणके लिये कुछ अलंकारोंका उदाहरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

उत्प्रेक्षा—सुन्दर पियका बदन निरखि को सो जु न भूल्यौ ।
रूप सरोवर माँहि सरद अंबुज जनु फूल्यो ॥

—रासपञ्चाध्यायी

× × ×

नव मर्कत-मनि स्याम कनक-मनिगन व्रज बाला ।
वृन्दाबन कों रीझि मनहुँ पहिराई माला ।

—रासपञ्चाध्यायी

रूपक—तिय-तन-सर बालापन पानी । जोबन-तरनि-किरनि अधिकानी ।

—रूपमञ्जरी

उपमा—सुनि उमगीं अनुराग भरी सावन-सरिता-जस ।

—सिद्धान्तपञ्चाध्यायी

प्रतीप—मृगज लजे खंजन लजे, कंज लजे छवि छीन ।
दृगन देखि दुख दीन है, मीन भये जल लीन ॥

—रूपमञ्जरी

सामान्यतः कविने परम्परागत उपमानोंका ही प्रयोग किया है किन्तु वर्ण्य-वस्तुको ध्यानमें रखकर उनकी योजना इतने सुन्दर ढंगसे की है कि सारा वर्णन अनुपम कान्तिसे मण्डित हो गया है। उसकी उत्प्रेक्षाएँ बेजोड़ हैं। उपर्युक्त प्रथम उत्प्रेक्षापर विचार कीजिये। कवि कृष्णका सौन्दर्य चित्रित करना चाहता है, यों तो प्रियके पूरे शरीरमें रूपकी आभा है किन्तु उसमें उद्भासित मुखमण्डलकी द्युति ऐसी है मानो सरोवरमें शरदकालीन कमलपुष्प उत्फुल्ल हो रहा हो। उत्प्रेक्षाका दूसरा उदाहरण कविकी अद्भुत कल्पना-शक्तिका परिचायक है। मण्डलाकार नृत्य हो रहा है। चारों ओर स्वर्ण-सी कान्ति विखेरती हुई गोपियाँ मणिखचित स्वर्णमाला-सी प्रतीत हो रही हैं। उनके बीचमें श्यामवर्ण कृष्ण नीलमणिकी-सी आभा विकीर्ण कर रहे हैं। कवि कल्पना करता है कि कनक मणिगणके बीच मरकत मणि डालकर निर्मित यह माला वृन्दावनके अद्भुत सौन्दर्यपर रीझकर उसे पहना दी गई है। इस प्रकारकी उत्प्रेक्षाएँ 'रासपञ्चाध्यायी' में अनेक हैं। अन्य अलंकारोंका प्रयोग भी काव्य-सौन्दर्यकी वृद्धिमें सहायता पहुँचानेके लिये ही

किया गया है किन्तु यह निःसंकोच भाव कहा जा सकता है कि नन्ददासजीकी कालात्मकताका श्रेय उनकी उत्प्रेक्षाओंको ही है। भ्रमरगीतमें कविकी उक्ति-वक्रता देखते बनती है। गोपियोंने बड़े ही सहज ढंगसे वक्र उक्तियाँ कही हैं। उनके तर्क सीधे किन्तु प्रभावक हैं। वे कहती हैं—

जो मुख नाहिंन हुतो कहौ किन माखन खायौ ?
पायन बिन गो संग कहौ को बन-बन धायौ ?

भला उद्धव इसका क्या उत्तर देते ? कुब्जा और कृष्णके सम्बन्धको लेकर उन्होंने बड़ा ही चुभता हुआ व्यंग्य किया है। कृष्ण त्रिभंगी लाल हैं। भला गोकुलमें उनकी जोड़ी कहाँ मिलती ? मथुरामें उन्हें अपने रूप-गुण-शीलके अनुरूप अच्छी जोड़ी मिल गई है—

गोकुल में जोरी कोऊ पावत नाहिं मुरारि।
मनो त्रिभंगी आपु हैं करी त्रिभंगी नारि॥

इस प्रकार नन्ददासजीने 'पाञ्चाली रीति'की सुकुमारता, 'माधुर्य और प्रसाद' गुणोंकी प्राञ्जलता, 'साम्यमूलक अलंकारों'की चमत्कारिता, और सहज तर्क-व्यंग्य प्रधान 'वक्र उक्तियों'की मार्मिकताके आधारपर अपनी रचनाओंमें कलात्मकता लानेकी चेष्टा की है।

भाषा और शैली—नन्ददासजीकी सभी रचनाएँ व्रज भाषामें ही लिखी गई हैं। व्रजभाषापर उनका पूर्ण अधिकार है। व्रज भाषाके साथ ही कहीं-कहीं पूर्वी हिन्दीके प्रयोग भी मिल जाते हैं। उसमें अरबी, फारसीके भी शब्द कहीं-कहीं प्रयुक्त हुये हैं। ऐसा मध्ययुगके प्रायः सभी कवियोंने किया है। उनकी कृतियोंमें कहावतों, मुहावरों और लाक्षणिक प्रयोगोंकी भी कमी नहीं है। उनकी काव्य-भाषाके पूरे स्वरूपपर ध्यान दिया जाय तो उसके तीन रूप लक्ष्य किये जा सकते हैं। (क) स्तुतियोंकी संस्कृत गर्भित भाषा (ख) गतिशील चित्रोंकी नाद सौन्दर्य-युक्त प्रवाहमयी भाषा (ग) व्रजके घरेलू शब्दोंसे युक्त सरस मधुर भाषा। श्री गुरु विट्ठलनाथकी स्तुतियोंमें कविने संस्कृत गर्भित भाषाका प्रयोग किया है—

जयति रुक्मिनी नाथ, पद्मावति पति, विप्रकुल-छत्र आनन्दकारी।
दीप वल्लभ बंस, जगत निस्तार करन, कोटि उडुराज सम ताप हारी।

मुक्तिकांछीय जन भक्तिदायक प्रभू सकल सामर्थ गुन गनन भारी।
जयति पति भक्त-जन, पतित-पावन करन, कामिजन कामना पूर्नचारी।

इस प्रकारके छन्दोंमें संस्कृतकी पदावलीका प्रयोग करते हुये भी कविने शब्दोंका उच्चारण प्रायः व्रज भाषाके अनुकूल ही रखा है। 'क्षत्र'के स्थानपर 'छत्र', 'वंश'के स्थानपर 'बंस', 'कांक्षी'के स्थानपर 'कांछी', 'पूर्ण'के स्थानपर 'पूर्न' प्रयोग इसी नियमके अनुसार हुये हैं।

गतिशील चित्रोंकी भाषामें अद्भुत प्रवाह, शब्द-चयन, प्राञ्जलता, नाद-सौन्दर्य, सजीवता एवं चित्रण-क्षमता है। 'रास-नृत्य'का पूरा चित्र इसी प्रकारकी भाषामें उपस्थित किया गया है—

साँवरे पिय सँग निरतत चंचल व्रज की बाला।
मनु घन-मंडल खेलत मंजुल चपला माला॥
चंचल रूप लतनि सँग डोलति जनु अलि-सैनी।
छबिली तियनके पाछें आछें बिलुलित बेनी॥
मोहन पियकी मलकनि ढलकनि मोर मुकुट की।
सदा बसौ मन मेरे फरकनि पियरे पट की॥

एक अन्य चित्र देखिये—

देखो री नागर नट निरतत कलिंदी-तट गोपिनके मध्य राजै मुखकी लटक।
काछनी किंकनी कटि पीताम्बरकी चटक (मटक) कुंडल-किरन रवि-रथकी अटक॥
तत थेई तत थेई सबद सकल घट उरप तिरप मानो पदकी पटक।
रास मध्य रावे रावे मुरलीमें येई रट 'नंददास' गावै तहाँ निपट निकट॥

इन चित्रोंको देखकर यही प्रतीत होता है कि सचमुच कवि कहीं समीपसे ही पूरी रासलीला देख रहा था और अब वह उन अनुभूत चित्रोंके कल्पनात्मक बिम्बोंकी मानसी छायाको ही व्यक्त कर रहा है।

व्रज-बोलीके घरेलू शब्दोंसे युक्त होकर कहीं-कहीं नन्ददासजीकी काव्य-भाषा बड़ी ही मधुर हो गई है। 'बीर', 'लरिका', 'पूत', 'रुख', 'रूसि' आदि शब्द

ब्रज-बोलीके घरेलू शब्द हैं।[1] इन शब्दोंका प्रयोग कविने भाषाको जीवनके निकट लानेके लिये किया है—

'अरी बीर। चलि जाउ कहौ इहि विनती मेरी'
जो जीवैगी कुँवरि, बीर मैं, करिहौं तेरी॥'
—स्यामसगाई, ग्रं०, पृ० १९७

× × ×

'नँद-टोटा लंगरमहा, दधि माखन कौ चोर।
कहत सुनत लज्जा नहीं करत और ही और कि लरिका अचपलौं'
—स्यामसगाई, ग्रं०, पृ० १९५

× × ×

'किधौं चंद सों रूसि चन्द्रिका रहि गई पाछे'
—रासपञ्चाध्यायी, ग्रं०, पृ० १७

नन्ददासजीके सभी ग्रन्थोंकी भाषामें समान सौष्ठव नहीं है। **'गोवर्द्धनलीला'**, **'सुदामाचरित'**, **'भाषा दशम स्कन्ध'**, **'विरहमञ्जरी'**, **'रसमञ्जरी'** आदि ग्रन्थोंमें भाषाका प्राञ्जल प्रवाहमय प्रौढ़ रूप नहीं मिलता। **'स्याम सगाई'**की भाषामें सरलता, मार्दव, और घरेलूपन अधिक है। **'भ्रमरगीत'**की भाषामें तर्कशक्ति, संगीत, और प्रवाह सभी कुछ मिलता है। पदोंकी भाषामें संगीत तत्त्वका प्राधान्य है। **'सिद्धान्तपञ्चाध्यायी'** और **'रासपञ्चाध्यायी'** की भाषाका एक-एक शब्द अपने स्थानपर जड़ा हुआ है। प्रवाह, अलंकृति, संगीतात्मकता, मधुरता, प्राञ्जलता और प्रौढ़ता सभी दृष्टियोंसे इन कृतियोंकी भाषा श्रेष्ठ है।

शैली—नन्ददासजीकी सभी कृतियोंको लेकर देखा जाय तो उनमें कुल चार प्रकारकी शैलियाँ मिलती हैं। प्रबन्धशैली, गीतिमुक्तक शैली, लक्षण-लक्ष्य निरूपक मुक्तक शैली और कोष-शैली। अधिकांश रचनाएँ प्रबन्धशैलीमें हैं। 'सुदामाचरित' और 'गोवर्धन लीला' चौपाई छन्दमें लिखे गये लघु आख्यानक प्रबन्ध हैं। 'अनेकार्थमंजरी' और 'मानमंजरी' (नाममाला) दोहा छन्दमें लिखी हुई कोश-शैलीकी रचनाएँ हैं। 'मानमंजरी' के अन्तर्गत राधाके मानकी

---

[1] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ८७९।

सांकेतिक कहानी भी चलती रहती है। अतः इसमें एक प्रकारकी प्रबन्धात्मकता भी आ गई है। 'विरहमंजरी' और 'रूपमंजरी' दोहा-चौपाई छन्दोंमें विरचित आख्यानक प्रबन्ध है। 'रूपमंजरी' भारतीय पद्धतिकी प्रेमकथा है। 'विरहमंजरी' एक प्रकारका दूत-काव्य है। इसमें चन्द्रमाको दूत बनाकर विरहिणी व्रज-बालाने प्रियतम (कृष्ण) के पास भेजा है। 'रसमंजरी' नायिकाभेदका ग्रन्थ है। इसमें भी दोहा-चौपाई छन्दोंका प्रयोग किया गया है। इसे लक्षण-लक्ष्य-निरूपक मुक्तक शैलीकी रचना कह सकते हैं। 'भाषा दशम स्कन्ध' की रचना भी प्रबन्ध-शैलीमें हुई है। इसमें भी दोहा-चौपाईका ही प्रयोग किया गया है। इसमें भागवतके आधारपर अनेक प्रासंगिक आख्यानोंको निबद्ध किया गया है। 'रुक्मिणी मंगल' रोला छन्दमें लिखित प्रबन्धात्मक रचना है। 'रासपञ्चाध्यायी' और 'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी' भी प्रबन्धशैलीमें ही लिखी गई हैं। वैसे इनकी कथात्मक सरसता देखते हुये यही कहना पड़ता है कि मिलन-विरहकी मधुचर्यासे भरे हुए ये आख्यान सर्वथा गीतिमुक्तकोचित हैं। 'श्यामसगाई' एक लघु प्रबन्ध है। इसमें रोला-दोहाके साथ अन्तमें दस मात्राकी टेक लगाकर संगीतात्मकताका भी समावेश कर दिया गया है। 'भ्रमरगीत' की रचना संवाद-शैलीमें हुई है किन्तु यह सम्वाद किसी बृहत् आख्यानका अंग न होकर स्फुट उक्तियोंपर आधृत है। अतः इसे मुक्तक काव्य ही कहा जायगा। इसमें भी रोला दोहाके साथ दस मात्राकी टेक प्रयुक्त हुई है। इन सुनियोजित रचनाओंके अतिरिक्त नन्ददासजीके अनेक स्फुट पद हैं जिनकी रचना नित्य कीर्तनके लिये की गई है। ये सभी पद (जिनकी संख्या २०० के लगभग है) गीति-मुक्तक शैलीमें लिखे गए हैं। नन्ददासजीका प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकारकी काव्य-शैलियोंपर अच्छा अधिकार था, इसमें सन्देह नहीं।

नन्ददासजीके विषयमें नाभादासकी उक्ति—

लीलापद रस रीति ग्रन्थ रचनामें नागर।
सरस उक्ति रस जुक्ति, भक्ति रस ज्ञान उजागर॥
प्रचुर पयधि लौं सुजसु रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सुकुल सवलित, भक्त-पद-रेनु-उपासी॥

चन्द्रहास अग्रज सुहृद, परम प्रेम पथमें पगे ।
श्री नन्ददास आनन्द निधि रसिक सुप्रभुहित रँगमँगे ॥

पठनीय सामग्री

अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १–२	डॉ० दीनदयालु गुप्त
अष्टछाप परिचय	श्री प्रभुदयाल मीतल
नन्ददास ग्रन्थावली	श्री व्रजरत्नदास
रास पञ्चाध्यायी	सं० डॉ० उदयनारायण तिवारी
नन्ददास, प्र० भाग; द्वि० भाग	सं० श्री उमाशंकर शुक्ल
हिन्दी-साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास	डॉ० रामकुमार वर्मा
श्री राधा-माधव-चिन्तन	श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार

तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदासजी हिन्दी काव्याकाशके उज्ज्वलतम नक्षत्रके रूपमें मान्य हैं। मध्ययुगमें भारतीय संस्कृतिके उदात्त रूपको उसकी समग्रतामें व्यक्त करनेवाले ये अकेले महात्मा हैं। आपकी रचनाओंमें भारतीय जीवन-मर्यादाका उत्कृष्टतम रूप साकार हुआ है। अध्यात्म, दर्शन, धर्म, नीति, लोक-मर्यादा, काव्य-रीति आदि मानव-चेतनाके विविध रूपोंका समन्वित उत्कर्ष आपकी काव्य-साधनाकी प्रमुख विशेषता है। आपकी कृतियोंका अध्ययन भारतीय जनताके मस्तिष्क, हृदय और प्राणोंका अध्ययन है। जन-जीवनपर इतना व्यापक प्रभाव किसी अन्य कवि, भक्त या महात्माका नहीं है। आचार्य शुक्ल जैसे विवेकशील द्रष्टाने 'काव्यके प्रत्येक क्षेत्र में इन्हें उस स्थानपर देखा, जिस स्थान पर उस क्षेत्रका सबसे बड़ा कवि है।'[१] ऐसे महिमामय व्यक्तित्वकी सृजनात्मक प्रतिभाके शुभ्र प्रकाशमें अपनी लघुमतिको विमल कर लेनेका लोभ भला कौन संवरण कर सकता है! अस्तु—

तुलसीदासके दार्शनिक सिद्धान्त

तुलसीदासजी तर्कके बलपर जीवन और जगत्के सत्यका उद्घाटन करनेवाले आचार्य या पण्डित नहीं थे। उन्हें तो कलि-मलका शमन करना था। इसके लिए विधि-निषेध-मय रामकथाका गान ही उनका लक्ष्य था। वे जानते थे कि कोरा पाण्डित्य वाक्य-ज्ञान मात्र है, इसमें अत्यन्त निपुण होनेपर भी संसार-सागरको पार नहीं किया जा सकता।[२] 'भव तरनेके लिए' दास्य-रति (सेवक-सेव्य-भाव) ही एक मात्र श्रेष्ठ साधन है।[३] किन्तु रति या प्रीतिका आधार

---

[१] तुलसी ग्रन्थावली, तीसरा खण्ड, प्रस्तावना, पृष्ठ २४०।

[२] 'वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।'

—विनयपत्रिका, पद १२३, ग्रंथ पृष्ठ ५१९।

[३] 'सेवक-सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।'

—मानस।

प्रतीति (विश्वास) है और प्रतीति, पूरी जानकारी (ज्ञान) के अभावमें स्थायी नहीं हो सकती। इसीलिए रामसे प्रीति करनेके पहले उन्होंने 'राम-तत्त्व' को समझा था। उनकी कृतियोंमें उनके दार्शनिक सिद्धान्त भी बिखरे हुए मिलते हैं और उनके अध्ययनके आधारपर इन दार्शनिक मान्यताओंको स्पष्ट किया जा सकता है—

तुलसीदासजीके सिद्धान्तोंपर विचार करनेवाले विद्वानोंमें मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान् उन्हें शांकरमतानुयायी अद्वैतवादी मानते हैं और कुछ उन्हें रामानुजाचार्यानुयायी विशिष्टाद्वैतवादी समझते हैं। तीसरा मत कुछ इस प्रकार व्यक्त किया गया है—"परमार्थ दृष्टि से—शुद्ध ज्ञानकी दृष्टिसे—तो अद्वैत मत गोस्वामीजीको मान्य है, परन्तु भक्तिके व्यावहारिक सिद्धान्तके अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं।[1] इन विवादोंमें न पड़कर यदि तुलसीदासजीके कथनोंको तत्कालीन ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमिमें रखकर देखा जाय तो उनके सिद्धान्तोंको समझनेमें सरलता होगी। आठवीं शतीमें ही आचार्य शंकर अद्वैत-तत्त्वका निरूपण कर चुके थे। उनके अनुसार 'एक शुद्ध-बुद्ध नित्य मुक्त परब्रह्मके सिवा दूसरी कोई भी स्वतन्त्र और सत्य वस्तु नहीं है। दृष्टिगोचर भिन्नता मानवीय दृष्टिका भ्रम या मायाकी उपाधिसे होनेवाला आभास है'। शंकराचार्यने यह व्याख्या मूलतः बौद्धदर्शनके 'शून्यवाद'को आत्मसात् करनेके लिये की थी। शून्यवादियोंके अनुसार 'शून्य' ही परमार्थिक सत्य है। सत्ता दो ही प्रकारकी हो सकती है। भावात्मक (जो सतत रूपसे विद्यमान रहती है) और अभावात्मक (जो विद्यमान् नहीं रहती) परमार्थिक सत्य न तो भावात्मक है और न अभावात्मक। इसलिए वह 'शून्य' है। जगत्की सत्ता तो अज्ञानके कारण है। यह सांवृतिक (मायाजन्य) सत्ता है।[2] आचार्य शंकरने 'ब्रह्मवाद'की प्रतिष्ठा इसी आधारपर की है। उन्होंने जगत्को सांवृतिक सत्य ही माना। संवृतिके स्थानपर उन्होंने 'माया' शब्दका प्रयोग किया। 'शून्य'के स्थानपर उन्होंने 'ब्रह्म'की प्रतिष्ठा की। 'शून्य'में नास्तिकताकी गन्ध है। 'ब्रह्म' भावात्मक सत्ता है।

---

[1] तुलसी ग्रन्थावली, तीसरा भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ १४५। देखिये, आचार्य शुक्लका निबन्ध।

[2] भारतीय दर्शन, पृष्ठ २२०।

वास्तवमें वह 'शून्य'की ही आस्तिक दर्शनके अनुकूल की गई व्याख्या है। इस प्रकार आचार्य शंकरने बड़े कौशलसे नास्तिक दर्शनके स्थानपर वेदान्तमूलक आस्तिक दर्शनकी प्रतिष्ठा की। किन्तु यह व्याख्या बुद्धि-वैभवका परिणाम है। यह सत्यको शुद्ध ज्ञानके आधारपर निरूपित करनेकी चेष्टाका फल है। यह लोक-दृष्टिसे जीवन और जगत्के रहस्यको सुलझानेकी चेष्टाका परिणाम नहीं है। बौद्धोंने जगत्को दुःखमय माननेके कारण उसके अस्तित्वको ही सांवृतिक सिद्ध कर दिया था। बौद्धमत मूलतः निवृत्तिमूलक है। अतः उनके लिये यह व्याख्या ठीक ही थी। शांकरमत क्रमशः निवृत्तिकी ओर ले जाता है। पूर्ण ज्ञानकी अवस्थामें ही आचार्य शंकर जगत्की सत्ताका बाध मानते हैं। आचार्य शंकरके बाद दसवीं शतीमें तमिल प्रान्तमें भक्ति-भावनाका अभ्युदय हुआ। भक्ति-मार्ग लोक-कल्याण या जनसाधारणको शान्ति प्रदान करनेवाला मार्ग है। यह जनताका धर्म है। इसमें उपासक-उपास्य; भक्त-भगवान् या आश्रय-आलम्बन दोनोंको स्वीकार करके चलना पड़ता है। यह प्रवृत्तिमूलक धर्म है। जगत्की समस्याओंको झेलते हुए जीवमात्रको परमशान्ति कैसे प्राप्त हो? इसका उत्तर एकमात्र भक्ति-मार्ग ही देता है। भारत-भूमिमें वेद-विरोधी मत नहीं पनप सकते। इसीलिये समय-समयपर आचार्योंको अनेक धर्मोंकी वेद-मूलकता सिद्ध करनी पड़ी है। भक्ति-मार्गको भी वैष्णव आचार्योंने वेद-मूलक सिद्ध किया। इस प्रयत्नमें आचार्य शंकरके 'केवलाद्वैत' से उन्हें थोड़ा-बहुत अपनेको अलग करना पड़ा। इसीलिए आचार्य शंकरके परवर्ती भक्तों और आचार्योंने उनसे भिन्न मतोंकी स्थापना की। तुलसीदासजीका सारा प्रयत्न जीवनकी समस्याओंका सरलतम समाधान प्राप्त करना था। इसके लिये भक्ति ही श्रेष्ठ-साधन है। भक्ति-मार्ग सेवक-सेव्यके व्यावहारिक अन्तरको स्वीकार करके ही चलेगा। तुलसीदासजी भी तत्त्वतः द्वैत-बुद्धि या द्वैत-भावनाको स्वीकार नहीं करते। उन्होंने अनेक स्थलोंपर राम-भक्तिके विमल जलमें चित्तको प्रक्षालित करके 'द्वैत-जनित-संसृति-दुःख' को दूर करनेकी बात कही है।[१] 'द्वैत-रूप तमकूप' से उद्धार करनेके लिये भगवानसे प्रार्थना की है[२]।

---

[१] विनय पत्रिका, पद-संख्या १२४।

[२] विनय पत्रिका, पद-संख्या, ११३।

साधु-सेवाको 'द्वैत-भय' दूर करनेका साधन कहा है[1]। 'द्वैत-भावना' को घोर अज्ञानका परिणाम बताया है[2]। यही-नहीं वे जड़-चेतनके भेदको भी मृषा मानते हैं[3]। किन्तु अद्वैतकी स्थितितक मनके समस्त विकारोंको त्याग करके ही पहुँचा जा सकता है। मानसिक विकारोंका शमन एकमात्र भक्तिके आधारपर ही सम्भव है। जोग, जप, ज्ञान, विज्ञान, सबसे श्रेष्ठ सबसे सरल और सबसे सुगम मार्ग भक्तिका ही है।[4] सेवक और सेव्य या भक्त और भगवान्के व्यावहारिक भेदको स्वीकार करके चलनेवाला भक्तिमार्ग भी अन्ततः अद्वैतता की स्थितितक पहुँचा देता है।

संसारके दुःखोंसे त्राण पानेके लिये 'जीव' को भक्ति-मार्गका अनुसरण करना होगा। क्योंकि 'जीव' जड़ है। वह मायाके आधीन है।[5] जबसे वह हरिसे अलग हुआ है तभीसे उसने शरीरको ही अपना वास्तविक निवास मान लिया है।[6] तात्त्विक रूपमें जीव ईश्वरका अंश है। वह चेतन, असल, अविनाशी और सहजानन्द रूप है किन्तु माया-वश होनेके कारण ही उसे सांसारिक दुःख सहन करने पड़ते हैं। यदि सबमें एकरस ज्ञानका उदय हो जाय तो ईश्वर

---

१. विनय पत्रिका, पद संख्या, १३६।

२. क्रोधकि द्वैत-बुद्धि विनु, द्वैत कि विनु अग्यान
—मानस, उत्तरकाण्ड।

३. जड़ चेतनहिं ग्रन्थि पड़ि गई, यदपि मृषा छूटत कठिनई।
—मानस, उत्तरकाण्ड।

४. जोग जप ज्ञान विज्ञान तें अधिक अति,
अमल दृढ़ भगति दै परम सुख भरहुगे।
—विनय पत्रिका, पद २११।

५. हौं जड़ जीव, ईस रघुराया।
तुम माया पति, हौं बस माया॥
—विनय पत्रिका, पद १७७।

६. जिय जब तें हरि तें विलगान्यो, तब तें देह गेह निज जान्यो।
—विनय-पत्रिका, पद १३६।

७. ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी। —मानस।

और जीवमें किसी प्रकारका भेद न रह जाय।[१] यह भेद तो माया-जनित है। मायासे भ्रमित जीव न मायाको जानता है न अपनेको और न ईश्वरको ही।[२] हर्ष-विषाद, ज्ञान-अज्ञान आदि द्वन्द्वात्मक अनुभूतियाँ तथा अहंकार-अभिमान ये सब जीवके धर्म हैं[३]।

'मैं-मेरा तू-तेरा' यह भावना ही माया है।[४] अर्थात् 'अहंबुद्धि', 'ममबुद्धि' और 'भेद-बुद्धि' ये सब मायाके ही परिणाम हैं। इन्द्रियों और मनके समस्त विषय मायाके विस्तारके अन्तर्गत ही हैं।[५] यह माया दो प्रकारकी है। एक **विद्या**; दूसरी **अविद्या**। अविद्या माया अति दुष्टा और दुःखरूपा है। इसीके वशमें आकर जीव संसाररूपी कूपमें पड़ा रहता है। दूसरी (अर्थात् 'विद्या') संसारकी रचना करती है। वह त्रिगुणात्मिका है। (सत, रज, तम) इसके पास अपनी शक्ति नहीं है। यह प्रभुकी प्रेरणासे ही संसार-रचनामें समर्थ है।[६] माया स्वयं जड़ है। यह तो रामकी (ब्रह्म) सत्यतासे ही सत्य प्रतीत होती है।[७] यह रामकी दासी है। विचार करनेपर यह भी मिथ्या है।[८] यह माया ही ब्रह्मकी

---

[१] जौं सबके रह ग्यान एक रस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस।

—मानस, उत्तरकाण्ड।

[२] माया ईस न आपु कहँ जान कहिअ सो जीव।

—मानस, अरण्यकाण्ड।

[३] हरष विषाद ग्यान अग्याना। जीव धरम अहमिति अभिमाना।

—मानस, बालकाण्ड ११३।

[४] मैं अरु मोर तोर तैं माया। —मानस, अरण्यकाण्ड।

[५] गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।

[६] तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या :अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव पड़ा भव-कूपा॥
एक रचै जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥

—मानस, अरण्यकाण्ड।

[७] जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।

—मानस, बालकाण्ड।

[८] सो दासी रघुवीर कै समुझे मिथ्या सोऽपि।

—मानस, उत्तरकाण्ड।

मूल-प्रकृति या आदि-शक्ति है। इससे ही जगतका उद्भव, स्थिति और संहार होता है। सीताके रूपमें इसी माया या मूल प्रकृतिका अवतार हुआ है।[१]

ब्रह्म अनाम, अरूप, अखण्ड, मन और इन्द्रियोंसे परे, अमल, निर्विकार, सीमारहित, इच्छारहित और सुखराशि है।[२] राम ब्रह्मरूप हैं। वे सच्चिदानन्द हैं अजन्मा हैं; अखण्ड, अनन्त, निराकार, निर्गुण , नित्य निरंजन हैं। उन्होंने भक्तोंके लिये ही भूप-रूप धारण किया है।[३] ब्रह्मके सगुण और निर्गुण रूपमें कोई भेद नहीं है। निर्गुण ब्रह्म ही भक्तोंके प्रेमके कारण सगुण साकार हो जाता है। यदि कोई यह सन्देह करे कि जो गुणातीत है वह सगुण किस प्रकार हो सकता है ? तो तुलसीदासजीका उत्तर है कि जिस प्रकार जल, हिम, उपल अलग-अलग पदार्थ होते हुए भी तत्वतः एक ही हैं; विलग नहीं हैं; वैसे ही निर्गुण और सगुण भिन्न प्रतीत होते हुये भी तत्त्वतः एक ही हैं।[४] राम, निर्गुण-सगुण दोनों हैं। वे भूप शिरोमणि भी हैं।[५] वे विष्णु के अवतार हैं। वे सुतीक्ष्ण मुनिको चतुर्भुज रूपमें दर्शन देते हैं। अत्रि उन्हें 'इन्दिरापति' कहते हैं। स्वयं

---

१. उद्भव स्थिति संहार करिणीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।
—मानस, बालकाण्ड।

२. अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभव गम्य अखण्ड अनूपा।
मन गोतीत अमल अविनासी। निरविकार निरवधि सुख रासी।

३. सोइ सच्चिदानन्दघन रामा। अज विग्यान रूप बल धामा।
व्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता। अखिल अमोघ सक्ति भगवन्ता
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सब दरसी अनवद्य अजीता।
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा।
भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
—मानस, उत्तरकाण्ड

४. सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम उपल विलग नहिं जैसे।
—मानस, बालकाण्ड।

५. जय सगुन निर्गुंन रूप रूप-अनूप भूप सिरोमने।
—मानस, उत्तरकाण्ड।

शिव उन्हें अवधेश रामके साथ ही रमा-रमन और रमेश भी कहते हैं।[1] शिव, ब्रह्मा, विष्णु रामके ही अंशसे उत्पन्न होते हैं।[2] वे इन तीनोंको अपने संकेत पर नचाते हैं। रामकी ही शक्तिसे ब्रह्मा सृजन करते हैं; विष्णु पोषण करते हैं और शंकर संहार करते हैं।[3] राम चेतनको जड़ और जड़को चेतन करने में समर्थ हैं।[4] यह विश्व रामका ही विराट् रूप है।[5]

जगत् माया-जनित है। तत्वतः यह असत्य है। चेतन ब्रह्मकी सत्तासे ही सत्य-सा प्रतीत होता है। ठीक वैसे ही जैसे रज्जुमें सर्पका भ्रम होनेपर तत्त्वतः सर्पकी सत्ता नहीं होती। रज्जुकी सत्तासे ही सर्पकी सत्ता सत्य-सी प्रतीत होती है।[6] यह सारा विधि-प्रपञ्च झूठा है। श्रुतियाँ यही कहती हैं; किन्तु बार-बार देखने, सुनने, कहने और समझाने पर भी संशय-सन्देह नहीं मिटता[7]। यदि संसार मृग-तृष्णाके समान असत्य है तो संसारियोंको त्रिविध तापोंकी अनुभूति क्यों होती

---

१. जय राम रमा रमनं समनं
अवधेस सुरेस रमेस विभो।

—मानस, उत्तरकाण्ड।

२. संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।
—मानस, बालकाण्ड।

३. जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा।
—मानस, सुन्दरकाण्ड

४. जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हिं करइ चैतन्य।

—मानस, उत्तरकाण्ड।

५. देखिये, मन्दोदरीका रावण से कथन।

—मानस, लंकाकाण्ड।

६. यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।

—मानस, बालकाण्ड।

७. तुलसीदास सब विधि प्रपन्च जग जदपि झूठ स्रुति गावै।
× × —विनयपत्रिका, पद १२१।

देखत सुनत कहत समुझत संसय संदेह न जाई।

—विनयपत्रिका, पद १२१।

हैं ? ऐसी शंका होनेपर भी मृगवारिको सत्य (तत्त्वतः) तो नहीं कह सकते ? इसलिये सच्ची बात तो यह है कि सारा संसृति-दुख भ्रमके कारण है ।[1]

इस प्रकार तात्त्विक दृष्टिसे तुलसीदासजीके विचार भी 'अद्वैत'का ही समर्थन करते हैं । वस्तुतः सभी विचारकोंकी दृष्टिमें मूल सत्ता तो एक ही है । भौतिकवादी 'पदार्थ' अर्थात् 'जड़'-सत्ताको ही मूलरूपमें स्वीकार करता है और 'चेतना'को द्वन्द्वात्मक प्रक्रियाके आधारपर जड़ता (पदार्थ) से ही उद्भूत मानता है । अध्यात्मवादी 'चेतना'को ही मूल और आदि सत्ता स्वीकार करता है और पदार्थ (जड़ सत्ता) को उसका परिणाम, विवर्त या प्रतिविम्ब मानता है । तुलसी अध्यात्मवादी हैं । अतः उन्हें भी एक ही चेतन तत्त्व मान्य है । किन्तु यह निष्कर्ष शुद्ध ज्ञान-दृष्टिका परिणाम है । व्यवहार-दृष्टि इससे भिन्न है । सत्ताकी प्रतीति स्वरूपके आधारपर ही होती है । आत्मा, देहके माध्यमसे ही प्रकट होती है । इसलिये सत्ताको स्वरूपसे, ब्रह्मको ब्रह्माण्ड (विश्व)से, पुरुषको प्रकृतिसे, शक्तिमान्को शक्तिसे अलग करके नहीं देखा जा सकता । शुद्ध चेतन तत्त्व अव्यक्त है । जो व्यक्त, साकार और सीमित है, वह जड़ सत्ता है । चेतन और जड़की एक संग्रथित सत्ता भी है, वह जीव है । व्यवहार दृष्टि इन तीनोंको स्वीकार करके चलेगी । शुद्ध ज्ञान-बल से अद्वैत तत्त्व को समझ लेने और अपने को उससे अभिन्न मान लेने से ही जीवके सांसारिक दुःखों का शमन नहीं हो सकता । उसके जड़ अंश—देह, प्राण, इन्द्रियाँ, मन—उसे संसारमें ही प्रवृत्त करेंगे । अतः वास्तविक शान्ति उसी मार्गसे प्राप्त हो सकती है जो सांसारिक संबधोंको ही ईश्वरोन्मुख करके रागात्मक आधारपर जीवको ब्रह्मसे अभिन्नकर दे । भक्ति-साधना ऐसा ही मार्ग है । ज्ञाता और ज्ञेय ही एक नहीं होते आश्रय और आलम्बन भी एक होते हैं । 'भक्ति भक्त भगवन्त गुरु' सभीको भावनाके आधार पर एक कर देना ही भक्ति मार्गका चरम प्रतिपाद्य है । जीवमें चेतन तत्त्व होनेके कारण उसे परमचेतनतत्त्व (ब्रह्म)से अभिन्न कह देने और जगतमें जड़ तत्त्व होनेके कारण ही उसे भ्रमात्मक सिद्ध कर देने से व्यावहारिक कठिनाइयाँ नहीं मिटतीं ।

---

[1] जौ मृग मृषा, ताप-त्रय अनुभव होहिं कहहु केहि लेखे ।
कहि न जाइ मृगवारि सत्य, भ्रम तें दुख होइ विसेखे ।
—विनयपत्रिका, पद १२१ ।

इसीलिये तुलसी दूसरी ही व्यवस्था देते हैं। वे श्रवणोंसे हरिकथा सुनने, मुखसे उनका नाम लेने, हृदय में उनका ध्यान करने, शिर से उन्हें प्रणाम करने, नेत्रों से देखने और शरीरसे सेवा करनेकी बात कहते हैं।[१] रामको परमतत्त्व ब्रह्म, विष्णुरूप चतुर्भुज और दशरथ-पुत्र कोशलाधीश मानने का भी ठोस सामाजिक कारण है। तुलसीने अपने समयके समाजको प्रमुखतः राजा और प्रजा; सेव्य और सेवकमें द्विधा विभक्त देखा। राजा-रहित समाजकी कल्पना वे नहीं कर सकते थे। प्रजाकी शान्ति राजाकी कृपा और आदर्श चरित्र (शील) पर ही निर्भर है। उसकी कृपा प्राप्तिके लिये प्रेम और सेवाका मार्ग ही श्रेयस्कर है। इस जीवन-सत्यको उन्होंने आध्यात्मिक आधारपर व्यक्त किया। आदर्श-चरित्र राजाको उन्होंने प्रजा-वत्सल (भक्त-वत्सल) भगवान् (सेव्य) के रूपमें चित्रित किया और प्रताड़ित-पीड़ित प्रजाको उन्होंने भक्त (सेवक) की भूमिकामें उपस्थित किया। प्रजा-वत्सल दशरथ सुत कोशलेश राम जगत-पोषक-रक्षक भगवान् विष्णुके रूपमें मान्य हुए। जगतकी स्थिति और पोषणके लिये आंशिक या सीमित शक्ति पर्याप्त नहीं है इसलिए रामके रूपमें ही उन्होंने जगतके आदि कारण परम-चेतन ब्रह्मको भी देखा। इस प्रकार परब्रह्म, विष्णु और दशरथसुत राममें उन्होंने अभेद स्थापित किया। अतः तुलसीके दार्शनिक विचार तज्जुगीन सामाजिक परिस्थितियोंकी उपज हैं। सत्य तो यह है कि प्रत्येक युगकी दार्शनिक विचार-पद्धति उस युगकी ऐतिहासिक आवश्यकता और सामाजिक आकांक्षापर ही आधृत होती है। दर्शन और अध्यात्मको जीवनसे अलग करके नहीं देखा जा सकता। सामाजिक परिस्थितियोंमें होनेवाले परिवर्तनोंके अनुसार युग-मनमें परिवर्तन हो जाता है। इसलिए पूर्व युग-सत्यकी नई व्याख्या अनिवार्य हो जाती है। शंकरके अद्वैतवाद और तुलसीके अद्वैतवादके बीचमें साढ़े सात सौ (७५०) वर्षोंकी अवधिमें परिवर्तित होनेवाली ऐतिहासिक परिस्थितियाँ हैं।

---

[१] स्रवन कथा, मुख नाम हृदय हरि, सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु।
नयनन निरखि कृपा-समूह हरि अग-जग-रूप भूप सीताबरु॥
इहै भगति वैराग्य ज्ञान यह हरि तोषन यह सुभ व्रत आचरु।
तुलसीदास सिवमत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिंन डरु॥
—विनय पत्रिका, पद २०५।

इस सत्यको ध्यानमें रखकर ही तुलसीके सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें हमें अन्तिम निर्णय देना चाहिये ।

तुलसीकी भक्ति-पद्धति

तुलसीकी भक्ति व्यक्ति और समाज दोनोंका कल्याण करनेवाली है। व्यक्तित्वका परिष्कार अहंकारके शमनसे होता है। इसीलिये सारी विनय-पत्रिकामें तुलसीने अहंकारके शमनपर बल दिया है। वे अपनेको दीन, सर्वांगक्षीण, अघी, मलीन, गरीब, अनाथ, आर्त्त, गुन-विहीन, छली, हीन, अपराध-सिन्धु, पराधीन, दोष-कोष, आलसी आदि दैन्य-बोधक विशेषणोंसे युक्त करके ऐसे व्यक्तिकी भूमिकामें उपस्थित करते हैं जिसे प्रभुकी महत्ता और अपनी तुच्छताकी अनुभूति हो चुकी है। अपनी हीनताका अनुमान उच्चतम आदर्शको सामने रखकर अपनेको देखनेसे ही भली प्रकार हो सकता है। सम्पूर्ण विनय-पत्रिकामें इसी विषयका प्रतिपादन किया गया है। राम पतित-पावन हैं, सरल हैं, शीलनिधान हैं, कृपानिधि हैं, कारुणीक हैं, गरीबनिवाज हैं, प्रनतपाल हैं, सर्वज्ञ और सुजान-शिरोमणि हैं। अपने समस्त दोषोंको स्वीकार करके ऐसे राम पर अनन्य भावसे विश्वास करके ही भक्त मानसिक शान्ति प्राप्त कर सकता है।[१] शास्त्रीय शब्दावलीमें इसी भावनाको 'न्यास', 'प्रपत्ति' और 'शरणागति' भी कहते हैं।[२] शरणागतिके अन्तर्गत छः प्रकारकी भावनायें आती हैं। १—'आनुकूलस्य संकल्पः' २—'प्रतिकूलस्य वर्जनम्' ३—'रक्षिष्यति इति विश्वासः' ४—'गोप्तृत्वावर्णनम्' ५—'आत्मनिक्षेप' और ६—कार्पण्य। विनय-पत्रिकामें इन सभी भावनाओंका समावेश हुआ है। तुलसीने स्थल-स्थल पर भगवानके अनुकूल रहनेका संकल्प किया है।[३] उन विषयोंको त्यागनेके

---

[१] तुलसीदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछू नहिं गोयो ।
—विनयपत्रिका, पद २४५ ।

[२] अहमस्मि अपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः ।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः ।
शरणागतिरित्युक्ता सादेवेऽस्मिम् प्रयुज्यताम् ॥
—भारतीय दर्शन, पृष्ठ ७७० पर उद्धृत ।

[३] 'हौं सब विधि राम राउरो चाहत भयो चेरो' —विनयपत्रिका, पद १४६ ।

लिये मनको दृढ़ किया है जो राम-भक्तिके प्रतिकूल पड़ते हैं।[1] 'राम निश्चय ही भक्त की रक्षा करेंगे' यह विश्वास प्रकट किया है।[2] भगवान रामको ही अपना रक्षक माना है।[3] अपनेको निश्छल भावसे रामके प्रति अर्पित किया है।[4] और अनेक प्रकारसे अपनी कृपणता (दीनता) का प्रकाशन किया है।[5] इनके अतिरिक्त विनयके अन्तर्गत 'दीनता', 'मान-मर्षण', 'भयदर्शन', 'भर्त्सना', 'आश्वासन', 'मनोराज्य', और 'विचारण' की जो सात स्थितियाँ मानी गई हैं, तुलसीके विनय-गीतोंमें उन्हें भी सरलतासे प्राप्त किया जा सकता है। 'दीनता' सम्बन्धी पद तो अनेक हैं। 'माधव जू मो सम मंद न कोऊ', (पद संख्या ९२) 'है प्रभु मेरोई सब दोसु' (पद संख्या १५९), 'तुम सम दीनबंधु न दीन कोउ मोसम सुनहु नृपति रघुराई' (पद सं० २४२), आदि गीतोंमें दैन्यकी ही अभिव्यक्ति हुई है। 'मानमर्षण' के पद भी कम नहीं हैं। अभिमान का शमन करके इष्टदेवकी शरणमें जाना ही दैन्य भावकी भक्तिका मूल आधार है। 'पाहि पाहि! राम पाहि! राम भद्र रामचन्द्र सुजस स्रवन सुनि आयो हौं सरन (पद संख्या २४८)' जैसी पंक्तियोंमें यही भावना व्यक्त हुई है। 'जीव' को भय दिखाकर भगवानकी ओर उन्मुख करने की भावना ही भय-दर्शन' है। राम राम राम जीव जौलौं तू न जपि है। तो लौं तू कहूँ जाय तिहूँ ताप तपि है।' (पद सं० ६८), या 'राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे। घोर भव-नीर-निधि नाम निजु नाव रे।' (पद संख्या ६६), इन पदोंमें जीवको सांसारिक दुःखोंसे

---

१. कुपथ, कुचाल, कुमति, कुमनोरथ, कुटिल कपट कब त्यागिहै।

—विनयपत्रिका, पद २२४।

२. विश्वास एक राम नामको।

—वही, पद ११५,।

३. तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबाके।

—वही, पद २२५,।

४. अब तजि रोष करहु करुना हरि तुलसिदास सरनागत आयो।

—वही, पद २४३।

५. माधव! मो समान जगमाहीं।
सबविधि हीन, मलीन, दीन अति लीन-विषय कोउ नाहीं।

—वही, पद ११४।

भय दिखाकर राम की ओर प्रवृत्त करनेकी चेष्टाकी गई है। चंचल मन बार-बार सांसारिक विषयोंमें रम जाता है। भक्त साधकको इसके लिये उसे फटकारना पड़ता है। उसकी भर्त्सना करनी पड़ती है। 'सुत बनितादि जानि स्वारथ रत न करु नेह सबहीं तें। अंतहुँ तोहिं तजेंगे पामर! तू न तजै अबहींते' (पद सं० १९८) या 'तौं तू पछितैहै मन मींजि हाथ' (पद सं० ८४) अथवा 'सुनु मन मूढ़, सिखावन मेरो।' (पद सं० ८७) जैसे पदोंमें तुलसीदासजीने अनेक प्रकारसे मनकी भर्त्सनाकी है। भक्तको प्रभुके गुणोंपर पूर्ण विश्वास रहता है और इसीके बल पर वह अपने मनको आश्वासन देता है। 'ऐसी कौन प्रभु की रीति' (पद २१४) 'श्री रघुबीर की यह बानि' (पद २१५) या 'हरिसम आपदाहरन। नहिं कोउ सहज कृपालु दुसह-दुखसागर-तरन' (पद २१३) जैसे गीतोंको 'आश्वासन' की भावनाका सुन्दर उदाहरण माना जा सकता है। कभी-कभी भक्त इसी विश्वासके बल पर अनेक प्रकारकी अभिलाषायें करता हुआ 'मनोराज्य' की भूमिकामें प्रवेश कर जाता है। तुलसीकी तो एक ही अभिलाष थी कि—'ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को। त्यों मेरे मन लालसा करिए करुनाकर पावन प्रेम पीन को' (पद सं० २६९)। कभी-कभी संसारकी जटिलता और विचित्रता देखकर भक्त 'विचारण' की मनःस्थितिमें हो जाता है। 'केशव कहि न जाइ का कहिए? देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये।' (पद १११) तुलसी का यह छन्द 'विचारण' की स्थितिका सुन्दर उदाहरण है। उपर्युक्त शास्त्र-विहित भावनाओंके अतिरिक्त तुलसीने दैन्यके अन्तर्गत अन्य अनेक प्रकारके मानसिक उद्गार प्रकट किये हैं जो उनके हृदयकी शुद्धता प्रमाणित करते हैं। अहमन्यताको त्यागकर विश्वास पूर्वक जब हम भगवान्में दृढ़ अनुराग करते हैं तो वे द्रवीभूत होते हैं।[1] भगवान्को द्रवीभूत करदेने वाला साधन भक्ति है।[2] इसीलिये तुलसी ने विनयपत्रिकामें बार-बार रामसे द्रवीभूत होने के लिये प्रार्थनाकी है। कभी वे कहते हैं—'जो न द्रवहु, रघुबीर धीर!

---

[1] बिनु विश्वास भगति नहिं, तेहिं बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहु, जीव न लह विश्राम॥

[2] जातें वेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।

काहे न दुख लागे' ।[१] कभी कहते हैं—'माधव, अब न द्रवहु केहि लेखे ।'[२] कभी सोचते हैं कि संतों की संगति के बिना भक्ति संभव नहीं है और वह तभी मिल सकती है जब भगवान् द्रवीभूत हों—'ते तब मिलैं द्रवै जब सोई।'[३] कभी भगवान् रामकी उदारताका स्मरण होनेपर विश्वासपूर्वक कहते हैं—'विनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं ।'[४] यह विश्वास ही उन्हें अनन्य भावसे रामके चरणोंमें प्रीति करनेके लिये प्रेरित करता है । तुलसीकी भक्तिकी यह विशिष्ट पद्धति वैयक्तिक साधनाके रूपमें ग्रहण की जा सकती है । इसका ध्येय व्यक्तिका मानसिक उन्नयन करके उसे राग-द्वेषोंकी संकीर्णतासे ऊपर उठाना है ।

सामाजिक कल्याण या लोक-हितके लिये उन्होंने जिस भक्तिका उल्लेख किया है वह एक प्रकार का पूर्ण जीवन-दर्शन है । वे कहते हैं—'श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संयुत विरति विवेक' इस कथनमें केवल भक्तिकी बात न कहकर 'भक्ति-पथ'की बात कही गई है । इस पथमें भक्ति (अनुरक्ति) के अतिरिक्त विरति (अनासक्ति) और विवेक (ज्ञान) का भी समन्वय हो गया है । इसकी व्याख्या करते हुये डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्रने लिखा है—"जो सच्चे तत्त्वदर्शी आचार्य हैं उन्होंने साम्प्रदायिकताका दुराग्रह छोड़कर ज्ञान, कर्म और भक्तिके समन्वयको ही विकासका सम्यक् मार्ग बताया है" ।[५] समन्वित न होने पर 'कर्म, ज्ञान और भक्ति' तीनों लक्ष्य भ्रष्ट हो सकते हैं । आचार्य शुक्लने इस ओर संकेत करते हुए कहा है—"'कर्म' अर्थ-शून्य विधि-विधानोंसे निकम्मा हो सकता है, 'ज्ञान' रहस्य और गुह्यकी भावनासे पाषंड-पूर्ण हो सकता है और 'भक्ति' इन्द्रियोपभोगकी वासनासे कलुषित हो सकती है ।"[६] तुलसीकी भक्ति-पद्धतिमें इसीलिये उपर्युक्त तीनों साधनाओंका समन्वय हुआ है । यह भक्ति सभी सुखोंकी खानि मणि-रूपा है जिसके शाश्वत प्रकाशमें जीवनका पथ आलोकित हो सकता है । जब व्यक्ति सुमतिकी

---

१. विनयपत्रिका, पद संख्या ११० ।
२. वही, ,, ,, ११३ ।
३. वही, ,, ,, १३६ ।
४. वही, ,, ,, १६२ ।
५ तुलसी दर्शन, पृष्ठ २४३ ।
६. हिन्दी-साहित्यका इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृष्ठ ६५, सं० २००५ वि० संस्करण ।

कुदारी लेकर ज्ञान और वैराग्य के नेत्रोंसे देखता हुआ भावपूर्वक (प्रेम और श्रद्धा के साथ) वेद-पुराण रूपी पर्वतोंमें स्थित राम-कथा रूपी खानको खोदनेका प्रयत्न करता है तभी यह भक्ति-मणि प्राप्त हो सकती है।[१] इस रूपकके द्वारा भी तुलसीने भक्तिके ज्ञान और कर्म (अनासक्ति, वैराग्य) समन्वित स्वरूपकी ओर ही संकेत किया है। भक्तिका यह पथ किस प्रकार पूर्ण जीवन दर्शन हो सकता है? इसे कविने 'मानस'में रामके जीवन-विकासके साथ दिखानेकी चेष्टाकी है। रामके व्यक्तित्वमें भक्ति, ज्ञान और कर्म तीनोंका समन्वित उत्कर्ष हुआ है। वे शिवके भक्त हैं। लंकामें प्रवेश करनेके पहले वे श्रद्धापूर्वक शिवलिंगकी स्थापना करते हैं। वे तत्त्वज्ञानी हैं। लक्ष्मणके प्रश्न करने पर वे उन्हें तत्त्वज्ञानका बोध कराते हैं। वे अनासक्त हैं। इसीलिये अयोध्या का राज्य सहज भावसे त्याग देते हैं। इसी जीवन-दृष्टिके बलपर वे रावण जैसे शत्रुका संहार करके श्रद्धाविहीन समाजका अन्त करते हैं और अन्ततः विषमताहीन रामराज्यकी स्थापना करते हैं। 'मानस' के अन्य पात्र (जो राम के सच्चे भक्त हैं) भी भक्ति और कर्तव्यनिष्ठाके साथ-साथ तत्त्वज्ञानको समझनेवाले हैं। हनुमान जानते हैं कि वे उस रामके दूत हैं—'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा।'[२] जामवंत बन्दरोंको समझाते हुये कहते हैं—'तात राम कहुँ नर जनि जानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज मानहु।'[३] लक्ष्मणजी निषादराजको उपदेश देते हैं—'राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा।'[४] जनकजी रामको भलीभाँति पहचानते हैं—'व्यापक ब्रह्म अलख अविनासी। चिदानंदु निरगुन गुन रासी'।[५] इसीलिये इन पात्रोंको जीवनकी भीषणतम प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी कभी व्यामोह नहीं होता और वे सदैव दृढ़तापूर्वक जीवन-पथमें अग्रसर होते हैं।

---

[१] मरमी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी।
भाव सहित खोदइ जो प्रानी। पाव भगति-मणि सब सुख खानी।
—मानस, उत्तरकाण्ड।

[२] मानस, सुन्दरकाण्ड।

[३] मानस, किष्किन्धाकाण्ड।

[४] मानस, अयोध्याकाण्ड।

[५] मानस, बालकाण्ड।

'विरति-विवेक-संयुक्त भक्ति' के साधन रूपमें तुलसीदासजीने जप, तप, नियम, योग, मख, सम, दम, व्रत, दान, तीर्थाटन, विद्या, विनय, विज्ञान आदि सभी सत्कार्योंकी गणना की है। स्वयं राम द्वारा लक्ष्मणके प्रति भक्तिके साधनों का उल्लेख कराते हुए उन्होंने 'विप्रके चरणोंमें प्रीति, सन्तोंके प्रति प्रेम-भाव, भगवद्लीलामें रति, भगवद्गुणगान, भगवद्सेवा, भगवद्भजन, अहंकार-त्याग, निष्कामता, गुरु-पिता-माता-बन्धु-पति आदिके सम्बन्धोंको भगवान्के प्रति ही केन्द्रित कर देना, मन-वचन और कर्मसे भगवान्की शरणमें जाना आदि सभी सद्गुणों-को भक्तिके साधनोंमें सम्मिलित कर लिया है। शबरीको उपदेश देते समय भी भगवान् रामने भक्तिके प्रकारोंका उल्लेख करते हुए 'सत्संग, कथामें रति, मान-रहित गुरु-भक्ति, कीर्तन, जप, सन्तवृत्ति, अनन्यवृत्ति, सन्तोषवृत्ति और भगवद-वलम्ब आदि नवधा भक्तिकी चर्चा की है। यह नवधा भक्ति अध्यात्म रामायणके आधारपर ही वर्णित है। भागवत् महापुराणमें 'श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन' को नवधा भक्तिके रूपमें स्वीकार किया गया है। तुलसीदासजीने इनको भी 'स्रवनादिक नव-भगति दढ़ाहीं' कहकर अन्य साधनोंके साथ ही उल्लिखित कर दिया है। तात्पर्य यह कि भागवत् पुराणकी 'नवधाभक्ति' और अध्यात्म रामायणकी 'नवधाभक्ति' दोनोंको तुलसीने अपनी विशिष्ट भक्तिका साधन ही स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओंकी भक्तिको भी वे राम-भक्तिकी भूमिका ही मानते हैं। गणेशसे प्रार्थना करते हुए वे कहते हैं—'माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं राम सिय मानस मोरे'।[1] भगवान् शंकरसे भी उनकी यही विनय है—'देहु कामरिपु रामचरन रति तुलसिदास कहँ कृपानिधान'।[2] पार्वतीसे भी वे यही याचना करते हैं—'रघुपति-पद परम-प्रेम तुलसी यह अचल नेम, देहि ह्वै प्रसन्न, पाहि प्रणत पालिका !'[3] इससे प्रकट है कि जीवनकी सभी समस्याओंका समाधान तुलसीने 'राम-भक्ति' में ही देखा है। मानव-समाजके समस्त नैतिक

---

[1] विनय पत्रिका, पद संख्या १।

[2] वही ,, ,, ३।

[3] वही ,, ,, १६।

कार्यों का परिणाम और मानव-जीवनमें पूज्य समस्त देवी-देवताओंकी भक्तिका अन्तिम फल वे राम-भक्तिकी प्राप्ति ही मानते हैं।

इस भक्तिका अधिकारी व्यक्तिविशेष, जातिविशेष, वा वर्गविशेष नहीं है। पुरुष, स्त्री, नपुंसक, चर-अचर सभी यदि निष्कपट भाव से राम-भजनमें प्रवृत्त हों तो वे भगवान्‌को परमप्रिय हो सकते हैं।[1] उन्हें तो केवल 'प्रेम' का नाता मान्य है। प्रेम करनेवाला कोई भी क्यों न हो उसे राम-कृपा सुलभ है। वे तो यहाँ तक कह देते हैं—'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय अस मम बानी॥[2] इस क्षेत्रमें नीच-ऊँचका प्रश्न ही नहीं उठता। संसारके समस्त जीव—चर, अचर, नर, सुर, असुर सभी तो एक ही भगवान्‌की सृष्टि हैं। भगवानकी निगाहोंमें सभी समान हैं। वे तो सभी पर समान कृपा करते हैं।[3] उनके दरबारमें तो दीनोंको अधिक सम्मान मिलता है। पितासे अधिक वे गृद्धराज पर ममता दिखाते हैं। सखा सुग्रीवके दुःखोंको देखकर प्राण-प्रिया सीताको भी विस्मृत कर देते हैं। रणमें लक्ष्मणके घायल होने पर उन्हें विभीषण का ही सोच सन्तप्त करता है। शबरीके फलोंके स्वादके सामने ससुरालकी पहुनाई भूल जाती है। वे केवटको मीत मानते हैं। बानरोंको बंधुवत् सम्मान देते हैं। श्वानके कहने पर यतीको भी नगरसे बाहर निकाल देते हैं।[4] ऐसे रामकी भक्तिका पथ तो राजमार्ग है जो सबके लिये प्रशस्त है।[5]

इस भक्तिका आलम्बन भगवानका सगुण रूप ही है। तुलसीने यों तो सगुण-निर्गुणमें अभेद मानकर राममें इन उभय स्वरूपोंकी स्थिति स्वीकारकी

---

[1] पुरुष नपुंसक नारि नर जीव चराचर कोइ।
भगति भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥
—मानस, उत्तरकाण्ड।

[2] मानस, उत्तरकाण्ड,

[3] एहि विधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते।
अखिल विस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहिं बराबर दाया।
—मानस, उत्तरकाण्ड।

[4] विनय पत्रिका, पद संख्या—१६४; १६५।

[5] 'गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो'।
—विनयपत्रिका, पद १७३।

है और अनेक स्थलों पर रामकी वन्दना करते हुये उन्हें 'जय सगुन निर्गुण रूप रूप-अनूप भूप सिरोमने' कहकर सम्बोधित किया है किन्तु उनका मानसिक झुकाव सगुण साकार भगवानकी ओर ही है। रावण-विजयके उपरान्त रामकी स्तुति करते हुए इन्द्र कहते हैं—

कोउ ब्रह्म निर्गुण ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।
मोहि भाव कोसल भूप। श्रीराम सगुन-सरूप॥

लोमस का निर्गुण मतका उपदेश काकभुशुण्डिको नहीं भाता। वे कहते हैं— 'विविध भाँति मुनि मोहिं समुझावा। निर्गुन-मत मम हृदय न आवा॥' इसके अतिरिक्त जिस भक्तिको तुलसीने मुक्तिसे भी श्रेष्ठ माना है, वह सगुण-भक्ति ही है। वे कहते हैं—'सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं।' स्वयं भगवान शंकर रामके 'पद-सरोज' में ही शाश्वत भक्तिका वरदान माँगते हैं। राम भी विभीषणसे यही कहते हैं।

सगुन-उपासक परमहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान-समान मम जिन्हके द्विज पद प्रेम॥
(मानस, सुन्दरकाण्ड)

वस्तुतः भक्तोंके भगवान् तो सुख-निधान, करुणा-भवन, भाव-गाहक हैं। वे निर्गुण-निराकार कैसे हो सकते हैं? तुलसीकी गोपियोंने तो स्पष्ट ही कह दिया था—

जेहि उर बसत स्याम सुन्दर घन तेहि निर्गुन कस आवै।
तुलसिदास सो भजन बहाओ जाहि दूसरो भावै॥[१]

तुलसीकी भक्ति उपास्यदेवोंका पार्थक्य नहीं स्वीकार करती। राम, शंकरके भक्त हैं। शिव-द्रोही उनकी भक्ति नहीं प्राप्त कर सकता।[२] शंकर, रामके भक्त हैं। उन्होंने भी रामके चरण-कमलोंकी सेवा करके ही सिद्धि प्राप्त की है।[३]

---

१. कृष्ण गीतावली, पद संख्या ३३।

२. संकर विमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी।
—मानस, लंकाकाण्ड।

३. जाके चरन सरोज सेइ सिधि पाई संकर हू।
—विनय पत्रिका।

सीता रामको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये गौरी (शक्ति) की प्रार्थना करती हैं।[1] तुलसीके प्रभु राम ही नहीं हैं, ब्रज-जन-हितकारी कृष्ण भी हैं।[2] विनय-पत्रिकामें वे 'गणेश', 'शंकर', 'पार्वती', 'गंगा', 'हनुमान' आदि सभी उपास्य-देवोंकी श्रद्धापूर्वक विनय करते हैं। ऐसा करके तुलसीने न केवल अपनी भक्ति-पद्धतिको एक व्यापक आधारभूमि पर प्रतिष्ठित किया वरन् तत्कालीन शैव-शाक्त-वैष्णव भक्तोंके पारस्परिक वैमनस्यको भी दूर कर दिया तथा वैष्णवोंमें भी राम और कृष्ण-भक्तिके नाम पर विभक्त भक्तजनोंको एक दूसरेके समीप लाकर खड़ा कर दिया।

तुलसीकी भक्तिको समझनेके लिये उन प्रतीकोंकी निष्ठाको भी समझना आवश्यक है जिन्हें अपना आदर्श स्वीकार करके उन्होंने बार-बार स्मरण किया है। भक्तिके क्षेत्रमें तुलसीके दो आदर्श हैं—चातक और मीन। चातककी भक्तिमें अनन्यता, निष्कामता तथा आलम्बनके महत्त्वकी आनन्दमयी स्वीकृति है। वह जानता है कि उसका मेघ लोक-उपकारी है, महिमामय है। इसलिये वह अपनी याचनाको लोक-याचनाके रूपमें उपस्थित करता है। तुलसीकी याचना भी लोक-याचना है। वे जानते हैं कि उनके राम लोक-रक्षक हैं। रामके महत्त्वको आनन्दपूर्वक स्वीकार करके ही वे अपनी दीनता प्रकट करते हैं। चातकका मेघके प्रति और तुलसीका रामके प्रति व्यक्त दैन्य एक ही आधार पर स्थित है। तुलसीरूपी चातकको भी राम-श्याम घनकी ही आशा है—

तुलसी-चातक-आस राम-स्याम घनकी।

—विनयपत्रिका, पद ७५।

और मीनके प्रेमका क्या कहना ! जलसे अलग तो वह जी ही नहीं सकती। तुलसीकी दृष्टिमें—'तुलसी एकै मीनको है साँचलो सनेह'—एक मीनका ही प्रेम सच्चा है। इसीलिये वे 'राम-भक्ति-सुरसरि-नीर-मीनता' की कामना करते हैं—

---

[1] नहिं तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना।

—मानस, बालकाण्ड।

[2] तुलसी प्रभु प्रेम वस्य मनुज-रूप धारी।
बाल केलि लीलारस ब्रज जन हितकारी॥

—श्री कृष्णगीतावली, पद १।

करुनानिधान बरदान तुलसी चहत
सीतापति-भक्ति-सुरसरि-नीर-मीनता

—विनयपत्रिका, पद १६२।

भक्तिका मार्ग अन्य सभी साधनाओंसे सुगम और श्रेष्ठ है। योग, मख, ज्ञान, वैराग्य आदि वेद-विहित कर्म सुननेमें भले मधुर हों, करनेमें निश्चय ही कठिन हैं।[१] व्रत, तीर्थाटन, तप आदिकी बात सुनकर तुलसीका मन सहम जाता है, सोचते हैं इनमें पड़कर कौन अपना शरीर क्षीण करे ?[२] तत्त्वतः 'ज्ञान' और 'भक्ति'में भेद नहीं है। दोनों 'भव-संभव-खेद'को दूर करनेमें समर्थ हैं। किन्तु 'ज्ञान'के साथ एक कठिनाई है। ज्ञान ही क्या ? वैराग्य, योग और विज्ञानके साथ भी यह कठिनाई है कि ये सब पुरुष हैं। अविद्या (माया) स्त्री है। पुरुषोंका स्त्रियोंके प्रति सहज आकर्षण होता है। अतः इन साधनोंको स्वीकार करके जीवन-पथपर अग्रसर होनेवाला व्यक्ति मायाके फन्देमें सरलतासे पड़ सकता है। इसके विपरीत भक्ति स्वयं नारी है। नारी, नारीके रूपसे प्रभावित नहीं होती। अतः भक्तिपर मायाका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। इतनाही नहीं, स्वयं भगवान् रामको भक्ति प्यारी है। इसलिए भी माया डरती रहती है। इसीलिये मुनि और विज्ञानी भी भक्तिकी ही याचना करते हैं। ज्ञानका पन्थ तो कृपाणकी धारके समान है। ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित करनेमें ही अनेक कठिनाइयाँ हैं। यदि वह प्रज्वलित भी हो गई तो विषयोंकी वायुका एकही झोंका उसे बुझा सकता है। भक्ति तो चिन्तामणिके समान है। जिसका प्रकाश दिन-रात प्रस्फुटित होता रहता है। इससे अविद्याका अंधकार सहज ही मिट जाता है। इसलिये तुलसीका निश्चित मत है कि जल-मन्थनसे भले ही घृत निकल आवे; सैकत-कणोंसे भले

---

[१] जोग मख बिबेक बिरति बेद बिहित करम।
करिबे कहँ कटु कठोर सुनत मधुर नरम॥

—विनयपत्रिका, पद १३१।

[२] व्रत, तीरथ, तप सुनि सहमत, पचि मरै करै तन छामको !

—वही, पद १५५।

ही तेल स्रवित हो जाय; किन्तु बिना हरि-भजनके संसार-सागरका संतरण सम्भव नहीं है।[१]

उपर्युक्त विवेचनके आधारपर यह कहा जा सकता है कि तुलसीने अपने युगकी परिस्थितियोंका गहन अध्ययन करनेके बाद 'भक्ति'के रूपमें एक ऐसे जीवन-दर्शनकी उपलब्धिकी थी जो व्यक्ति और समाज दोनोंका उन्नयन करनेमें समर्थ है। जो व्यापक आधारपर प्रतिष्ठित है। जिसमें लक्ष्य-च्युत होनेकी सम्भावना बहुत ही कम है। जो व्यक्तिकी श्रेष्ठतामें विश्वास और जीवनमें आस्था उत्पन्न करनेमें समर्थ है। जो प्रवृत्तिकी ओर प्रेरित करनेवाला है, संसारके संघर्षोंसे पलायनकी प्रेरणा देनेवाला नहीं। जो समता और समन्वयकी भावनापर आधृत है और जिसकी उपादेयता आज भी निर्विवाद है।

काव्य-सौष्ठव

तुलसीकी काव्य-सुषमाका अनुभव करनेके लिये हृदयकी विशालता, बुद्धिकी विमलता, वाग्देवीकी अनुकम्पा, विचारोंकी श्रेष्ठता और लोक-मंगलकी भावना अपेक्षित है[२]। जो केवल भणिति-वैचित्र्यको ही सब कुछ मानते हैं, तुलसीके काव्यमें उन्हें कदाचित् कुछ भी प्राप्त न हो। उन्होंने तो केवल वस्तु-सौन्दर्यपर ध्यान दिया था[३]। तुलसी ऐसे काव्य-विवेकको दूरसे ही नमस्कार करते हैं जिसका उपयोग प्राकृत जन-गुण-गानमें किया जाता है[४], जिसे बेंचकर वर्ण-

---

[१] बारि मथे घृत होइ बरु सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि-भजन न भव तरिहिं यह सिद्धान्त अपेल॥
—मानस, उत्तरकाण्ड।

[२] हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।
जौं बरसइ बर बारि बिचारू। होइ कबित मुक्ता मनि चारू।
× × ×
भगत हेतु बिधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई।
× × ×
कीरति भणिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सबकर हित होई।

[३] भणिति भदेस वस्तु भलि बरनी।

[४] कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।

वर्णपर सुवर्ण प्राप्त किया जाता है और जिसमें कविकी आत्म-निष्ठाका प्रश्न ही नहीं उठता वरन् आश्रयदाताकी रुचि-प्रतिष्ठाका ही प्राधान्य होता है। वे ऐसी बाल-कविताको भी व्यर्थ मानते हैं जो पण्डित-मण्डलीमें आदर नहीं प्राप्त करती[1]। जब कवि युग-युगकी लोक-व्यापी समस्याओंका समाधान किसी ऐसी आत्मनिष्ठ आदर्श भावनामें प्राप्त कर लेता है जिसे राष्ट्रकी सांस्कृतिक परम्पराका समर्थन भी प्राप्त होता है तो उसका हृदय आनन्दसे उल्लसित हो उठता है; उसकी बुद्धि विमल हो जाती है; उसका हृदयस्थ राग-स्रोत फूट पड़ता है और काव्य-सरिताका अजस्र स्रोत प्रवाहित होने लगता है। 'राम-चरित' के रूपमें तुलसीने ऐसा हो समाधान प्राप्त कर लिया था[2]। फिर तो काव्यके सभी उपादान स्वयमेव उसका अनुगमन करते हैं। मूल वस्तु है—लोक मंगलकारी आदर्शोंकी उपलब्धि। 'रामचरितमानस' इन्हीं आदर्शोंकी प्रतिष्ठा का परिणाम है। यह आदर्श-प्रतिष्ठा ही तुलसीके काव्यका मर्म है। काव्यके तथाकथित उपादान इसकी सौंदर्यवृद्धिमें सहायक मात्र हैं। कवि तुलसीके विमल मानसमें जिस चरित-मानसकी कल्पना साकार हुई थी उसकी सार्थकता जन-मानसका मल प्रक्षालन करनेमें थी। यह कार्य 'रामसीय-जस-सलिल-सुधा' से ही सम्पादित हो सकता था। जलमें तरंग-भंगिमा सहज सम्भाव्य है। यही स्थिति काव्यके वस्तु-तत्त्वमें आलंकारिक सौंदर्यकी है।[3] जिस प्रकार जल-पूर्ण सरोवरकी पारिभाषिक पूर्णता विविध प्रकारकी मछलियोंके अभाव में अधूरी रह जाती है, उसी प्रकार काव्य-सरोवर ध्वनि, वक्रोक्ति, काव्य-गुण और रीतिके अभावमें पूर्ण रमणीयता नहीं प्राप्त कर सकता[4]। सरोवरका निर्माण

---

१. जे कवित्त बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं।

२. अस मानस मानस चख चाही। भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही।
भयेउ हृदय आनन्द उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू।
चली सुभग कविता-सरिता-सी। राम-बिमल-जस-जल-भरिता सी।
—रामचरितमानस, बालकांड।

३. राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम।
—मानस बालकांड।

४. धुनि, अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती।
—मानस, बालकांड।

मछलियोंके लिये नहीं होता। उसका अनिवार्य तत्त्व जल है। मत्स्य-विहीन जलपूर्ण सरोवर देखा जा सकता है किन्तु जलके अभावमें मछलियोंकी स्थितिकी कल्पना नहींकी जा सकती। जिन कवि पुंगवोंका काव्य-विवेक 'रीति', 'ध्वनि', 'वक्रोक्ति', 'अलंकार' और 'गुण' को ही काव्यका सर्वस्व मानकर चलता है, तुलसी अपनेको उनकी परम्परासे पृथक् कर लेते हैं। छन्द भी काव्यका अनिवार्य तत्त्व नहीं है। छन्द, काव्य-सरोवरके कमल-पुष्प हैं।[1] सरोवरका सौंदर्य कमल-पुष्पोंसे बढ़ जाता है। कभी-कभी पत्रयुक्त कमल-पुष्पोंकी सघनता सामान्य दर्शककी दृष्टिसे जलकी विमलताको ओझल कर देती है। इसी प्रकार छन्दोंको अधिक महत्त्व देने से काव्यका भाव-सौंदर्य समाप्त हो जाता है। जो छन्द-योजनामें ही अपने श्रमकी सार्थकता देखते हैं वे काव्यके मर्मको नहीं जानते।[2] तुलसीका काव्य-सौंदर्य रामकी चारित्रिक पूर्णतामें ही देखा जा सकता है। चारित्रिक पूर्णताके लिये 'भावों' के विशिष्ट संघटनकी आवश्यकता होती है। तुलसीके काव्यमें मानव जीवनमें व्याप्त सभी भावोंका चित्रण किया गया है। 'रति', 'हास्य', 'शोक', 'क्रोध', 'उत्साह', 'भय', 'आश्चर्य', 'जुगुप्सा', 'निर्वेद', 'वात्सल्य' आदि सभी स्थायी भावोंको हम उनके सजातीय भावोंके साथ तुलसीकी कृतियोंमें देख सकते हैं। तुलसीके भाव-चित्रणकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने भावको शील के उत्कर्षका साधन माना है। तुलसीके आदर्श-पात्र लोक-मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते। इसलिये जब कभी वे आश्रय या आलम्बन रूपमें भावोंकी स्थिति और विकासके आधार बनते हैं तो भाव-सत्ताको भी लोक-मर्यादाका बन्धन स्वीकार करना पड़ता है। सबसे पहिले 'रति'को लेकर विचार कीजिये। प्रसंग जनक-वाटिकाका है। बाटिकामें राम और लक्ष्मण प्रसून-चयन करने आये हैं। सीता सखियोंके साथ गौरी-पूजनके लिये आई हैं।

---

[1] छंद सोरठा सुन्दर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा।
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई।
—मानस, बालकांड।

[2] पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म।
मायाछन्न न देखिए जैसे निर्गुन ब्रह्म॥
—मानस, अरण्यकांड।

सीताकी एक सखी अलग होकर वाटिकाका सौंदर्य देख रही थी। उसने राम लक्ष्मणके अनुपम रूप-लावण्यको देखा। उसका हृदय प्रेमसे स्निग्ध हो गया। उसे रोमाञ्च हो आया। नेत्र अश्रु पूर्ण हो गये। इसी विह्वल स्थितिमें वह सीताके पास आई। सखियोंके आग्रह पर वह इतना ही कह सकी—

स्याम गौर किमि कहउँ बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

सीताके हृदयमें राम-दर्शनकी उत्कण्ठा हुई। सीताकी परम रूपवती सखियोंमेंसे एक जिसके रूपको देखकर विह्वल हो उठे उसके दर्शनकी उत्कण्ठा सीताकी मर्यादाके विरुद्ध नहीं है। उनकी यह उत्कण्ठा आकुलतामें तब परिणत होती है जब दूसरी सखी पूर्व सखीका समर्थन करते हुये कहती है—

बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखिअहि देखन जोगू॥
जिन्ह निज रूप मोहिनी डारी। कीन्हें स्वबस नगर नर-नारी॥

जिसका सौंदर्य सामान्य चर्चाका विषय बन जाय, जिसके रूपमें मोहिनी शक्ति हो, जो नगरकी नर-नारियोंको वशीभूत कर ले, उसे देखनेके लिये नेत्रोंका आकुल होना स्वाभाविक है। अभी भी सीताके हृदयमें 'रति' का उदय नहीं हुआ है। यह स्थिति तब आती है, जब उन्हें नारदके पूर्व कथित वचनोंका स्मरण हो आता है—

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि, जनु सिसु मृगी सभीत॥

नारदके वचन याद आनेसे रामके प्रति निजत्व भावनाका उदय होना है। वे सामान्य नायकमात्र नहीं रह जाते। 'वे वही होंगे' की सम्भावनासे ही पुनीत प्रीतिका उदय होता है। रामको प्रत्यक्ष देखकर वे जड़वत् हो जाती हैं।

थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेखें।

कुछ क्षणोंके लिये उनकी कार्य करनेकी योग्यता खो जाती है। नेत्रोंके माध्यमसे रामका रूप-बिम्ब हृदय मन्दिरमें लाकर वे पलकोंका कपाट लगा देती हैं। सखी व्यंग्य करती है—

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूप किशोर देखि किन लेहू।

सीताको संकोच होता है। यह संकोच अपनी स्थितिके बोधके कारण ही है। कदाचित् अब वे मर्यादाकी सीमा-रेखाके समीप पहुँच चुकी थीं। लोक-दृष्टिमें राम अभी उनकी 'निधि' नहीं बन पाये थे किन्तु रामका भुवन-मोहन सौन्दर्य उन्हें विचलित कर रहा था। ठीक अवसर था जब कवि उनके सामने मर्यादा का सबसे प्रबल अंकुश उपस्थित करता। यह अंकुश है जनककी प्रतिज्ञा। सीताकी प्रीतिका अधिकारी कोई भी व्यक्ति केवल सौन्दर्यके आकर्षणसे नहीं हो सकता। उसे सारे संसारके सामने अपनी शक्तिका प्रमाण देना होगा। पिताके प्रणका स्मरण कर सीता अधीर हो उठी—'नख-सिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पन मन अति छोभा'। सीताकी यह मनःस्थिति अधिक देर तक न रह सकी। एक अन्य सखीके व्यंग्य, पुनि आउब एहि बेरियाँ काली—सभी सखियों द्वारा बिलम्ब होनेकी चर्चा और माताके भयने उन्हें संयम रखनेके लिये विवश किया। उन्होंने धैर्य धारण किया। रामके रूपका आकर्षण उन्हें विवश कर रहा था किन्तु सखियोंका संकोच भी कम न था। इसलिए रामको देखनेके लिए अब उन्हें मृगों, विहगों और तरुओंके देखनेका बहाना लेना पड़ा—

देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि-बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि।

यह सहज स्वच्छन्द प्रेम पर मर्यादाके विजयका प्रमाण है। अन्ततः रामकी श्याममूर्तिका ध्यान करती हुई सीता लौट पड़ीं।

पूरे प्रसंगमें 'रति' और उसकी परिधिमें आनेवाले—'उत्कण्ठा' (औत्सुक्य), 'आकुलता', 'जड़ता', 'संकोच' (व्रीड़ा), 'अधीरता', 'अवहित्था' आदि संचारी भावोंकी स्थितिका चित्रण किया गया है। ये सभी भाव सीताके मर्यादित व्यक्तित्व को सजीव करनेमें सहायक हुए हैं। प्रत्येक भावपूर्ण मनःस्थितिको सामाजिक मर्यादाके नियन्त्रणमें रखकर उपस्थित किया गया है। सखियोंका संकोच, उनके द्वारा किये जानेवाले व्यंग्य, पिताका प्रण और माताका भय, इन सबके बीचमें सीताकी पुनीत प्रीति, उनका औत्सुक्य, आकुलता, अधीरता, संकोच, जड़ता आदि भाव इस प्रकार दमक उठे हैं जैसे अवगुण्ठनके भीतरसे रमणीके आननकी कान्ति रह-रहकर विभिन्न छाया-बिम्बोंकी सृष्टि करती हुई प्रतीत होती है।

'रति' भावका एक अन्य चित्र देखिये। राम-सीता-लक्ष्मण बन-पथ पर आगे बढ़ रहे हैं। मानो तीन सौन्दर्य-बिन्दुओंसे निर्मित एक रेखा उभरती जा रही हो। भोली-भाली ग्राम-वधुएँ आश्चर्य, उत्सुकता, स्नेह, संकोच और आनन्दमग्न होकर इस अद्‌भुत दृश्यको देखती रह जाती हैं। स्त्री कदाचित् अन्य स्त्रीका नैकट्य शीघ्र प्राप्त कर लेती है। एक भोली ग्राम-वधू विनयपूर्वक सीतासे पूछ बैठती है—

राज कुमारि विनय हम करहीं। तिय-सुभाय कछु पूछत डरहीं।
कोटि-मनोज-लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥

प्रश्न करनेवाली ग्राम-वधू निरी भोली न थी। संभवतः उसने सीता और रामके सम्बन्धका अनुमान कर लिया था। प्रश्न तो उसने सीताके मुखसे अपने अनुमानकी पुष्टि करानेके लिए ही किया था। सीताका असमंजसमें पड़ना स्वाभाविक था। कविने जिस कौशलसे सीताके संकोच, गूढ़ प्रीति एवं रति-जन्य अनुभावोंका चित्रण किया है वह समस्त हिन्दी-साहित्यमें अद्वितीय है—

तिन्हहि बिलोकि, बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनी।
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिक बयनी।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि॥

कविने चित्र-कल्पना 'हनुमन्नाटक' से ली है—

पथि पथिक वधूभिः सादरं पृच्छयमाना कुवलयदलनीलः कोऽयं आर्ये तवेति।
स्मितविकसितगण्डं व्रीडविभ्रान्तनेत्रं मुखमवनमयन्ती स्पष्टमाचष्ट सीता।

किन्तु हनुमन्नाटककी तुलनामें तुलसीका भावचित्र अधिक विशद, स्वाभाविक, सजीव और व्यञ्जक है। इसके द्वारा भी सीताका शील ही व्यक्त हुआ है। ग्राम-वधूके आग्रहकी रक्षामें उनकी सरलता, प्रश्नका स्पष्ट उत्तर न देनेमें उनकी स्वभावगत लज्जा, पहले लक्ष्मणके प्रति अपने सम्बन्धकी व्यञ्जनामें उनकी लोकमर्यादा और अन्ततः मात्र अनुभावोंके आधारपर रामके प्रति संकेतित दाम्पत्य-भावनामें उनका स्त्रीत्व साकार हुआ है।

'गीतावली' में चित्रकूटकी जीवन-चर्याका अंकन करते हुए तुलसीने राम और सीताके 'माधुरी-विलासहास'का चित्रण भी किया है।

इस प्रसंगकी विशेषता यह है कि पहली बार कविने आराध्य युगलकी एकान्त केलिका अंकन किया है। यहाँ कविका संयम देखते बनता है—

सब ऋतु ऋतुपति-प्रभाउ, संतत बहै त्रिविध बाउ,
जनु बिहार-बाटिका नृप पंचबान को
विरचित तहँ परनसाल, अति विचित्र लषनलाल,
निवसत जहँ नित कृपालु राम जानकी।
निजकर राजीव नयन पल्लवदल-रचित-सयन,
प्यास परसपर पियूष प्रेम-पान की।
सिय अँग लिखैं धातु राग, सुमननिं भूषन-विभाग
तिलक-करनि का कहौं कला-निधान की
माधुरी-बिलास-हास, गावत जस तुलसिदास,
बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रानकी

राम-भक्तिमें रसिक-भावनाके विकासपर विचार करते हुए यह कहा गया है कि 'मानसमें उनका (तुलसीका) आराध्यके प्रति आत्म-निवेदन, दास्य भावका था किन्तु गीतावलीमें उनका आत्म-समर्पण माधुर्य भावसे प्रेरित था।'[1] बरवै रामायणको भी इस दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण माना गया है। 'रसिक सम्प्रदाय' में सखियोंको आराध्य युग्म की रूपासक्त उपासिकाओंके रूपमें स्वीकार किया गया है। बरवै रामायणमें कविने सखियों के माध्यमसे ही राम-सीताके सौंदर्य एवं रति-भावका संक्षिप्त चित्रण किया है। इसी आधारपर परवर्ती रामभक्तोंने तुलसी-की भक्ति-साधनामें भी माधुर्य भावकी भक्तिकी स्थिति मानी है और उन्हें भी 'तुलसी सखी'की उपाधि दे दी है।[2] तुलसीकी उपासना माधुर्य भावकी थी या नहीं ? यह पृथक् विचारका विषय है। इस सम्बन्धमें यह ध्यान रखना होगा कि तुलसीका आत्म-रूप विनयपत्रिकामें ही सर्वाधिक मुखर हुआ है। यही कृति

---

१. राम-भक्ति में रसिक सम्प्रदाय——डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह, पृष्ठ १०६।

२. वही, पृष्ठ १०९।

उनकी व्यक्तिगत साधना का आधार बन सकती है किन्तु इसमें माधुर्यभावकी भक्तिका संकेत कहीं नहीं मिलता। प्रस्तुत प्रसंगमें इतना ही विचारणीय है कि 'गोतावली' के उपर्युक्त चित्रमें मर्यादाका ह्रास हुआ है या नहीं ? जहाँतक मैं समझता हूँ, उपर्युक्त चित्रमें रामके दाम्पत्य जीवनकी मर्यादा सुरक्षित है। इसके अभावमें रामका दाम्पत्य जीवन अपूर्ण रह जाता। तुलसीके हृदयमें जहाँ शत्रुजयी, धनुर्धारी रामका परुष रूप अंकित था वहीं सीता-रामकी मधुरमूर्ति भी विराजमान थी। जिस तुलसीने आराध्य युग्मके 'माधुरी-विलास-हास'का चित्रण किया उसीने यह भी लिखा—

राजत राम काम-सत सुन्दर।
रिपु रन जीति अनुज संग सामित, फेरत चाप-विसिष बनरुह-कर।
स्याम सरीर रुचिर श्रम-सीकर, सोनित-कन बिच बीच मनोहर।
तुलसिदास यह रूप अनूपम हिंय-सराज बसि दुसह विपति हर॥

आराध्यके विविध रूपोंकी चित्र-कल्पना तुलसीने की है किन्तु कहीं मर्यादाका उल्लंघन नहीं हुआ है। गीतावलीमें 'बसन्त-विहार'का वर्णन करते हुए भी तुलसीने जहाँ राम और उनके सखाओं तथा सीता और उनकी सखियोंको एक साथ उपस्थित किया है वहाँ राम के व्यक्तित्वमें शीलच्युतिकी गंध नहीं आती। वसन्त-विहारमें नगरकी स्त्रियाँ ऋतुके अनुकूल मनोहर गीत गाती हैं और कहीं नर-नारी परस्पर गारी देते हैं। भगवान् राम इन्हें सुनकर हँस देते हैं। कवि इससे अधिक कुछ नहीं कहता। इस प्रकार राम और सीता के मधुर सम्बन्धोंके चित्रणमें भी तुलसीकी दृष्टि मर्यादा-सापेक्ष ही है।

दाम्पत्य-रतिके वियोग-पक्षका चित्रण भी राम-सीताके शीलके अनुकूल ही हुआ है। राम और सीता का प्रेम सभी स्थितियोंमें सम है। सीताके वियोगमें रामको विरहोन्माद हो जाता है। वे पक्षियों, पशुओं और भौंरोंसे सीताका पता पूछते हैं। कभी यही पशु-पक्षी उनका उपहास करते हुए-से प्रतीत होते हैं। सीताके अभावमें उनके विविध अंगोंके प्राकृतिक उपमान रामको हर्षमग्न दिखाई देते हैं। यह स्थिति तभीतक रहती है जबतक सीताका पता नहीं लगता। गृद्धराज जटायुसे सीता-हरणका समाचार मिलनेपर यह विरह रामका पौरुष बनकर क्षात्रदर्पके रूपमें प्रकट होता है—

सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ ।
जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ ॥

रामका वियोग परिस्थितिगत विवशताके कारण सीताको दैन्य और विषादकी मूर्ति बना देता है । हनुमानके शब्दोंमें सीताका चित्र देखिये—

तुम्हरे बिरह भई गति जौन ।
चित दै सुनहु, राम करुना निधि ! जानौं कछु पै सकौं कहि हौं न ।
लोचन-नीर कृपिन के धन ज्यौं रहत निरन्तर लोचन-कोन ।
'हा धुनि'-खगी लाज-पिंजरी महँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन ।

जिस सीताने बन-गमनके समय कहा था—

राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान ।

वह यदि रामसे वियुक्त होनेपर दीन, मलीन, क्षीण होकर साक्षात् करुणाकी छाया-मूर्ति न बन गई होतीं तो अनुसुइयाके निम्नलिखित कथनकी सार्थकता कैसे प्रमाणित होती ?—

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं ।
तोहि प्रान प्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित ॥

'शोक' का चित्रण भी तुलसीकी कृतियोंमें कम नहीं हुआ है । राम-बन-गमनका पूरा प्रसंग शोक-सरिताकी विविध लहरियोंसे पूर्ण है । कैकेयी द्वारा रामके बन-निष्कासनका वरदान माँगनेपर दशरथ शोक-सन्तप्त हो जाते हैं । वे इस आकस्मिक घटनासे सहम जाते हैं । कुछ भी कहनेमें असमर्थ हो जाते हैं । उनके शरीरका रंग बदल जाता है । वे माथेपर हाथ रखकर नेत्र बन्द कर लेते हैं मानो स्वयं शोक साकार होकर चिन्तामग्न हो गया हो[1] । पुत्र-निर्वासनका समाचार ज्ञात होनेपर माता कौशल्या बिषादमग्न हो जाती हैं ।

---

[1] सुनि मृदु वचन भूप हियँ सोकू । ससि कर छुअत विकल जिमि कोकू ।
गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा । जनु सचान वन झपटेउ लावा ।
विवरन भयउ निपट नरपालू । दामिनी हनेउ मनहुँ तरु तालू ।
माथें हाथ मूदि दोउ लोचन । तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन ।
—मानस, अयो॰ कां॰, ३५८ ।

वे सहमकर सूख सी जाती हैं। नेत्रोंमें अश्रु आ जाते हैं। शरीर थर-थर काँपने लगता है[१]। रामको बनमें छोड़कर अयोध्या लौटते हुए सुमन्त्रकी स्थिति तो और भी दयनीय है। उनके नेत्रोंमें जल भरा है; दृष्टि मन्द हो गई है; कानोंसे सुनाई नहीं पड़ता; ओठ सूख गये हैं; मुँह लट गया है; मुखका रंग बदल गया है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उन्होंने अपने माता-पिताकी हत्या कर दी हो[२]। दशरथकी मृत्युपर तो सारी अयोध्या शोक-मग्न हो जाती है। रानियाँ, दास-दासी नगर-निवासी सभी विलाप करने लगते हैं।[३] युद्ध स्थलमें लक्ष्मणके मूर्छित होनेपर रामका करुण विलाप बड़ा ही मार्मिक है—

मोपै तौ न कछू है भाई।
ओर निबाहि भली बिधि मायप चल्यौ लषन-सो भाई।
पुर पितु-मातु सकल सुख परिहरि जेहि बन-बिपति बँटाई।
ता संग हौं सुरलोक साक तजि सक्यौं न प्रान पठाई।[४]

'वात्सल्य'का सुन्दरतम चित्र 'गीतावली'में देखा जा सकता है। तुलसीने वात्सल्यके उभय-पक्षों—'संयोग' एवं 'वियोग'—को पूरी तन्मयतासे साकार किया है। छोटे-छोटे चरणों और नन्हीं-नन्हीं उँगलियों वाले भगवान् राम ठुमुक-

---

[१] कहि न जाइ कछु हृदय विषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू।
नयन सजल तन थर-थर काँपी। माजहि खाइ मीन जनु मापी।
धरि धीरजु सुत बदनु निहारी। गदगद बचन कहति महतारी।
—मानस, अयो० कां०, ३७८।

[२] लोचन सजल डीठि भइ थोरी। सुनइ न श्रवन बिकल मति भोरी।
सूखहिं अधर लागि मुहुँ लाटी। जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी।
बिबरन भयउ न जाइ निहारी। मारेसि मनहुँ पिता महतारी।
—मानस, अयो० कां०, ४४९।

[३] सोक बिकल सब रोवहिं रानी। रूपु सीलु बल तेजु बखानी।
करहिं बिलाप अनेक प्रकारा। परहिं भूमितल बारहिं बारा।
बिलपहिं बिकल दास अरु-दासी। घर-घर रुदनु करहिं पुरबासी।
—मानस, अयो० कां०, ४५८।

[४] गीतावली-लंकाकाण्ड, पद ६।

ठुमुक कर चल रहे हैं। पैरोंमें पैजनियोंका झुन-झुन रव मुखर हो रहा है। वे किलकारी मार कर हँसते हैं। उनके दूधके दाँत शोभायमान हो रहे हैं। वे कभी-कभी तोतली बोलीमें कुछ कह देते हैं। माता कौसल्या चुटकी बजा-बजा कर उन्हें नचाती हैं। उनकी बाल-लीलाओंका गान करती हैं और दुलारती हैं—

छोटि छोटि गोड़ियाँ, अँगुरियाँ छबलीं छोटी,
नख-जोति मोती मानो कमल दलनि पर।
ललित आँगन खेलैं, ठुमुकु ठुमुकु चलैं।
झुँझुँनु झुँझुनु पाँय पैजनी मृदु मुखर॥

× × ×

चुटकी बजावती नचावती कौसल्या माता,
बाल केलि गावति मल्हावती सुप्रेम-भर।
किलकि किलकि हँसैं, द्वै-द्वै दँतुरियाँ लसैं।
तुलसीके मन बसैं तोतरे वचन बर॥[1]

तुलसीके संयोग वात्सल्यके इन चित्रोंमें कहीं-कहीं उनकी व्यक्तिगत दास्य-भावनाने वत्सलताको दबा दिया है। ऐसे स्थलोंपर स्पष्टतः भाव-चित्रण में कलात्मक सौष्ठवका ह्रास हुआ है। एक ऐसा ही चित्र देखिये—माता कौशल्या कहती हैं कि हे लाल! तुम पालनेमें पौढ़ जाओ, मै तुम्हें झुलाऊँ। यहाँसे आरंभ करके अन्तमें कवि कौशल्या मातासे ही कहलाता है—'हे रघुश्रेष्ठ! मैं कविता कामिनीके साथ मिलकर तुम्हारे पवित्र चरित्र गाकर तुम्हारे ही चरणोंमें चित्त लगाऊँ।[2] यहाँ माताका स्थान तुलसीने ले लिया है और वात्सल्यके स्थानपर दास्य भावकी प्रतीति होने लगी है। वियोग वात्सल्यका एक अनुपम चित्र 'गीतावली'में अंकित हुआ है। माता कौशल्या सान्त्वना देने वाली किसी सखीसे कहती हैं—

---

[1] गीतावली, बालकाण्ड, पद ३३।

[2] पौढ़िये लालन, पालने हौं झुलावौं।

× × ×

चारु चरित रघुबर तेरे तेहि मिलि गाइ चरन चितु लावौं।
—गीतावली, बालकाण्ड, पद १८।

वे सहमकर सूख सी जाती हैं। नेत्रोंमें अश्रु आ जाते हैं। शरीर थर-थर काँपने लगता है[1]। रामको बनमें छोड़कर अयोध्या लौटते हुए सुमन्त्रकी स्थिति तो और भी दयनीय है। उनके नेत्रोंमें जल भरा है; दृष्टि मन्द हो गई है; कानोंसे सुनाई नहीं पड़ता; ओठ सूख गये हैं; मुँह लट गया है; मुखका रंग बदल गया है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उन्होंने अपने माता-पिताकी हत्या कर दी हो[2]। दशरथकी मृत्युपर तो सारी अयोध्या शोक-मग्न हो जाती है। रानियाँ, दास-दासी नगर-निवासी सभी विलाप करने लगते हैं।[3] युद्ध स्थलमें लक्ष्मणके मूर्छित होनेपर रामका करुण विलाप बड़ा ही मार्मिक है—

मोपै तौ न कछू ह्वै आई।
ओर निबाहि भली बिधि भायप चल्यौ लषन-सो भाई।
पुर पितु-मातु सकल सुख परिहरि जेहि बन-बिपति बँटाई।
ता संग हौं सुरलोक साक तजि सक्यौं न प्रान पठाई।[4]

'वात्सल्य'का सुन्दरतम चित्र 'गीतावली'में देखा जा सकता है। तुलसीने वात्सल्यके उभय-पक्षों—'संयोग' एवं 'वियोग'—को पूरी तन्मयतासे साकार किया है। छोटे-छोटे चरणों और नन्हीं-नन्हीं उँगलियों वाले भगवान् राम ठुमुक-

---

[1] कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू।
नयन सजल तन थर-थर काँपी। माजहि खाइ मीन जनु मापी।
धरि धीरजु सुत बदनु निहारी। गदगद बचन कहति महतारी।
—मानस, अयो० कां०, ३७८।

[2] लोचन सजल डीठि भइ थोरी। सुनइ न श्रवन बिकल मति भोरी।
सूखहिं अधर लागि मुहुँ लाटी। जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी।
बिबरन भयउ न जाइ निहारी। मारेसि मनहुँ पिता महतारी।
—मानस, अयो० कां०, ४४९।

[3] सोक बिकल सब रोवहिं रानी। रूपु सीलु बल तेजु बखानी।
करहिं बिलाप अनेक प्रकारा। परहिं भूमितल बारहिं बारा।
बिलपहिं बिकल दास अरु दासी। घर-घर रुदनु करहिं पुरवासी।
—मानस, अयो० कां०, ४५८।

[4] गीतावली-लंकाकाण्ड, पद ६।

ठुमुक कर चल रहे हैं। पैरोंमें पैजनियोंका झुन-झुन रव मुखर हो रहा है। वे किलकारी मार कर हँसते हैं। उनके दूधके दाँत शोभायमान हो रहे हैं। वे कभी-कभी तोतली बोलीमें कुछ कह देते हैं। माता कौसल्या चुटकी बजा-बजा कर उन्हें नचाती हैं। उनकी बाल-लीलाओंका गान करती हैं और दुलारती हैं—

छोटि छोटि गोड़ियाँ, अँगुरियाँ छवलीं छोटी,
नख-जोति मोती मानो कमल दलनि पर।
ललित आँगन खेलैं, ठुमुकु ठुमुकु चलैं।
झुँझुँनु झुँझुनु पाँय पैजनी मृदु मुखर॥

× × ×

चुटकी बजावती नचावती कौसल्या माता,
बाल केलि गावति मल्हावती सुप्रेम-भर।
किलकि किलकि हँसैं, द्वै-द्वै दँतुरियाँ लसैं।
तुलसीके मन बसैं तोतरे वचन बर॥[1]

तुलसीके संयोग वात्सल्यके इन चित्रोंमें कहीं-कहीं उनकी व्यक्तिगत दास्य-भावनाने वत्सलताको दबा दिया है। ऐसे स्थलोंपर स्पष्टतः भाव-चित्रण में कलात्मक सौष्ठवका ह्रास हुआ है। एक ऐसा ही चित्र देखिये—माता कौशल्या कहती हैं कि हे लाल! तुम पालनेमें पौढ़ जाओ, मै तुम्हें झुलाऊँ। यहाँसे आरंभ करके अन्तमें कवि कौशल्या मातासे ही कहलाता है—'हे रघुश्रेष्ठ! मैं कविता कामिनीके साथ मिलकर तुम्हारे पवित्र चरित्र गाकर तुम्हारे ही चरणोंमें चित्त लगाऊँ।[2] यहाँ माताका स्थान तुलसीने ले लिया है और वात्सल्यके स्थानपर दास्य भावकी प्रतीति होने लगी है। वियोग वात्सल्यका एक अनुपम चित्र 'गीतावली'में अंकित हुआ है। माता कौशल्या सान्त्वना देने वाली किसी सखीसे कहती हैं—

---

[1] गीतावली, बालकाण्ड, पद ३३।

[2] पौढ़िये लालन, पालने हौं झुलावौं।

× × ×

चारु चरित रघुबर तेरे तेहि मिलि गाइ चरन चितु लावौं।

—गीतावली, बालकाण्ड, पद १८।

जिनके बिरह-बिषाद बँटावन खग-मृग- जीव दुखारी ।
मोहि कहा सजनो समुझावति, हौं तिन्हको महतारी ॥[१]

'हौं तिन्हकी महतारी' में जो व्यञ्जना है वह मातृ हृदयकी विरह-कातरता व्यक्त करनेवाली अनेक पंक्तियोंमें भी व्यञ्जित नहीं हो सकती थी। अपनोके अभावका दुःख ही विरह-व्यथाकी सृष्टि करता है। जिसे खग-मृग सभी अपना समझकर विषादमग्न हैं उसके वियोगमें उसकी माताकी व्यथा क्या सान्त्वनाके शब्दोंसे कम हो सकती है ?

'उत्साह' का चित्रण 'मानस' 'कवितावली' और 'गीतावली' इन तीनो कृतियोंमें सफलता पूर्वक किया गया है। इसके आश्रय लक्ष्मण, निषाद राज, राम अंगद, हनुमान, मेघनाद आदि पात्र हैं। चित्रकूटमें भरतको ससैन्य आता हुआ सुनकर उग्रताकी मूर्ति लक्ष्मण वीररस की मूर्ति बन जाते हैं। भरत के साथ अपार सेना देखकर गंगातट पर निषाद राज उत्साह पूर्वक राम के लिये युद्धभूमि में प्राण निछावर करनेका निश्चय करते हैं। वर्षाऋतु व्यतीत होने पर सीताकी खोज के लिये भगवान् राम पौरुषमय उत्साह प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रकार परिस्थिति और प्रसंगके अनुसार उपर्युक्तपात्रोंमेंसे प्रत्येकमें उत्साह की स्थिति दिखाई गई है। 'उत्साह'का एक अच्छा चित्र 'गीतावली'में लक्ष्मण शक्तिके अवसरपर हनुमानके शब्दोंमें चित्रित हुआ है—

जौ हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चंद्रमहि निचोरि चैल-ज्यौं आनि सुधा सिर नावौं।
कै पाताल दलौं व्यालावलि अमृत-कुण्ड महि लावौं॥
भेदि भुवन, करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं।
बिबुध-बैद बरबस आनौं धरि, तौ प्रभु-अनुग कहावौं॥
पटकौं मीच नीच मूषक-ज्यौं, सबहि को पापु बहावौं।
तुम्हरिहि कृपा, प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावौं।
दीजै साइ आयसु तुलसी-प्रभु, जेहि तुम्हरे मन भावौं॥[२]

'भय' का सर्वोत्कृष्ट रूप 'कवितावली' में लंकादहनके समय देखा जा सकता

---

[१] गीतावली, अयोध्याकाण्ड, पद ८५।

[२] गीतावली, लंकाकाण्ड, पद ८।

है। लंकाके कनक-कोट विकराल ज्वाल-जालमें दग्ध हो रहे हैं। चारों ओर हा-हाकार मच गया है। भीषण आतंकसे निशाचर-राज रावण भी 'धरो-धरो', और 'धाओ-धाओ' कहनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पा रहा है। मन्त्री लोग उसे ठेलकर अलग करते हुए कहते हैं—"नाथ न चलैगो बल अनल भयावनो।" राक्षसिनियाँ कातर स्वरमें कहती हैं—"बार-बार कह्यो पिय कपि सों न लागि रे।" दशों दिशाओंमें अग्निकी कराल लपटें छा गई हैं। सभी लोग धूम्रसे व्याकुल हो गये हैं। कोई किसीको पहचानता नहीं। लोग पानीके लिये ललकते हैं। बिललाते हैं। शरीर जला जा रहा है। भाग-दौड़में पैरों तले रौंदे जा रहे हैं। एक-दूसरेको भगाने और बचानेके लिये आर्तस्वरमें पुकारते हैं—

लपट कराल ज्वाल जाल माल दहूँ दिसि,
धूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे?
पानी को ललात, बिललात, जरे गात जात,
परे पाइमाल जात, "भ्रात! तू निबाहि रे॥
प्रिया तू पराहि, नाथ नाथ! तू पराहि, बाप,
बाप तू पराहि पूत पूत तू पराहि रे"॥
तुलसी बिलोकि लोग व्याकुल बिहाल कहैं,
"लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे"॥[1]

'क्रोध' का चित्रण कुछ पात्रोंके शील-वैशिष्ट्यको व्यक्त करनेके लिये किया गया है। परशुराम स्वभावसे क्रोधी हैं। लक्ष्मणमें भी सहज उग्रता है। इन्हीं पात्रोंमें 'क्रोध' की व्यञ्जना अधिक हुई है। मानव-जीवनमें भी क्रोधकी स्थिति इसी रूपमें देखी जाती है। एक ही परिस्थितिमें पड़े हुए दो व्यक्तियोंमें समान रूपसे क्रोधका उदय आवश्यक नहीं है। जनकका यह कथन—'यदि मैं जानता कि पृथ्वी वीरोंसे शून्य है, तो प्रण करके उपहासका पात्र न बनता'—सुनकर लक्ष्मण क्रोधाभिभूत हो जाते हैं किन्तु राम शान्त रहते हैं। कैकेयीका 'कोप' 'क्रोध' नहीं है। स्वाभाविक क्रोध इतना अवसर नहीं देता कि विशेष प्रकार की वेशभूषामें किसी निश्चित स्थानपर किन्हीं

---

[1] तुलसी ग्रं॰, सभा संस्करण, पृष्ठ २७४।

विशेष परिस्थितियोंमें उसे नाटकीय ढंग से व्यक्त किया जाय। कैकेयी ने क्रोधका अभिनय अधिक किया है। इसीलिये स्वयं कविने उसके लिये 'रूठने' और 'कोहाने' शब्दोंका प्रयोग किया है।[१] अंगद-रावण संवादमें रावण द्वारा रामकी निन्दाकी जानेपर अंगद क्रोधसे तमतमा जाते हैं—

जब तेहिंकीन्ह राम कैं निन्दा। क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा।
हरि हर निंदा सुनइ जो काना। होइ पाप गो घात समाना॥
कट कटान कपि-कुञ्जर भारी। दुहुँ भुज दंड तमकि महि मारी।

'हास्य'का चित्र मानसमें तीन अवसरोंपर प्रस्तुत हुआ है। 'नारद-मोह, 'शिव-विवाह' और 'केवट-राम-संवाद'। 'नारद-मोह' के प्रसंगमें उद्देश्य गर्भित हास्य है। भगवान् नारदका 'परम हित' करना चाहते हैं। नारद भी भगवान्से यही चाहते हैं किन्तु नारद मोहान्ध हैं। उनकी स्थिति रोग-ग्रस्त व्यक्ति की है। रोगी कुपथ्य में ही अपना हित समझता है। वैद्य कुपथ्य नहीं दे सकता। इस प्रसंगमें प्रस्तुत हास्य-योजना 'नारद' के उरमें अंकुरित गर्व-तरुको विनष्ट करनेके लिये की गई है। शिव-विवाह प्रकरणमें 'हास्य' का आधार विष्णुका व्यंग्य है। केवट-राम-संवादमें केवटकी प्रेम-गर्भित ढिठाई और टेकने सुन्दर हास्यकी सृष्टि-की है। 'कवितावली'में भी केवट-राम-संवादमें इन्हीं आधारोंपर 'हास्य' और 'भक्ति' का सुन्दर सामञ्जस्य दिखाया गया है। विन्ध्य-निवासी तपस्वियोंकी इस कल्पनामें कि भगवान्के चरण-कमलोंके स्पर्शसे बनके सभी शिला-खंड चन्द्रमुखियोंके रूपमें परिगत हो जायँगे—हास्य का छींटा दिखाई पड़ता है।

'जुगुप्सा' का चित्रण 'कवितावली' में लंका-दहन के भयानक दृश्यके साथ ही किया गया है।[३] 'जुगुप्सा' और 'भय' का परस्पर सम्बन्ध शास्त्रीय दृष्टिसे भी मान्य

---

[१] जानेउँ मरमु राउ हँसि कहई। तुम्हहि 'कोहाब' परम प्रिय अहई।
—अयोध्या० काण्ड, पृ० ३५७।

[२] रामचरितमानस, लंका काण्ड, पृष्ठ ७६८।

[३] हाटबाट हाटक पिघिलि चलो घी सो घनो,
कनक कराही लंक तलफति ताय सों।
नाना पकवान जातुधान बलवान सब,
पागि-पागि ढेरी कीन्हीं भली भाँति भाय सों।
—तु० ग्र०, पृ० १७७।

है। 'निर्वेद'का सुन्दरतम उदाहरण 'विनयपत्रिका' में देखा जा सकता है। यह 'निर्वेद' किसी क्षणिक मानसिक क्षोभकी प्रतिक्रियाके रूपमें न होकर जीवन के समस्त क्रिया-कलापोंपर शुद्ध ज्ञान-दृष्टिसे किये गये विचारपर आधृत है —

जनम गयौ बादिहि बर बीति ।
परमारथ पाले न परयो कछु, अनुदिन अधिक अनीति ।
खेलत खात लरिकपन गो चलि, जौबन जुवतिन लियो जीति ॥
रोग-वियोग-सोक-स्रम-संकुल बड़ि बय वृथहि अतीति ।
राग-रोष-इरषा-बिमोह बस रुची न साधु-समीति ॥
× × ×
तुलसी प्रभु तें होइ सो कीजिय समुझि बिरद की रीति ॥[1]

तुलसी-साहित्यमें उपर्युक्त स्थायी भावोंके अतिरिक्त काव्यशास्त्रमें वर्णित सभी सञ्चारियों की स्थिति देखी जा सकती है। वस्तुतः प्रत्यक्ष जगत्की प्रत्येक क्रिया मानव-मनपर प्रभाव डालती है। प्रत्येक परिस्थिति मनको उद्वेलित करती है। मानव-जीवनमें आनेवाली परिस्थितियोंकी गणना संभव नहीं है। अतः मनोवेगों और भावोंकी संख्याका निर्धारण भी असंभव है। अकेले तुलसीके रामचरित मानस में जीवनयात्राकी असंख्य स्थितियाँ चित्रित हैं। इसलिये इस ग्रन्थमें ऐसी अनेक मनःस्थितियाँ भी अंकित हैं जिन्हें नाम नहीं दिया जा सकता। पिछले पृष्ठोंमें जिन भाव-चित्रोंको उपस्थित किया गया है उनके आधारपर तुलसीके काव्य-सौष्ठव (भाव-चित्रणकी दृष्टिसे) की झलक मिल जाती है। उनका भाव-चित्रण शीलनिरूपणका अंग बन गया है। 'मानस'में तो सर्वत्र ऐसा ही हुआ है। अन्यकृतियोंमें भी राम-कथाका क्षीण आधार वर्तमान है, अतः वहाँ भी भावोंकी उपस्थिति पात्र विशेषके परिचित शीलके अनुकूल ही है। भावोंकी विविधता होनेपर भी उनके चित्रणमें पूरी तन्यमता और गहराई है। कविने ऐसे भावोंका सामञ्जस्य भी उपस्थित किया है जो सामान्यतः परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। 'मानस'में कविका ध्यान कथाके सन्तुलनपर अधिक रहा है। इसलिए किसी भी भावको आवश्यकतासे अधिक विस्तार नहीं दिया जा सका है। कथा-धाराको प्रभावित करनेवाली जो घटना जितनी ही महत्त्वपूर्ण है उससे उद्भूत भाव-धारा

---

[1] विनयपत्रिका, पद संख्या २३४ ।

भी उतनी ही विशद, व्यापक और गम्भीर है। अन्य कृतियोंमें इस क्रमका निर्वाह नहीं हुआ है। 'गीतावली'में कोमल भावनाओंको ही महत्त्व दिया गया है। इसीलिए उत्तरकाण्डको अधिक विस्तार देना पड़ा है। क्योंकि उसमें रामकी मधुचर्याका प्राधान्य है। 'कवितावली' में कथाकी दृष्टिसे 'सुन्दर' और 'लंकाकाण्ड' को महत्त्व दिया गया है। अतः इसमें परुष भावनाओंके चित्र अधिक सजीव हैं। 'उत्तरकाण्ड'में छन्दोंकी संख्या अन्य काण्डोंकी तुलनामें अधिक है किन्तु इसमें रामकी महिमाका गान ही अधिक है। कहीं-कहीं कवि के व्यक्तिगत जीवनके संकेत मिल जाते हैं। भाव-चित्रणकी दृष्टि से कवितावलीका उत्तरकाण्ड अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'विनयपत्रिका'में 'दैन्य' और 'निर्वेद'का ही प्राधान्य है। इन दोनो भावनाओंको इतना अधिक विस्तार समस्त हिन्दी-साहित्यमें अन्यत्र कहीं नहीं मिला है।

अभिव्यक्ति-सौंदर्य

तुलसीने 'वस्तु-तत्त्व'की सुन्दरता पर अधिक ध्यान दिया है। 'भणिति'के 'भदेस' होनेकी चिन्ता उन्हें नही थी; किन्तु 'वस्तु' और 'रूप' दोनो की स्थिति अन्योन्याश्रित है। तुलसीके काव्यका वस्तु-तत्त्व (राम-चरित) जितना रमणीय है उसका रुप-तत्त्व या अभिव्यक्ति पक्ष भी उतना ही कलात्मक है। काव्य-शैली, अलंकरण, शब्द-संघटन, छन्द-योजना आदि उपकरण अभिव्यक्ति सौन्दर्यके सहायक उपादान है। अतः इनपर अलग-अलग विचार किया जायगा।

शैली—'रामचरितमानस' प्रबन्ध काव्य है। रामके जीवनकी विशद गाथा प्रबन्ध शैलीमें ही सुन्दरतम रूपमें प्रस्तुतकी जा सकती थी। प्रबन्धशैलीमें लिखे गये काव्योंके मुख्यतः दो रूप मान्य हैं—महाकाव्य और खंडकाव्य। 'मानस' महाकाव्य है। महाकाव्यके लिये जिन लक्षणोंको भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्रमें आवश्यक माना गया है, वे सभी 'मानस' में विद्यमान हैं। यह सर्ग-बद्ध है। इसका आरम्भ सरस्वती और गणेशकी वन्दनासे किया गया है। इसके बाद क्रमशः पार्वती, शंकर, गुरु, बाल्मीकि, हनुमान, सीता, राम आदिकी वन्दनाकी गई है। इसके प्रत्येक सर्ग (काण्ड) में एक ही प्रकारके छन्द (दोहा-चौपाई) प्रयुक्त हुए हैं। सर्गान्तमें 'हरिगीतिका' छन्दका प्रयोग करके 'वृत्त-परिवर्त्तन'के नियमकी रक्षाकी गई है। इसका आधार रामका जीवन-वृत्त है जो समस्त

भारतीय समाजमें प्रचलित है। कथा-संघटनमें नाटक की सभी सन्धियाँ मिल जाती हैं। इसके नायक धीरोदात्त गुणयुक्त भगवान् राम हैं, जो क्षत्रिय कुमार भी हैं, विष्णुके अवतार भी हैं और ब्रह्म भी हैं। इसमें शान्तरस का प्राधान्य है। अन्य सभी रस भी प्रसंगानुसार प्रवाहित हैं। इसका लक्ष्य भगवान् रामके चरणोंमें प्रीति प्राप्त कराना और कलियुगके समस्त पापोंका शमन करना है। इसमें संध्या, प्रातः, सूर्य, वर्षा, शरद, पर्वत, नगर, युद्ध, नदी, सरोवर आदिका वर्णन भी किया गया है। इन वस्तुओंके वर्णनसे मानवकी विकास-यात्राके साथ विकसित सभ्यताके स्तरोंका बोध होता है। इसमें खलोंकी निन्दा और सज्जनोंकी प्रशंसा भी की गई है। इसका नामकरण कथा-नायक भगवान् रामकी जीवन-लीलाको ध्यानमें रखकर किया गया है। महाकाव्योंको मर्यादाके भीतर आनेवाली केवल दो बातें 'मानस'में नहीं हैं। एक तो इसकी सर्ग (काण्ड) संख्या सात ही है। दूसरे इसमें ऐसा कोई सर्ग नहीं हैं जिसमें विविध वृत्तों का प्रयोग किया गया हो।

उपर्युक्त बाह्य लक्षणोंके अतिरिक्त 'मानस'में महाकाव्यकी मर्यादाकी रक्षा करनेवाले अन्य आन्तरिक विशिष्ट तत्त्व भी हैं। महाकाव्य 'महत्'की काव्यात्मक उपलब्धि है। 'मानस'का सब कुछ महान् है। भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति, जीवन-मर्यादा, सभ्यता, कला, साधना आदिका सुन्दरतम रूप 'मानस'में सुरक्षित है। 'मानस'का अध्ययन भारतवर्षकी महानतम उपलब्धियोंका अध्ययन है। मानव-कल्याणके लिये युग-युगमें जिन तत्त्वोंकी आवश्यकता हो सकती है, उन्हें हम इसमें एकत्र समन्वित पाते हैं। 'पूर्णमानव'की उपलब्धिके लिये हम युग-युगसे प्रयत्न करते आये हैं। 'रामत्व' उसी पूर्णताका पर्याय है।

'मानस'के अतिरिक्त 'रामललानहछू', 'जानकी मंगल' और 'पार्वती-मंगल'की शैली भी प्रबन्धात्मक है। इन्हें खण्डकाव्य कह सकते हैं। इनमें 'मानस'की तुलनामें प्रौढ़ता की कमी है।

तुलसीकी शेष कृतियाँ मुक्तक काव्यकी सीमामें आती हैं 'गीतावली', 'कृष्ण-गीतावली' और 'विनयपत्रिका' गीति-मुक्तक रचनाएँ मानी गई हैं। गीतिकाव्यकी सबसे बड़ी कसौटी है—'वैयक्तिकता'। सगीतात्मकता, तन्मयता, संक्षिप्तता, भावोंकी एकरूपता, अनुभूतिकी तीव्रता, पद-रचनाकी कोमलता, सहज

उच्छ्वसितता आदि विशेषताएँ तो वैयक्तिकताके अनुसारी परिणाम हैं। इस कसौटीपर एकमात्र 'विनयपत्रिका' ही शुद्ध गीतिकाव्य मानी जा सकती है। 'गीतावली'की रचना राग-रागिनियोंमें हुई है किन्तु इसमें कविके निजी रूपके दर्शन नहीं होते। इसमें भी राम-कथाका ही गान किया गया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्तके शब्दोंमें 'वह तो मूलतः 'पदावली रामायण' या 'पद-बन्ध रामायण' थी, 'गीतावली' नाम तो बादकी कल्पना है।'[1] यही स्थिति 'कृष्णगीतावली'की है। कृष्णके 'लीला-रस' के साथ तुलसीका मानसिक तादात्म्य कम ही कम था। इन दोनों कृतियोंमें कविको विविध पात्रोंकी भूमिकामें स्वयंको रखकर उपस्थित होना पड़ा है।

'विनय-पत्रिका' सच्चे अर्थोंमें एक पत्रिका है। पत्र लिखते समय हम अपनेको व्यक्त करते हैं। जिसके लिये पत्र लिखा जाता है उससे हमारी मानसिक दूरी कमसे कम रहती है। 'विनयपत्रिका' के भी सभी पद शुद्ध गीतिकी सीमामें नहीं आते। प्रारम्भमें गणेश, शिव, दुर्गा, गंगा, यमुना, काशी, चित्रकूट, हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता और रामकी महिमाका गान किया गया है। इसमें कविकी निजी मनःस्थितिके चित्र नहीं हैं। विनय-पत्रिकाके अन्तिम पदोंमें तुलसीका व्यक्तित्व कुछ अधिक निखरा है। तुलसीके समय तक दास्य-भक्तिके भी शास्त्रीय विधि-निषेध बन चुके थे। 'विनय-पत्रिका' का पर्याप्त अंश दास्य-भक्तिकी शास्त्रीय मर्यादाकी रक्षामें लग गया है। यहाँ भी कविने अपनेको कलिमल-ग्रसित जीवकी भूमिकामें प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं यह भूमिका यथार्थताके अति निकट पहुँच गई है और कविकी धूमिल छाया उभर आई है। "कैसे देउँ नाथहिं खोरि", "है प्रभु मेरोई सब दोसु", "कहाँ जाउँ ? कासों कहों ? को सुनै दीन की ?", "मैं तोहिं अब जान्यों संसार।", "गरैगी जीह जो कहौं और को हों।" "मोहिं मूढ़ मन बहुत बिगोयो", "कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?" आदि पदोंमें तुलसीका संघर्षरत व्यक्तित्व झाँक रहा है। तात्पर्य यह कि वैयक्तिकताकी दृष्टिसे 'विनय-पत्रिका' का गीतिकाव्यत्व भी सापेक्षिक दृष्टिसे ही मान्य है।

---

[1] तुलसीदास, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २७३।

'कवितावली' मुक्तक-रचना है। इसमें भी राम-कथाका आधार लिया गया है। इसकी रचना पर्याप्त लम्बी अवधिमें हुई होगी। इसके उत्तरकाण्डमें राम-कथाके वर्णनपर ध्यान नहीं दिया गया है। राम-महिमाका गान ही कविका प्रधान लक्ष्य रहा है। इस काण्ड की दूसरी विशेषता कविकी आत्म व्यञ्जना है। आत्म-व्यञ्जना और सामयिक परिस्थिति-चित्रोंकी दृष्टिसे कवितावलीके उत्तरकाण्डका महत्त्व पूरे तुलसी-साहित्यमें सर्वाधिक है। उत्तरकाण्डमें १८३ छन्द हैं। शेष सभी काण्डोंकी सम्मिलित छन्द-संख्या भी इससे कम है। सन्तुलनका यह अभाव सिद्ध करता है कि यह एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें राम-कथासे सम्बद्ध परुष-भावोंको ही अधिक महत्त्व दिया गया है।

'दोहावली', 'वैराग्य-सन्दीपिनी', 'बरवै रामायण', और 'रामाज्ञाप्रश्न' ये सभी रचनायें मुक्तक शैलीमें ही हैं। दोहावलीमें नाम-माहात्म्य, धर्मोपदेश, नीति-कथन आदिका प्राधान्य है। वैराग्यसंदीपिनीमें सन्त-स्वभाव और सन्त-महिमाका वर्णन किया गया है। 'रामाज्ञा प्रश्न' में रामकथाके साथ ही शकुन विचारकी सामग्री भी प्रस्तुत की गई है। इसका उद्देश्य शकुन विचार ही है। काव्य-कलाकी दृष्टिसे 'बरवै रामायण' का विशेष महत्त्व है। यह रचना भी स्फुट छन्दोंका संग्रह मात्र है। भाव और कलाका इतना सुन्दर संयोग अन्यत्र दुर्लभ है।

अलंकरण—तुलसीकी प्रवृत्ति चमत्कार प्रधान नहीं थी। इसीलिये अलंकारोंके प्रति उनका आग्रह अधिक नहीं था; फिर भी काव्यमें उनकी स्थिति उन्हें मान्य है। यदि उनका काव्य-विषय 'राम-सीय-जस-सलिल' है तो 'उपमा' (अलंकरण) उस सलिलमें 'मनोरस बीचि-बिलास' हैं[१]। 'उपमा'का प्रयोग कविने व्यापक अर्थमें किया है। वह सभी प्रकारके अलंकारोंका उपलक्षण है। उपमाका आधार सादृश्य है। अलंकारोंकी कल्पनाके मूलमें सादृश्य-भावना प्रधान रही है। इसलिए उपमाको 'अलंकारशिरोरत्न' कहा गया है। यों तो तुलसीकी रचनाओंमें सभी अलंकार प्राप्त होते है किन्तु 'उपमा', 'रूपक', 'उत्प्रेक्षा', 'उदाहरण', 'प्रतीप', 'उल्लेख', 'व्यतिरेक', 'अपह्नुति', 'मीलित', 'संभावना', 'सन्देह' आदि अलंकारोंका प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। तुलसीका सर्वप्रिय अलंकार (रूपक) है। 'रूपक'का

---

[१] रामसीय जल सलित सुधासम। उहमा विचिविलास मनोरम।

—मानस, बालकांड, ७९।

प्रयोग वे वहीं करते हैं जहाँ कोई गम्भीर बात विशद और प्रभावोत्पादक ढंगसे कहनी होती है। सादृश्य-मूलक अलंकारोंका महत्त्व ही इसी बातमें है कि वे कथ्यको एक सर्वविदित वस्तुके बिम्बका आधार लेकर सर्व-सुलभ बना देते हैं। 'मानस'का सबसे बड़ा रूपक स्वयं रामचरित-मानस रूपक है। 'रामचरितमानस' (रामायण)के विविध वर्ण्य-विषयोंको सरोवरके विविध उपादानोंके साथ रखकर देखा गया है। सरोवर और उसके उपादान सर्वविदित हैं। उनके माध्यमसे कवि 'चरित-सरोवर'की कल्पनाको अधिक सरलतासे ग्राह्य बना सका है।

तुलसीने किसी अलंकारका प्रयोग मात्र प्रदर्शनके लिये नहीं किया है। कहीं किसी पात्रके स्वभावकी व्यञ्जनाके लिए; कहीं किसी भावकी पूर्ण उद्दीप्तिके लिए, कहीं किसी चित्रको आकार देनेके लिये; कहीं किसी सूक्ष्म-भावनाको स्थूल रूपमें मूर्त करनेके लिये; कभी किसी परिस्थितिके महत्त्वको उभारनेके लिये और कभी किसी एक ही व्यक्तिके प्रति विभिन्न व्यक्तियोंकी मनःस्थितियोंको व्यक्त करनेके लिये उन्होंने विभिन्न अलंकारोंका आधार लिया है। कुछ उदाहरणोंसे इस कथनकी सत्यता सिद्ध हो जायगी। 'दृष्टान्त' और 'उदाहरण' अलंकारोंका प्रयोग प्रायः पात्रविशेषकी सूक्ष्म स्वभावगत विशेषताओंके चित्रणके लिये किया गया है—

सहज सहल रघुबर बचन, कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जल वक्रगति जद्यपि सलिल समान॥

—दृष्टान्त

उपर्युक्त दोहेमें कैकेयीकी कुटिलता व्यक्त करना ही कविको अभीष्ट है। इसीलिए जोंककी वक्रगतिका उदाहरण दिया दया है।

सखिन सहित हरषीं अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥
सीय सुखहिं वरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती॥

—उत्प्रेक्षा

उर्युक्त चौपाइयोंमें 'हर्ष' और 'सुख'की व्यञ्जनाके लिये 'उत्प्रेक्षा'का आधार लिया गया है।

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौं
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।

× × ×

तुलसी सुरेस-चाप कैधौं दामिनी कलाप,
कैधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।
—सन्देह-गर्भित उत्प्रेक्षा

यहाँ ज्वाल-जाल युक्त विशाल बालधीकी चित्र-कल्पनाको साकार करनेके लिये ही सन्देहगर्भित उत्प्रेक्षाका प्रयोग किया गया है।

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
त्यों रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥
—उपमा

उपर्युक्त दोहेमें रामके प्रति तुलसीकी उष्ण और उत्कट प्रेम-भावनाको मूर्त करनेके लिए ही 'उपमा'का आधर लिया गया है। यहाँ 'धर्म'की समताका औचित्य उसकी उत्कटताके आधारपर ही सिद्ध किया जा सकता है।

"पुनि आउब एहि बेरियाँ काली। अस कहि मन विहसी एक आली।"

उपयुक्त चौपाईमें 'काकुवक्रोक्ति'का प्रयोग किया गया है। यहाँ कविका लक्ष्य एक विशिष्ट क्षणके महत्त्वको उभारना है। रामके भुवनमोहन सौन्दर्यके गम्भीर प्रभाव के कारण सीता आत्म-विस्मृतिकी स्थितिमें हो गई हैं। परिस्थितिकी यह गम्भीरता चतुर सखीकी उक्तिवक्रतासे व्यञ्जित की गई है।

देखहिं रूप महा रनधोरा। मनहुँ वीर रसु धरें सरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छल छोनिप वेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा।
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषन लोचन सुख दाई॥
—उल्लेख

उपर्युक्त चौपाइयोंमें उल्लेख अलंकारका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इसके द्वारा 'राम'के प्रति विभिन्न व्यक्तियों की धारणा स्पष्ट हुई है।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रकट है कि तुलसी ने अलंकारोंका प्रयोग परिस्थिति-गत औचित्यको ध्यानमें रखकर किया है। 'बरवै रामायण'में उनकी मनोवृत्ति कुछ अधिक कलात्मक हो गई है। इसलिये उसके दो-एक छन्दोंमें चमत्कार प्रियता

झलकती है।[१] कदाचित् ऐसा इसलिये हुआ कि 'बरवै रामायण'का कोई गम्भीर उद्देश्य नहीं था। उसकी रचना अलंकारोंको उदाहृत करनेके लिये ही हुई होगी।

शब्द-संघटन—(पद-रचना) भावानुभूतिको सुन्दर ढंगसे व्यक्त करनेके लिये शब्द-संघटनपर ध्यान देना आवश्यक है। विशिष्ट पद-रचनाका भाव-सौन्दर्यसे अनिवार्य सम्बन्ध है। 'रीति'को काव्यकी आत्मा माननेका यही रहस्य है। तुलसीका काव्य-विषय व्यापक, गम्भीर तथा पूर्ण जीवनको व्यक्त करनेमें समर्थ है। अतः अनिवार्यतः उनका शब्द-संघटन व्यापक आधारपर प्रतिष्ठित है। आचार्य भिखारीदासने तुलसी-साहित्यमें विविध-भाषा-शब्दोंकी स्थितिको उनके गौरवके अनुकूल माना है।[२] राजशेखरने काव्यमीमांसामें काव्यपुरुषकी कल्पना करते हुये 'संस्कृत'को उसका मुख, 'प्राकृत'को बाहु, 'अपभ्रंश'को जघन, 'पैशाची' को पैर तथा भाषाके मिश्र रूपको उसका उरु बताया है[३]। इससे प्रकट है कि काव्य-पुरुषकी कल्पनामें भाषाकी विविधताका महत्त्वपूर्ण स्थान मान्य है। इस दृष्टिसे 'तुलसी' का महत्त्व हिन्दी-कवियोंमें अधिक बढ़ जाता है। उनके काव्योंमें 'शुद्ध संस्कृत', 'प्राकृत, 'अपभ्रंश', 'व्रजी', 'अवधी' 'बुन्देलखण्डी', 'राजस्थानी', 'भोजपुरी' और 'खड़ीबोली' आदिके साथ ही अरबी-फारसी जैसे विदेशी भाषा-शब्दोंका प्रयोग भी हुआ है। आज भी हिन्दी-भाषाके कोश-निर्माणमें उपर्युक्त सभी भाषाओंसे शब्द-ग्रहण करना ही समीचीन माना गया है।

विषयके अनुकूल भाषाको समृद्ध करनेके साथ ही भावानुकूल-शब्द-सौष्ठवपर भी तुलसीने पर्याप्त ध्यान दिया है। 'शृंगार'रसकी निष्पत्तिमें माधुर्य गुण विशेष सहायक होता है। 'करुण' और 'शान्त'रसों की अभिव्यक्तिमें भी यह उपकारक होता है। माधुर्य गुणके लिये 'टवर्ग'के वर्ण, 'र'के संयोगसे बने शब्द तथा समास

---

[१] विविध बाहिनी बिलसति सहित अनन्त।
जलधि सरिस को कहै राम भगवन्त॥ —बरवै रामायण।

[२] तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार॥ —भिखारीदास।

[३] "शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृत मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्"।
—काव्यमीमांसा, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, पृष्ठ ६।

बहुल पदावली वर्जित है। गीतावलीमें कोमल भावोंको ही प्रधानता दी गई है। इसीलिये इस कृतिमें माधुर्य गुण-युक्त पदावलीका ही प्रयोग किया गया है। ओज गुण-युक्त पदावली 'वीर' 'रौद्र' और 'बीभत्स' रसोंके अनुकूल पड़ती है। 'कवितावली' परुष भावोंसे युक्त रचना है। अतः इसमें ओज गुणका प्राधान्य है। 'प्रसाद गुण' सामान्यतः सभी रसोंका उपकारक है। 'मानस' में प्रसाद गुणपर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। यों, इस महान् कृतिकी भाषामें सभी गुण मिल जाते हैं क्योंकि इसमें सभी रसोंकी निष्पत्ति हुई है।

डॉ० रामकुमार वर्माने तुलसीकी पदरचना-सम्बन्धी एक अन्य विशेषताकी ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है। वे वर्ण-मैत्रीके आधारपर अर्थ-चमत्कार उत्पन्न करनेकी बात कहते हैं। उदाहरणके लिये—

> जौं पटतरिय तीय महुँ सीया। जग अस जुबति कहाँ कमनीया।
> गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥

इन चौपाइयोंमें कवि सरस्वती पार्वती, और रति तीनोंको सीतासे हीन (लघु) प्रदर्शित करना चाहता है। अतः उसने तीनोंके साथ लघु वर्णोंकी योजना की है।[1] वर्ण-मैत्रीका यह स्वरूप साभिप्राय प्रस्तुत किया गया होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता। अन्यत्र भी उपमानोंको हीन दिखाया गया है किन्तु सर्वत्र ऐसी विशेषता नहीं लाई गई है। जो कुछ भी हो, यह तो मानना ही होगा कि तुलसीको भाषापर अपार अधिकार है। मध्ययुगका अन्य कोई कवि भाषाकी इतनी शक्ति लेकर काव्य-क्षेत्रमें अवतीर्ण नहीं हुआ था। शब्द-भाण्डारकी विशालताके साथ ही कथ्यके अनुकूल वाक्य-विन्यास, शब्द-चयन, लोकोक्तियों और मुहावरोंका उचित प्रयोग, नाद-सौन्दर्य एवं चित्रमयता तुलसीकी भाषाकी प्रमुख विशेषतायें हैं।

---

[1] गिरा = **मुखर** (मुखर शब्दमें सभी अक्षर लघु हैं।)
भवानी = **तनु अरध** (इसमें भी सभी अक्षर लघु हैं।)
रति = अति दुखित अतनु पति जानी (तुकान्तको छोड़कर सभी अक्षर लघु हैं)
—हिन्दी-साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ४६१।

कुछ उदाहरण लीजिए—

सहज वाक्य-विन्यास—अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे।

—कवितावली

मुहावरोंका प्रयोग—रेख खँचाइ कहउँ बलु भाषी। भामिनि भइहु दूध कइ माखी।

—मानस

शब्द-चयन—फटिक सिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु तमाल
ललित-लता-जाल हरति छबि बितान की।

—गीतावली

नाद-सौंदर्य—कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि।

—मानस

चित्रमयता—सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे।
पीत बसन कटि, चारु चारि सर, चलत कोटि नट सो तृन-तोरे।
स्यामल तनु स्रम-कन राजत ज्यों नव घन सुधा-सरोवर खोरे।
ललित कंध, बर भुज, बिसाल उर, लेहि कंठ-रेखैं चित चोरे।
अवलोकत मुख देत परम सुख लेत सरद-ससि की छबि छोरे।
जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गौं हैं तकत सुभौंह सकोरे।
सोभा अमित समाति न कानन, उमगि चली चहुँ दिसि मिति फोरे।
चितवत चकित कुरंग कुरंगिनि सब भए मगन मदन के भोरे।
तुलसिदास प्रभु बान न मोचत, सहज सुभाय प्रेम बस थोरे।

—गीतावली

छन्द-योजना

तुलसीने अपनी कृतियोंमें विविध प्रकारके मात्रिक और वर्णिक वृत्तोंका प्रयोग किया है। यद्यपि उनकी प्रवृत्ति छन्दोंके ज्ञान-प्रदर्शनकी नहीं थी; किन्तु उनकी सभी रचनाओंमें कुल मिलाकर लगभग २८ प्रकारके छन्द प्रयुक्त हुये हैं।

रामचरितमानसमें—दोहा, सोरठा, चौपाई, चौपैया, तोमर, डिल्ला, त्रिभङ्गी, हरिगीतिका आदि मात्रिक तथा अनुष्टुप (श्लोक) इन्द्रवज्रा, तोटक,

नगस्वरूपिणी, भुजंगप्रयात, मालिनी, रथोद्धता, वसंततिलका, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीड़ित, स्रग्धरा आदि वर्णिक वृत्तोंका प्रयोग हुआ है।

कवितावलीमें—कवित्त, छप्पय, सवैया, झूलनाका प्रयोग किया गया है।

बाहुकमें—घनाक्षरी, छप्पय, मत्तगयन्द और झूलनाका प्रयोग किया गया है।

बरवैरामायणमें—'बरवै' छन्द प्रयुक्त है।

जानकीमंगल और पार्वतीमंगलमें 'अरुण' और 'हरिगीतिक'का प्रयोग हुआ है। रामललानहछूमें 'सोहर' छन्द प्रयुक्त है।

रामाज्ञाप्रश्न, सतसई और दोहावलीमें 'दोहा' छन्द प्रयुक्त है।

वैराग्यसंदीपनीमें 'दोहा' 'सोरठा' और 'चौपाई'का प्रयोग हुआ है। गीतावली, श्रीकृष्णगीतावली, और विनयपत्रिका पदशैलीमें लिखी गई हैं। इनकी रचना राग-रागिनियोंके आधारपर हुई है। छन्द-शास्त्रकी दृष्टिसे देखा जाय तो इन पदोंमें कई प्रकारके छन्दोंका आभास हो सकता है। इस प्रकार यह तो निर्विवाद है कि तुलसीको छन्द-शास्त्रका अच्छा ज्ञान था। उन्होंने कुछ सोच-समझकर ही कहा था—

> आखर अरथ अलंकृत नाना। छंद प्रबंध अनेक बखाना॥
> भाव-भेद रस-भेद अपारा। कबित दोष गुन विविध प्रकारा॥

उन्हें काव्य-शास्त्रके विविध अंगोंका पूर्ण ज्ञान था किन्तु इनका प्रदर्शन उनका ध्येय नहीं था। उन्होंने वर्ण्य-विषयको दृष्टिमें रखकर उसके अनुकूल ही छन्दों का प्रयोग किया है। उनका एकमात्र उद्देश्य अभिव्यक्तिकी पूर्णता है। भाषा, शैली, छन्द, गुण, रीति, अलंकार, उक्तिवैचित्र्य ये सभी उसकी पूर्णतामें सहायक हैं। इसलिये समर्थ कविकी रचनामें ये स्वतः साधन बनकर उपस्थित होते हैं। रससिद्ध कवि तुलसीकी रामभ्रमर-भूषित कवितामञ्जरीमें भी ये सभी उपकरण अभिव्यक्तिको पूर्ण और सुन्दर बनानेके लिये सहज रूपमें संघटित हैं।

तुलसी का समाज-दर्शन

तुलसी-साहित्यका जितना महत्व आध्यात्मिक दृष्टिसे है, उससे कम महत्त्व लौकिक या सामाजिक दृष्टिसे नहीं है। तुलसीका भक्ति-मार्ग ठोस सामाजिक दर्शन पर आधृत है। उन्होंने सामाजिक समस्याओंकी कहीं भी उपेक्षा नही की

है। 'रामचरितमानस' का प्रारम्भ ही संसारकी 'दारुणविपत्ति' के वर्णन और प्रभु द्वारा उसके निवारणकी संभावनासे हुआ है। तुलसीके सामने एक ऐसा समाज है जिसमें शासक स्वेच्छाचारी है। शासन हिंसा पर आधृत है। अनीति और अत्याचार ही शासक वर्गके क्रिया-कलाप हैं।[१] सारा संसार आचरण-भ्रष्ट हो गया है।[२] धर्मके निर्मूलनके लिये सभी प्रकारके प्रयत्न किये जाते हैं।[३] जप, तप, भक्ति, योग, वैराग्य, यज्ञ आदि धार्मिक कार्य समाप्त हो गये हैं।[४] चोरों, जुआरियों, और लम्पटों की वृद्धि हो रही है।[५] धर्मकी अत्यधिक ग्लानि देखकर पृथ्वी व्याकुल हो गई है।[६] समाजका यह रूप उन्हें मान्य नहीं है। समाजका जो आदर्श रूप उनकी मानसिक कल्पनामें साकार था उसका विस्तृत वर्णन उन्होंने राम-राज्यकी स्थापनाके रूपमें किया है। राम-राज्य वर्णनके प्रसंगमें तुलसीका समाज-दर्शन व्यावहारिक रूपमें सामने आता है। तुलसीने परम्परागत भारतीय समाज-व्यवस्थाके अन्तर्गत ही अपने युगकी समस्याओंका समाधान प्राप्त करनेकी चेष्टाकी है। भारतीय समाज-व्यवस्थाकी सबसे बड़ी उपलब्धि वर्णाश्रम धर्म है। राम-राज्यकी स्थापनाके साथ ही तुलसीने वर्णाश्रमधर्मकी पूर्ण प्रतिष्ठाकी है।[७] आश्रम धर्ममें (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, सन्यास) क्रमशः

---

[१] बरनि न जाइ अनीति, घोर निशाचर जे करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्हके पापन कवन मिति।
—मानस, पृ० १८५।

[२] अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
—वही, पृ० १८५।

[३] जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला, । सो सब करहिं वेद प्रतिकूला।
—वही, पृ० १८५।

[४] नहिं हरि भगति जग्य तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिअ न वेद पुराना।
—वही, पृ० १८५।

[५] बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा।
—वही, पृ० १८५।

[६] अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी।
—वही, पृ० १८६।

[७] बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग,
—वही, पृ० ८९२।

व्यक्तित्वके उन्नयनका विधान है। वर्णव्यवस्था सामाजिक मर्यादा एवं लोकहितकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। यह व्यवस्था अपने वास्तविक रूपमें ऐसे समाजमें ही प्रतिष्ठित हो सकती थी जिसमें परपस्र भेद-भाव न हो। इसीलिये तुलसीके आदर्श समाजमें– कोई किसीसे वैर नहीं करता। इस समाजमें विषमता समाप्त हो गई है।[१] सब लोग परस्पर प्रेम करते हैं। श्रुति-नीति का अनुसरण करते हुये अपने धर्मका पालन करते हैं। न कोई दरिद्र है न दुखी न दीन। न कोई मूर्ख है न कुलक्षण।[२] कहनेकी आवश्यकता नहीं कि तुलसी द्वारा चित्रित यह समाज महात्मा गांधीके 'सर्वोदय समाज' के कितने निकट है। गांधीके सर्वोदय समाजका आधार भी भौतिक नहीं आध्यात्मिक है। वे सत्य और अहिंसाके बलपर सर्वोदयका स्वप्न देख सके हैं। सर्वोदय समाजमें व्यक्ति सभी प्रकारके शोषणसे मुक्त माना गया है। उसकी सभी आर्थिक आवश्यकताओंकी पूर्तिकी सम्भावना की गई है।[३] यही नहीं सर्वोददय समाजमें सभीके चरम कल्याणको लक्ष्य रूपमें स्वीकार किया गया है।[४] तुलसीने भी सभीके कल्याणका चित्र प्रस्तुत किया है। उनके सर्वोदयका आधार भी आध्यात्मिक है। जिस समताकी बात तुलसीने की है वह रामके प्रतापसे स्थापित होती है। 'राम' मानवताके चरम विकसित आध्यात्मिक गुणोंकी समष्टि हैं जो पीड़ितोंके हितके लिये अवतार

---

१. बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।
—मानस, उत्तरकाण्ड।

२. सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।
× × ×
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।
—मानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ८९२।

३. The Sarvodaya Samaj of Gandhiji is based on Truth and nonviolence in which the individual enjoys freedom from exploitation and fulfilment of economic needs.
—*Social Philosophy of Mahatma Gandhi*. p. 312.

४. He calls it 'Sarvodaya Samaj' in which 'The Greatest good of all' is the end.
—वही, पृ० ४५।

लेते हैं। लोक पीड़कोंका मूलोच्छेद करनेके लिये कटिबद्ध रहते हैं। जिनका प्रत्येक आचरण नीति-युक्त होता है। जो सदैव धर्म-रथपर आसीन रहते हैं। जो मर्यादावादी हैं। यह होते हुये भी तुलसीके रामराज्यको आजकी आदर्श समाजवादी व्यवस्थाके साथ रखकर नही देखा जा सकता। आजका समाजवादी पूँजीपति और उसके द्वारा स्थापित पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति सदैव शत्रुभाव रखता है।[१] रामराज्यमें कोई किसीसे बैर नहीं करता, किसीका स्वार्थ दूसरेसे नहीं टकराता। रामराज्यमें प्रतिष्ठित सामाजिक समता वर्ग संघर्षका परिणाम नहीं है वह रामके व्यक्तित्वके प्रभाव स्वरूप स्थापित हुई है जिसमें चारों वर्णोंकी स्थिति मान्य है। गाँधी भी वर्णव्यवस्थामें विश्वास करते हैं और उसे ही सच्चा समाजवाद मानते हैं।[२] किन्तु उनकी वर्णव्यवस्थाका आधार जन्म नहीं कर्म है। वे वर्ण-परिवर्त्तनमें विश्वास करते हैं। जन्म-जात ब्राह्मण उनकी दृष्टिमें तभी ब्राह्मण मान्य हो सकता हैं जब बड़ा होनेपर वह ब्राह्मणत्व (ब्राह्मणोचित गुण) प्राप्तकरले।[३] तुलसी इस सीमा तक नहीं जा सकते थे। उनके सामने यह प्रश्न ही नहीं था। ब्राह्मण जब विधिवत् अपने धर्मका पालन करेगा तो ब्राह्मणत्व अवश्य प्राप्त करेगा। सभी वर्णोंके लोग जब अपने परम्परागत

---

[१] The Socialists out-look must be one of persistent-hostility to the capitalists and their economic system; his whole life should be coloured by this out-look.

—*Recent Political Thought*, p. 142.

[२] We have submitted, earlier, that Gandhiji who is so proud of calling himself a Hindu conceives of social relations based on this law of Varna and calls it true socialism.

—*Social Phi. of M. Gandhi*, p. 252.

[३] Varna is determined by birth but can be retained only by observing its obligations. One born of Brahman parents will be called Brahman, but if his life fails to reveal the attributes of Brahman when he comes of age, he can not be called a Brahman.

—वही, पृ० २५३।

कार्योंमें लगे रहेंगे तो परस्पर स्वार्थगत संघर्ष भी न होंगे। कदाचित् ब्राह्मण संस्कृतिके उच्च आदर्शोंसे पूर्ण प्रभावित तुलसीका मन यह माननेको तैयार नहीं था कि शूद्र भी नाना प्रकारके जप-तप और व्रत करें तथा ऊँचे आसनपर बैठकर पुराणोंका उपदेश दें।[1] वे प्रत्येक व्यक्तिको अपनी मर्यादाका पालन करते हुये देखना चाहते हैं। उनके द्वारा चित्रित समाजमें प्रत्येक व्यक्तिका सामाजिक मूल्य निर्धारित है। निषाद, केवट, कोल-किरात, शबरी, गीध (जटायु) आदि निम्नवर्गीय तथा, वशिष्ठ. राम, जनक आदि उचवर्गीय सभी प्रकारके पात्र अपनी सामाजिक स्थितिके प्रति सचेष्ट और सजग हैं। उदाहरणके लिए—

(क) निषादराज मुनि वशिष्ठको अपना परिचय देते हुये दूरसे ही प्रणाम करते हैं।

(ख) केवटके गूढ़-प्रेमकी सार्थकता रामके पद-पखारनेमें ही है।

(ग) कोल-किरात आदि बनचर अपनी सामाजिक हीनतासे भलीभाँति अवगत हैं—

'तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा। पावा दरसनु राम प्रसादा'[2] ॥

(घ) शबरी जानती है कि वह अत्यन्त नीच जाति और मूढ़ बुद्धिवाली है—
"केहि विधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी[3]॥"

(ङ) गीध तो पक्षियोंमें भी अधम और मांसाहारी है—

'गीध अधम खग आमिष भोगी'[4]।

इसी प्रकार गुरु वशिष्ठ दशरथ-मृत्यु और राम-बनवासके पश्चात् अपने विज्ञानके प्रकाशसे सभीका शोक निवारण करके और स्वयं राज-कार्य संचालन करते हुये अपनी राजनैतिक एवं सामाजिक श्रेष्ठताका प्रमाण देते हैं। राम सदैव बड़ोंको आदर और छोटोंको स्नेह प्रदान करते हैं। चित्रकूटमें जनकके पहुचने-

---

१. सूद्र करहिं जप-तप-व्रत नाना। बैठि बरासन करहिं पुराना ॥
—मानस, उत्तरकांड, पृ० ९६०।

२. मानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ५३२।

३. मानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६३९।

४. मानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६२८।

पर समस्याके समाधानका दायित्व उन्हींपर छोड़ा जाता है। इस प्रकार उनकी सामाजिक श्रेष्ठता स्वीकार की जाती है। भरतजी तो एक साथ ही जनक और गुरुको पितासे भी श्रेष्ठ स्थान प्रदान करते हैं—

> प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुलगुरु सम हित माय न बापू ॥[1]

तुलसीके समाज-दर्शनका आधार यही सामाजिक मर्यादा है। समाजके अन्तर्गत अनेक स्तर उन्हें मान्य हैं किन्तु उन्होंने इन विविध स्तरोंको प्रेमके आधारपर सम-भूमिपर प्रतिष्ठित किया है। प्रेमके क्षेत्रमें सभी समान धरातलपर हैं। राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, ऊँच-नीच की सामाजिक सत्ता ही नहीं रहेगी ऐसी कल्पना मध्य-युगमें नहीं की जा सकती थी। तुलसीने जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्थाकी परम्परागत मान्यताको स्वीकार करके उसीके अन्तर्गत अपने युगकी सामाजिक समस्याओंको सुलझानेकी चेष्टा की उसी प्रकार राजतन्त्रकी प्राचीन परम्पराको स्वीकार करके एक वृहत् सुशासित साम्राज्यके अन्तर्गत ही राजनैतिक समस्याओंका समाधान देनेका प्रयत्न किया।[2] इसके लिये एक ओर तो उन्होंने राजामें आदर्श गुणोंकी प्रतिष्ठा की दूसरी ओर प्रजामें राजाके प्रति पूर्णनिष्ठाकी भावना जाग्रत की। आदर्श राजा साधु, सुजान और सुशील होता है।[3] उसके अनीतिमय आचरणपर प्रजाको बोलनेका अधिकार होता है। उसे प्रजाके दुःखका सदैव ध्यान रहता है।[4] वह स्वेच्छाचारी नहीं होता[5]। वह सभीको समान दृष्टिसे देखता है[6]। वह अवसरके अनुकूल साम, दाम, दण्ड, भेद सभी

---

[1] मानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ५६६।

[2] भूमि सप्तसागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला।
—मानस, उत्तरकाण्ड ८९२।

[3] साधु सुजान, सुशील नृपाला।

[4] जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

[5] जो पाँचहिं मत लागइ नीका। करहु हरषि हिय रामहिं टीका।
जौं अनिति कछु भाखौं भाई। तो मोहि बरजहु भय बिसराई।

[6] मुखिया मुख सो चाहिये खान पान को एक।
—दोहावली, दोहा ४२२।

नीतियोंका प्रयोग करता है[१]। वह लोक-पीड़कोंके नाशके लिये सदैव सन्नद्ध रहता है[२]। वह अपनी सफलताओंका श्रेय अपने सहयोगियोंको देता है।[३] अपनी जन्म-भूमिके प्रति अगाध श्रद्धा रखता है।[४] गुरु-जनोंका सम्मान करता है।[५] ऐसे राजामें ईश्वरका अंश मान्य होना चाहिये।[६] ऐसे राजाके प्रति प्रजामें पूर्ण भक्ति और निष्ठाका होना स्वाभाविक है। प्रजा-वत्सल रामके राजा होनेपर अयोध्यावासी जहाँ-तहाँ उनका गुण-गान करते हैं और परस्पर एक-दूसरेको उनके प्रति भक्ति-भाव रखनेकी शिक्षा देते हैं।[७] गांधीके सर्वोदय-समाज और तुलसीके आदर्श-समाजमें दो अन्य अन्तर भी हैं जिन्हें सदैव दृष्टिमें रखना चाहिये। सबसे बड़ी बात यह है कि गाँधी आधुनिक बुद्धिवादके प्रभावसे नहीं बच सके हैं। इसीलिये वे वर्ण-परिवर्त्तनमें विश्वास करते हैं। बुद्धिवादके प्रभावके कारण ही वे ब्राह्मणको तबतक ब्राह्मण नहीं मानते जबतक उसमें ब्राह्मणोचित गुण न हों। तुलसी परम्परागत सामाजिक मर्यादाको अक्षुण्ण रखना चाहते हैं। वे वेद-विहीन ब्राह्मणको भी पूज्य घोषित करते हैं और सर्व-कला प्रवीण शूद्रको भी त्याज्य मानते हैं।[८] उनकी इस मान्यताके मूलमें मध्ययुगका श्रद्धामूलक दृष्टिकोण ही कार्य करता हुआ प्रतीत होता है। दूसरा बड़ा अन्तर यह है कि तुलसीको समाजमें संघर्षकी संभावना केवल शासक और शासितमें ही लक्षित होती है। पूँजीवादी वर्गके शोषणकी चेतना उन्हें नहीं थी। वे शासकको

---

[१] साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा।

[२] निसिचर हीन करौं महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।

[३] तुम्हरे बल मैं रावन मारा।

[४] अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ।

[५] अति आदर रघुनायक कीन्हा। पदपखारि पादोदक लीन्हा।

—मानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ९१४।

[६] ईस अंश भव परम कृपाला।

[७] जहँ-तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परस्पर इहइ सिखावहिं।
भजहु प्रनत प्रति पालक रामहिं। सोभा सील रूप गुन धामहिं॥

[८] सापत ताड़त परुष कहंता। विप्र पूज्य अस गावहिं संता।
पूजिअ विप्र सील गुण हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना।

—मानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६३८।

ही शोषक के रूप में भी देखते हैं।[१] गाँधीजी पूँजीवादी वर्गके शोषणसे पूर्णतः अवगत हैं और उसकी उपस्थितिको अहिंसा मार्गकी सबसे बड़ी बाधा मानते हैं।[२] यहाँ भी तुलसीकी सीमायें हैं। मध्ययुग सामन्तीय युग था। पूँजीवादी वर्गका सामाजिक जीवनपर जो प्रभाव आज है, उस समय नहीं था। पूँजीवाद मशीनयुगकी उपज है। तात्पर्य यह है कि तुलसीका राम-राज्य ठीक वही नहीं है जो गाँधीका 'सर्वोदय समाज' या 'रामराज्य'। समता यह है कि दोनों परम्परागत भारतीय समाज-व्यवस्था की सीमाओंमें ही अपने युगकी समस्याओंका समाधान देना चाहते हैं। दोनों ही नैतिक और आध्यात्मिक मूल्योंको महत्त्व देते हैं। दोनों वर्ण-व्यवस्थाका समर्थन करते हैं। आदर्श समाज-व्यवस्थाकी प्रतिष्ठा दोनों ही राम-राज्यके आदर्शपर करना चाहते हैं। किन्तु तुलसीकी चेतना मध्ययुगकी सीमाओंका उल्लंघन नही कर सकती थी। साथ ही गाँधीकी दिव्य दृष्टि सुदूर अतीत लोककी आदर्श-भावनाको परिकल्पित करती हुई भी वर्तमान युग-जीवनकी उपेक्षा नहीं कर सकती थी। इसीलिये वे विभिन्न वर्गोंकी सामाजिक मर्यादाकी समता उनके द्वारा किये जानेवाले श्रमकी समान महत्ताके आधारपर प्रतिष्ठित करते हैं।[३] जबकि तुलसी भक्ति और प्रेमके क्षेत्रमें ही सभी वर्गोंकी समताकी बात करते हैं। सभी लोगोंको भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेका समान अधिकार है किन्तु जीवनके अन्य क्षेत्रोंमें इस समताकी बात तुलसीदासजी नहीं

---

१. द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।
—मानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ९५८।

२. The greatest obstacle in the path of nonviolence is the presence in our midst of the indigenous interests that have spring up form British rule, the interests of monied men, speculators, scripholders, landholders factory-owners and the like.

—*Social Philosophy of Mahatma Gandhi*, p. 189.

३. A lawyer's work has the same value as a barber's in as much as all have the same right of earning their livelihood from their work.

—वही, पृ० १८८।

करते।[1] 'विषमता खोने'की बात अवश्य करते हैं; किन्तु यह 'विषमता खोनेकी बात' कदाचित् इसी अर्थमें मान्य है कि स्वार्थगत संघर्षोंकी सम्भावना न होनेसे कोई किसीसे विद्वेष नहीं करता।

संयुक्त परिवार (कुटुम्ब) की परम्परा भारतीय समाज-व्यवस्थाका मूलाधार रही है। वर्ण-व्यवस्थाके साथ ही सम्मिलित कुटुम्बकी मर्यादाका पालन भारतीय धर्मशास्त्रोंमें अनिवार्य माना गया है। तुलसीने रामके परिवारके रूपमें आदर्श कुटुम्बका चित्र प्रस्तुत किया है। तुलसीका आदर्श कुटुम्ब मुख्यतः चार बातोंपर आधृत है। (क) **एक पत्नीव्रत और एक पतिव्रत**। इस नियमका पालन न केवल रामके परिवारमें होता है, वरन् राम-राज्य में पुरुष मात्र एक पत्नीव्रती हैं और स्त्रीमात्र मन-वचन-कर्मसे पति-हितमें रत हैं।[2] (ख) **पूज्यों और गुरु-जनोंके प्रति सेवा और सहयोगकी भावना**। रामके प्रति सभी छोटे भाई पूज्य बुद्धि रखते हुये उनकी सेवा करते हैं।[3] (ग) **बड़ोंका छोटोंके प्रति स्नेह**। भगवान् राम अपने सभी छोटे भाइयोंसे स्नेह करते हैं और उन्हें नाना-प्रकारकी नीतियोंका उपदेश करते हैं।[4] (घ) **स्वावलम्बन**—यद्यपि रामके महलमें सेवा-विधिमें कुशल अनेक दास-दासियाँ हैं किन्तु सीता गृहपरिचर्याका सारा कार्य स्वयं करती हैं।[5]

उपर्युक्त विवेचनके आधारपर यह कहा जा सकता है कि तुलसीके समाज-

---

[1] पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि मोहि मरम प्रिय सोइ।
—मानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ९४८।

[2] एकनारि व्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी।
—उत्तरकाण्ड, पृ० ८९३।

[3] सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम चरन रति अति अधिकाई।
—उत्तरकाण्ड, पृ० ८९५।

[4] राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती।
—उत्तरकाण्ड, पृ० ८९५।

[5] जद्यपि गृहं सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी।
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई।
—उत्तरकाण्ड, पृ० ८९५।

दर्शनका मूल आधार वर्ण-व्यवस्था, आश्रम धर्म, आदर्श राजतन्त्र, एवं सम्मिलित कुटुम्ब-परम्परा है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा भी इन्हीं सामाजिक संस्थाओंको मान्यता देती आई है। तुलसीने अपने युगमें इन सभी संस्थाओंको छिन्न-भिन्न होते देखा था उन्हें हार्दिक ग्लानि हुई थी और उन्होंने इनके आदर्श लोक-सम्मत रूपकी प्रतिष्ठा राम-राज्य के चित्रणके माध्यमसे की थी।

तुलसीका नारी विषयक दृष्टिकोण—'मानस'में अनेक अवसरोंपर तुलसीने नारी-निन्दाकी है। दशरथ नारीका विश्वास करके पश्चाताप करते हैं।[१] अयोध्या-वासी नारी स्वभावको अग्राह्य और अज्ञेय मानते हैं।[२] भरत जैसा पवित्र व्यक्ति नारीको 'सकल कपट अघ अवगुन खानो' कहता है।[३] रावण स्त्रियोंमें आठ अवगुणों—साहस अनृत, चपलता, माया, भय, अविवेक, अशौच, अदाया—की स्थिति शाश्वत मानता है।[४] सती अनुसूया नारीको 'सहज अपावनि' मानती हैं।[५] शबरी नारीको अधमों में अधम मानती है।[६] समुद्र नारीको ढोल, गवाँर, और शूद्रों की कोटिमें रखता है।[७] भगवान् राम स्वयं नारीको साक्षात् माया-मूर्ति मानते हैं और उसे सभी अवगुणोंकी मूल तथा दुःखोंकी खानि कहते हैं।[८] गौतम-पत्नी अहल्या 'मैं नारि अपावन' कहकर अपना परिचय देती है।[९] यह कहना कि ये कथन तुलसीदासके न होकर परिस्थिति विशेषमें पड़े हुए व्यक्तियोंके समझने चाहिये'[१०] अधिक युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। जब विविध पात्रोंके कथनोंके आधारपर तुलसीके राजनीतिक विचारोंका अध्ययन किया जा सकता है तो कोई कारण नहीं है कि इन पात्रों

---

१. कवने अवसर का भएउ गएउँ नारि बिस्वास।

२. सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगमु अगाध दुराऊ।

३. 'मानस' अयोध्याकाण्ड, पृ० ४६२।

४. 'मानस' लंकाकाण्ड, पृ० ७५३।

५. 'मानस', अरण्यकाण्ड, दो० नं० ५ (क) पृ० ६०२।

६. 'मानस', अरण्यकाण्ड, पृ० ६३९।

७. 'मानस', सुन्दरकाण्ड, पृ० ७३६।

८. 'मानस', अरण्यकाण्ड, दो० ४३-४४, पृ० ६४३, ६४९।

९. 'मानस' बालकाण्ड, पृ० २०८।

१०. हिन्दी-साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४४८।

द्वारा व्यक्त नारी-विषयक विचारोंके दायित्वसे तुलसीको अलगकर दिया जाय। तुलसी विशिष्ट नारी-पात्रों—कौशल्या, सुमित्रा, सीता, तारा, मन्दोदरी—की श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं किन्तु सामान्य नारी जातिके प्रति उनके विचार ठीक वही हैं जो मध्ययुगके अन्य सन्तों और महात्माओंके। वस्तुतः पूर्व-वैदिककाल और उत्तर वैदिककालमें समाजमें स्त्रियोंका गौरवपूर्ण स्थान था। ऋग्वेदमें नारी अर्थवाचक 'मेना' शब्दका प्रयोग हुआ है। यास्कके अनुसार पुरुष इनका आदर करते हैं अतः स्त्रियोंको मेना कहते हैं।[1] लौकिक संस्कृतमें मान्या शब्द इसी मेनासे बना है। सूत्रों, महाकाव्यों और स्मृतियोंके युगमें स्त्रियोंकी स्थिति पुरुषोंके समकक्ष न रही। मनुस्मृतिमें नारी-स्वातन्त्र्यका घोर विरोध किया गया है।[2] सम्भवतः इसका कारण शकों और सीथियनोंका आक्रमण रहा हो। इसके पश्चात् भाष्योंकी रचनाके युगमें (५०० से १८०० ई० तक) क्रमशः स्त्रियोंकी सामाजिक स्थितिके ह्रासोन्मुख होनेके प्रमाण मिलते हैं। यह युगभी विदेशी आक्रामकोंका युग रहा है। शकों और हूणोंके व्यापक आक्रमणसे भारतीय सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी थी। राजपूतकाल और मुसलमानी शासनकालमें स्त्रियोंको शिक्षा, सामाजिक मर्यादा एवं अन्य सभी प्रकारके संस्कारोंसे वञ्चित होना पड़ा। प्रकट है कि स्त्रियोंकी हीनावस्थाका आरंभ बाहरी आक्रमणोंके साथ ही होता है। इन आक्रमणोंसे आत्म-रक्षाकी भावना प्रधान हुई और हमारा सामाजिक दृष्टिकोण संकुचित होने लगा। तुलसीदासजीके नेत्रोंके सामने जो युग-चित्र उपस्थित था वह हमारी हीनावस्थाका था। बराबर घरोंकी चहारदीवारीमें बन्द रहनेके कारण स्त्रियोंके स्वभाव और दृष्टिकोणमें संकीर्णताका आना स्वाभाविक था। पराजय, दासता, दरिद्रता और सामाजिक विशृंखलताके कारण इस युगमें आत्म-रतिकी भावना प्रबल हो गई थी। मुगलोंके प्रभावसे भारतीय सामन्त भी विलासी होने लगे थे। स्त्रियोंका मूल्य विलासिताके विविध उपकरणोंसे अधिक न था। घोर चारित्रिक पतनके युगमें तुलसीने देखा—

---

[1] मानयन्ति एनाः (पुरुषाः), (निरुक्त ३।२१।२)।
—कल्याण नारी अंक, 'शब्द-व्युत्पत्ति और नारी'।

[2] पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।—मनुस्मृति अ० ९, श्लोक ३।

नारि विवस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मर्कट की नाईं।[1]

× × ×

गुन मंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी।
सौभागिनी विभूषन हीना। विधवन्ह के सिंगार नवीना।[2]

× × ×

बहु दाम सँवारहिं धाम जती। विषया हरि लीन्हि न रहि बिरती।[3]

इस विषय-वासनाकी वृद्धिके मूलमें उन्होंने 'नारी' को देखा। साधनाके क्षेत्रमें बौद्धसिद्धों एवं वैष्णव सहजियोंके चारित्रिक पतनके मूलमें भी उन्हें नारीकी मूर्ति ही दिखाई दी। पुरुषमें आसक्ति उत्पन्न करनेकी नारी जातिकी सहज क्षमता स्वयं सिद्ध है। स्त्रियोंको दी जानेवाली संज्ञाएँ इस सत्यकी सार्थकता स्वयं प्रमाणित कर रही हैं। वह 'वामा' है क्योंकि सौन्दर्य बिखेरती चलती है—(वमति सौन्दर्यम्)। वह 'सुन्दरी' है क्योंकि उसको देखनेसे [सु + उन्द (गीला करना) + अर + ङीप्] मनुष्यका हृदय गीला हो जाता है। वह 'ललना' है क्योंकि उसमें लल (इच्छा) प्रबल होता है। वह 'प्रमदा' है क्योंकि वह हलकेसे हलके भावसे पुरुषको उत्तेजित कर देती है।[4] भक्तसाधक तुलसीने नारी जातिको साक्षात् माया-मूर्तिके रूपमें देखा। निश्चय ही उनका नारी-विषयक दृष्टिकोण अधिक स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। किन्तु ध्यान रखना होगा कि यह तुलसीका नहीं मध्ययुगका नारी विषयक दृष्टिकोण है। तुलसी, सामान्य नारीकी मर्यादाके निर्धारणमें अपने युगकी सीमाओंसे आगे न जा सके, यह निर्विवाद है।

मूल्याङ्कन—तुलसीका काव्य भारतीय (हिन्दू) संस्कृतिके सच्चे स्वरूपको प्रत्यक्ष करता है। उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी है। समन्वयवाद भारतीय संस्कृतिकी विशेषता है। तुलसीने विविध दार्शनिक सिद्धान्तों, साधना-पथों, उपासना-पद्धतियों, काव्य-रूपों एवं शैलियोंका समन्वय उपस्थित करते हुए भी अपने युग-

---

[1] 'मानस', उत्तरकाण्ड, पृष्ठ ९५९।

[2] वही, उत्तरकाण्ड, पृष्ठ ९५९।

[3] वही, उत्तरकाण्ड, पृष्ठ ९६१।

[4] 'कल्याण', नारी अंक—देखिये 'शब्द व्युत्पत्ति और नारी', पृष्ठ १२९।

की परिस्थितियोंको दृष्टिमें रखकर भक्ति-मार्गकी सापेक्षिक श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। उनका भक्ति-मार्ग व्यक्तिगत चारित्रिक उत्थानके साथ ही सामाजिक कल्याणकी क्षमता भी रखता है। वह पूर्ण जीवन-दर्शन है। तुलसीने अपने सम-सामयिक जन-जीवनको अत्यधिक निकटसे देखा है। उच्च संस्कारोंसे युक्त होनेपर भी उनके हृदयमें भारतीय लोक-जीवनके सभी स्तरोंके प्रति प्रगाढ़ ममता है। वे लोक-विश्वासों एवं लोक-भावनाओंका आदर करते हैं। उनका दृष्टिकोण उदार है। किन्तु उनकी उदारता परम्परागत संस्कारोंसे युक्त एक मध्ययुगीन ब्राह्मणकी उदारता है। युगकी यथार्थ-भूमिपर खड़े होकर उन्होंने आदर्शके अनन्त आकाशको अपनी सहज मानसिक कल्पनामें उतार लिया है। महिमामें तुलसीका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। कबीरमें धरतीकी ऋजु-वक्रता है; सूरमें सागरकी अतल गहराई है किन्तु तुलसीमें धरतीकी गन्ध, सागरके विशाल वक्षस्थलपर मचलनेवाली उर्मियोंकी तरलता और अनन्त आकाशके हीरक-कुसुमोंकी रजत-आभाका अद्भुत संयोग है। वे भक्त, कवि, समाज-द्रष्टा और दार्शनिक सभी कुछ हैं। उन्हें समाजका गम्भीर अनुभव था। इसीलिये उनकी काव्योक्तियाँ जीवनकी विभिन्न परिस्थितियोंकी समीक्षा प्रस्तुत करती हुई लोकोक्तियाँ बन गई हैं। तुलसीकी सबसे बड़ी विशेषता है मनुष्यकी उच्चतापर अखण्ड विश्वास। इसीलिये ह्रासोन्मुख युग-जीवनके बीच उन्होंने दिव्य मानव-मूर्तिकी प्रतिष्ठा की। इसीलिये वे मनुष्य, भगवान् और ब्रह्ममें एकता स्थापित कर सके। इसीलिये वे सगुण भगवान्के प्रति पूर्णनिष्ठा व्यक्त कर सके। कबीरने मध्ययुगकी विकृतियोंको निकटसे देखा। मानव-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें व्यावहारिक स्तरपर उन्हें अनेक रूढ़ियाँ दिखाई पड़ीं। उन्होंने आँखों देखी पर विश्वास किया। मनुष्यकी दुर्बलताओंके सघन धुन्धमें उन्हें पूर्ण-मानवके दर्शन न हो सके। उन्हें सारा-संसार रूढ़ि-पुञ्ज, बाह्याडम्बरमय, पथ-भ्रष्ट तथा मनुष्योचित गुणोंसे च्युत प्रतीत हुआ। वे अपने 'आतमराम' के एकरस प्रेममें मग्न रहे। जायसी सारे संसारमें केवल आध्यात्मिक प्रेमकी सत्यतापर विश्वास कर सके। सांसारिक प्रेमको भी उन्होंने स्वीकार किया किन्तु केवल इस रूपमें कि वह आध्यात्मिक प्रेमकी अनुभूतिका माध्यम हो सकता है। सूरने संसारको स्वीकार किया किन्तु केवल प्रेमके संसारकी सत्यता ही उन्हें मान्य हो सकी। उनकी दृष्टिमें एकनिष्ठ,

दिव्य, निःस्वार्थ प्रेमको धारण करनेवाला समाज सत्य है। बस, इसके आगे नहीं। तुलसीके सामने विकट परिस्थिति थी। मनुष्यकी उच्चता पर जनताको विश्वास नहीं रह गया था। देवत्व और मनुष्यत्वके बीचकी दूरी बढ़ती जा रही थी। समाजमें समता, सहयोग, मर्यादा, और प्रेमकी प्रतिष्ठाकी सम्भावनामें जन-मानसका विश्वास नहीं रह गया था। तुलसीने अपने 'मानस'में तत्कालीन विकृत समाजको ज्योंका त्यों स्वीकार किया किन्तु उसे आदर्श समाज में परिणत करनेका सुगमतम मार्ग भी प्रदर्शित किया। उन्होंने कबीरके हृदयस्थ 'आतम राम'को स्थूल जगत्में दाशरथि रामके रूपमें मूर्त किया। भावनाके भगवान् क्रियात्मक जगतमें मर्यादा पुरुषोतम बनकर प्रकट हुए। मनुष्यकी संभावनाओंपर विश्वास न करनेवाला प्राणी युगान्धकी कल्पना करता हुआ ऐसे जीवन-बिन्दुओंकी सृष्टि करता है जिनसे कोई रेखा नहीं बन पाती। तुलसीने कलियुगको—युगकी विकृतियोंको—सम्भाव्य मानव (राम)के बलपर चुनौती दी। वे कलियुगसे—युगकी यथार्थतासे—घबड़ाकर 'गोलोक'में पलायन न कर सके। वैकुण्ठसे अधिक उन्हें अयोध्या प्रिय थी। निर्गुणसे अधिक उन्हें सगुण मान्य था। मुक्तिसे अधिक उन्हें भक्ति काम्य थी। उन्हें जगदीश रामसे कम प्रिय महीशराम न थे। यह सब इसीलिए सम्भव हुआ कि उन्हें मनुष्य और उसके विकासकी संभावना पर विश्वास था। मध्ययुगका अन्य कोई कवि लोक-मंगलको लक्ष्यमें रखकर उसकी सिद्धिमें ही अपने काव्यकी सार्थकता न देख सका। सर्व-हितको अपनी भणितिका उद्देश्य न बना सका। समस्त संसारको 'निजप्रभुमय' न देख सका। व्यक्ति-व्यक्तिके बीचकी दूरीको मिटाकर समताका आदर्श प्रस्तुत न कर सका। समग्र हिन्दी-साहित्यमें तुलसीकी काव्य-साधना अद्वितीय है। उन्हें हिन्दी-काव्याकाशका सूर्य कहना उनके महत्त्वको कम करना होगा। सूर्यका प्रकाश तो उसके अस्त होनेके साथ ही तिरोहित हो जाता है। ऐसा सूर्य कहाँ जो अस्त होनेके बाद भी समस्त संसारका प्रकाशित कर सके।

हो सकता है सूर्य तुम्हारे सम कैसे ? हे तुलसीदास।
होने पर भी अस्त तुम्हारा छाया जग में अतुल प्रकाश॥

पठनीय सामग्री

तुलसी ग्रन्थावली, तीसरा भाग	ना० प्र० स०, काशी
तुलसीदास	डॉ० माताप्रसाद गुप्त,
तुलसी दर्शन	डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र
तुलसीदास	आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल
तुलसीदास और उनकी कविता	पं० रामनरेश त्रिपाठी
तुलसीदास और उनका युग	डॉ० राजपति दीक्षित
विश्व साहित्यमें रामचरितमानस	श्री राजबहादुर लमगोड़ा
तुलसी साहित्यकी भूमिका	डॉ० रामरतन भटनागर
तुलसीकी भाषा	डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव
रामभक्तिमें रसिक सम्प्रदाय	डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह
हिन्दी-साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास	डॉ० रामकुमार वर्मा
तुलसी रसायन	डॉ० भगीरथ मिश्र
गोस्वामी तुलसीदास	डॉ० बाबू श्यामसुन्दरदास

आचार्य कवि केशवदास

आचार्य केशवदास सच्चे अर्थोंमें राजकवि थे। वे पण्डित थे, आचार्य थे, कवि थे, राजनीतिज्ञ थे और कदाचित् भक्त भी थे। उन्हें अपने पाण्डित्यपर गर्व था। उनका घराना कई पीढ़ियोंसे राज-सम्मान प्राप्त करता चला आ रहा था। ओड़छा नरेश महाराज रामशाहके अनुज इन्द्रजीत सिंह उन्हें गुरु-तुल्य मानते थे। स्वयं महाराज रामशाह उन्हें अपना मन्त्री और मित्र मानते थे। इन्द्रजीत सिंहके भाई वीरसिंह देवने भी उनको सम्मानित किया था। लोक-परम्परा महत्त्वकी दृष्टिसे उन्हें सूर और तुलसीके बाद तीसरा स्थान प्रदान करती है। वे 'कठिन काव्यके प्रेत' कहे जाते हैं। प्रसिद्धि है कि 'कविको देन न चहै बिदाई। पूछै केशवकी कविताई'। इसका एकमात्र कारण उनकी पाण्डित्य-प्रियता ही है। उनके एक-एक छन्दमें पाँच-पाँच अर्थ सन्निहित हैं। उनकी काव्य-दृष्टिके निर्माणमें संस्कृत-साहित्य-शास्त्रके प्राचीन आचार्यों—उद्भट, दण्डी, केशवमिश्र, अमरचन्द आदि—के परम्परागत संस्कार; राजकीय वातावरण तथा उनके युगकी काव्य-परिपाटी, तीनोंके सम्मिलित प्रभावने कार्य किया है। इसीलिए उनमें काव्य-रीतिके प्रति आग्रह, पाण्डित्यके प्रति मोह, शृंगारिकताके प्रति रुझान और भक्तिके प्रति आकर्षण है। उनके व्यक्तित्वको समझनेके लिए उपर्युक्त सभी परिस्थितियों और परम्पराओंको दृष्टिमें रखना आवश्यक है। उनकी कृतियोंके मूल्यांकनके पहले आवश्यक है कि हम उनका काव्य-विषयक दृष्टिकोण भली भाँति समझ लें—

केशवका काव्य-विषयक दृष्टिकोण

केशव अलंकारको काव्यका सर्वस्व मानते हैं। भूषणोंके अभावमें न उन्हें कवितामें सौन्दर्य दिखाई पड़ता है न वनितामें।[1] अलंकारोंको अत्यधिक

---

[1] यदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण विन न विराजई कविता बनिता मित्त॥
—कविप्रिया, पाँचवाँ प्रभाव, पृष्ठ ४३।

महत्त्व देनेके साथ ही वे काव्य-गुण, अर्थ-गौरव और पद-लालित्यको भी आवश्यक मानते हैं।[1] उनकी दृष्टिमें काव्यमें रंचमात्र दोष भी उसके सौन्दर्यको नष्ट कर देता है।[2] काव्य-परम्पराका अनुसरण न करनेवाला काव्य अन्धा है। शब्द-प्रयोगमें औचित्यका ध्यान न रखनेवाला काव्य बधिर है। छन्दके नियमोंकी अवहेलना करनेवाला काव्य पंगु होता है। अलंकारोंसे रहित काव्य नग्न है और अर्थहीन काव्य मृतक तुल्य है।[3] अलंकार शब्दका प्रयोग केशवने व्यापक अर्थमें किया है। अभिव्यक्तिको विविध प्रकारसे चमत्कारपूर्ण बनानेवाली उक्तियोंको ही वे अलंकार नहीं मानते। उन्होंने अलंकारोंके दो रूप माने हैं—साधारण और विशिष्ट। उपमा, रूपकादि अलंकार उनकी दृष्टिमें विशिष्ट अलंकार हैं। साधारण अलंकारके अन्तर्गत वे वर्ण (रंग), वर्ण्य, भूमि-श्री और राज्य-श्री इन चारका उल्लेख करते हैं।[4] वर्णके अन्तर्गत उन्होंने श्वेत, पीत, कारे, अरुण, धूम्र, सुनील और मिश्रित सात रंगोंका उल्लेख किया है।[5] काव्य-परम्परामें इन वर्णोंके अन्तर्गत जिन वस्तुओंकी गणना की गई है, केशवने

---

[1] सगुन पदारथ अरथयुत, सुबरनमय शुभ साज।
कंठमाल ज्यों कविप्रिया, कंठ करहु कविराज॥
—कविप्रिया, तीसरा प्रभाव, पृ० १५।

[2] राजत रंच न दोष युत कविता, बनिता मित्र।
बुंदक हाला परत ज्यों, गंगा घट अपवित्र॥
—वही, तीसरा प्रभाव, पृ० १६।

[3] अन्ध बधिर अरु पंगु तजि, नगन मृतक मति शुद्ध।
अन्ध विरोधी पन्थको, बधिर जो शब्द विरुद्ध॥
छन्द विरोधी पंगु गुनि, नगन जो भूषण हीन।
मृतक कहावै अरथ बिन, केशव सुनहु प्रवीन॥
—वही, पृ० १७।

[4] सामान्यालंकार को, चारि प्रकार प्रकास।
वर्ण, वर्ण्य, भू-राज श्री, भूषण केशवदास॥
—वही, पाँचवाँ प्रभाव, पृ० ४३।

[5] श्वेत, पीत, कारे, अरुण, धूम्र, सुनीले वर्ण।
मिश्रित केशवदास कहि, सात भाँति शुभ कर्ण॥
—वही, पाँचवाँ प्रभाव, पृ० ४३।

उनकी लम्बी सूची भी प्रस्तुत की है। **वर्ण्य**के अन्तर्गत उन्होंने सम्पूर्ण, आवर्त्त, कुटिल, त्रिकोण, सुवृत्त, तीक्ष्ण, गुरु, कोमल, कठोर, निश्चल, चंचल, सुखद, दुखद, मन्दगति, शीतल, तप्त, सुरूप, क्रूरस्वर, सुस्वर, मधुर, अबल, बलिष्ठ, सत्य, झूठ, मण्डल, अगति, सदागति और दानी इन अट्ठाइस भेदोंका उल्लेख किया है और कहा है कि और भी भेद हो सकते हैं।[१] इन अट्ठाइस भेदोंको लेकर पुनः उन्होंने प्रत्येकके अन्तर्गत किन-किन वस्तुओंका वर्णन करना चाहिये इसका भी उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ—सम्पूर्णको लेकर वे कहते हैं कि अम्बुज, आनन, आरसी, प्रेम और प्रकाशको सदैव सम्पूर्ण मानकर वर्णन करना चाहिये।[२] **भू-श्री**के अन्तर्गत उन्होंने देश, नगर, वन, बाग, गिरि, आश्रम, सरिता, ताल, रवि, शशि, सागर, ऋतुएँ और महीने आदिकी गणना की है।[३] पुनः प्रत्येकको लेकर उसके अन्तर्गत आनेवाली वस्तुओंका उल्लेख किया है। **राज्य-श्री**के अन्तर्गत राजा, रानी, राजकुमार, पुरोहित, सेनापति, दूत, मन्त्री, मन्त्र, प्रयाण (रण-प्रयाण), घोड़ा, हाथी, युद्ध, आखेट, जलक्रीड़ा, स्वयंवर, वियोग और सुरत आदिकी गणना की है[४] और फिर प्रत्येकके वर्णनमें किन-किन वस्तुओंका उल्लेख आवश्यक है, इसे विस्तारपूर्वक बताया है।

इस प्रकार साधारण अलंकारोंकी सीमामें केशवने काव्यके वर्ण्य विषयोंका ही उल्लेख किया है। इसमें उनके दो उद्देश्य हैं। एक तो पाठकोंको सामान्य ढंगसे उन वस्तुओंकी सूचना देना जिनका वर्णन काव्य-परम्परा-विहित है। दूसरे, इन सभी काव्य-विषयोंका जो स्वरूप कवि-परम्परामें मान्य है (रंग और आकृतिकी दृष्टिसे) उसको ही स्वीकार करनेका आग्रह। उनकी दृष्टिमें कवि-पन्थ-का ज्ञान आवश्यक है। और इस ज्ञानके अन्तर्गत वर्ण्य विषयोंकी सूची भी सम्मिलित है। स्पष्ट है कि जब उन्होंने 'भूषण'के अभावमें कविताको शोभाहीन कहा था तब उनके मस्तिष्कमें ये वर्ण्य विषय भी थे। जिस कवितामें उपर्युक्त

---

[१] कविप्रिया, छठवाँ प्रभाव, पृ० ५८।

[२] इतने संपूरण सदा वरणे केशवदास।
अम्बुज, आनन, आरसी, संतत प्रेम-प्रकास।

[३] कविप्रिया, सातवाँ प्रभाव, पृ० ९३।

[४] कविप्रिया, आठवाँ प्रभाव, पृ० ११६।

वस्तुओंका वर्णन नहीं है, केशवकी दृष्टिमें उसे भी असुन्दर ही मानना चाहिये। वर्ण्य विषयोंको भी अलंकारोंके अन्तर्गत परिगणित करनेका परिणाम यह हुआ कि केशवने वस्तुवर्णनके चमत्कारको भी काव्य-शोभाका साधन मानकर उसपर अत्यधिक बल दिया। वस्तु-वर्णन-प्रियताकी परम्परा संस्कृत-साहित्यके परवर्ती युगमें पड़ चुकी थी। भारवि, माघ और श्रीहर्षके महाकाव्य इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। केशवने इसी परम्पराको हिन्दीमें प्रचलित करना चाहा था। अपनी व्यापक आलंकारिक दृष्टिके कारण ही केशवने रसमय वर्णनोंको 'रसवत्' अलंकार मान लिया और नवों रसोंको रसवत् अलंकारमें समाहित कर लिया।[1] उनकी दृष्टिमें वाणीकी सरसता भी शोभा (काव्य-सौन्दर्य) का हेतु है।[2] आचार्य केशव 'रस' (रसालता) का महत्त्व तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसे भी वे शोभा-विधायक मानकर अलंकारोंके अन्तर्गत ही स्थान देते हैं।

उपर्युक्त विवेचनसे केशवका काव्य-विषयक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। वे मुख्यतः अलंकारवादी कवि हैं किन्तु उनके अलंकारवादकी सीमामें कवि-परम्परा, वर्ण्यविषय, वर्णन शैली, अभिव्यक्ति-चमत्कार, गुण, पद-लालित्य, अर्थ-गौरव, रस, छन्द और निर्दोषिता ये सभी तत्त्व आ जाते हैं। इन सभीको वे काव्य-शोभाका हेतु मानते थे। इसीलिए उन्होंने केवल अलंकार-ग्रन्थकी रचना नहीं

---

[1] रसवत होय सुजानिये, रसवन्त केशवदास।
नव रसको संक्षेप ही, समझो करत प्रकास॥
—कविप्रिया, ग्यारहवाँ प्रभाव, पृ० २०३।

टिप्पणी—रसवत् अलंकारको आचार्य केशवने ठीकसे नहीं समझा है। रसवत् अलंकार वहाँ होता है जहाँ एक रस अंग-रूपमें उपस्थित होकर दूसरे अंगी रसको उपरंजित कर दे। जिस प्रकार प्रकृत वस्तुकी उपरंजकताके कारण उपमा आदिको अलंकार कहते हैं वैसे ही प्रकृत रसकी उपरंजकताके कारण अंगभूत रसको अलंकार कहना सर्वथा उचित है।
[अङ्गभूतस्य रसादेश्चालङ्कारत्वं युक्तम्। तथा च यावतोपमादीनां सर्वालङ्काराणां प्रकृत वस्तूपरञ्जकत्वमलङ्कारत्वे निबंधनम्, अङ्गभूतेनापि रसेन तत् क्रियत एव, प्रकृतस्य रसादेस्तदुपस्कृतत्वेन भावात्।] अलङ्कारसर्वस्व विमर्शिनी, पृष्ठ २३३।
—साहित्यदर्पण, व्याख्याकार, डॉ० सत्यव्रत सिंह, पृ० ८७६ पर उद्धृत।

[2] ज्यौं बिन दीठि न शोभिजै, लोचन लोल विशाल।
त्यों ही केशव सकल कवि, बिन बाणी न रसाल॥
—रसिकप्रिया, पृ० ३।

उनकी लम्बी सूची भी प्रस्तुत की है। वर्ण्यके अन्तर्गत उन्होंने सम्पूर्ण, आवर्त्त, कुटिल, त्रिकोण, सुवृत्त, तीक्ष्ण, गुरु, कोमल, कठोर, निश्चल, चंचल, सुखद, दुखद, मन्दगति, शीतल, तप्त, सुरूप, क्रूरस्वर, सुस्वर, मधुर, अबल, बलिष्ठ, सत्य, झूठ, मण्डल, अगति, सदागति और दानी इन अट्ठाइस भेदोंका उल्लेख किया है और कहा है कि और भी भेद हो सकते हैं।[1] इन अट्ठाइस भेदोंको लेकर पुनः उन्होंने प्रत्येकके अन्तर्गत किन-किन वस्तुओंका वर्णन करना चाहिये इसका भी उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ—सम्पूर्णको लेकर वे कहते हैं कि अम्बुज, आनन, आरसी, प्रेम और प्रकाशको सदैव सम्पूर्ण मानकर वर्णन करना चाहिये।[2] भू-श्रीके अन्तर्गत उन्होंने देश, नगर, वन, बाग, गिरि, आश्रम, सरिता, ताल, रवि, शशि, सागर, ऋतुएँ और महीने आदिकी गणना की है।[3] पुनः प्रत्येकको लेकर उसके अन्तर्गत आनेवाली वस्तुओंका उल्लेख किया है। राज्य-श्रीके अन्तर्गत राजा, रानी, राजकुमार, पुरोहित, सेनापति, दूत, मन्त्री, मन्त्र, प्रयाण (रण-प्रयाण), घोड़ा, हाथी, युद्ध, आखेट, जलक्रीड़ा, स्वयंवर, वियोग और सुरत आदिकी गणना की है[4] और फिर प्रत्येकके वर्णनमें किन-किन वस्तुओंका उल्लेख आवश्यक है, इसे विस्तारपूर्वक बताया है।

इस प्रकार साधारण अलंकारोंकी सीमामें केशवने काव्यके वर्ण्य विषयोंका ही उल्लेख किया है। इसमें उनके दो उद्देश्य हैं। एक तो पाठकोंको सामान्य ढंगसे उन वस्तुओंकी सूचना देना जिनका वर्णन काव्य-परम्परा-विहित है। दूसरे, इन सभी काव्य-विषयोंका जो स्वरूप कवि-परम्परामें मान्य है (रंग और आकृतिकी दृष्टिसे) उसको ही स्वीकार करनेका आग्रह। उनकी दृष्टिमें कवि-पन्थ-का ज्ञान आवश्यक है। और इस ज्ञानके अन्तर्गत वर्ण्य विषयोंकी सूची भी सम्मिलित है। स्पष्ट है कि जब उन्होंने 'भूषण'के अभावमें कविताको शोभाहीन कहा था तब उनके मस्तिष्कमें ये वर्ण्य विषय भी थे। जिस कवितामें उपर्युक्त

---

[1] कविप्रिया, छठवाँ प्रभाव, पृ० ५८।

[2] इतने संपूरण सदा वरणे केशवदास।
अम्बुज, आनन, आरसी, संतत प्रेम-प्रकास।

[3] कविप्रिया, सातवाँ प्रभाव, पृ० ९३।

[4] कविप्रिया, आठवाँ प्रभाव, पृ० ११६।

वस्तुओंका वर्णन नहीं है, केशवकी दृष्टिमें उसे भी असुन्दर ही मानना चाहिये। वर्ण्य विषयोंको भी अलंकारोंके अन्तर्गत परिगणित करनेका परिणाम यह हुआ कि केशवने वस्तुवर्णनके चमत्कारको भी काव्य-शोभाका साधन मानकर उसपर अत्यधिक बल दिया। वस्तु-वर्णन-प्रियताकी परम्परा संस्कृत-साहित्यके परवर्ती युगमें पड़ चुकी थी। भारवि, माघ और श्रीहर्षके महाकाव्य इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। केशवने इसी परम्पराको हिन्दीमें प्रचलित करना चाहा था। अपनी व्यापक आलंकारिक दृष्टिके कारण ही केशवने रसमय वर्णनोंको 'रसवत्' अलंकार मान लिया और नवों रसोंको रसवत् अलंकारमें समाहित कर लिया।[1] उनकी दृष्टिमें वाणीकी सरसता भी शोभा (काव्य-सौन्दर्य) का हेतु है।[2] आचार्य केशव 'रस' (रसालता) का महत्त्व तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसे भी वे शोभा-विधायक मानकर अलंकारोंके अन्तर्गत ही स्थान देते हैं।

उपर्युक्त विवेचनसे केशवका काव्य-विषयक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। वे मुख्यतः अलंकारवादी कवि हैं किन्तु उनके अलंकारवादकी सीमामें कवि-परम्परा, वर्ण्यविषय, वर्णन शैली, अभिव्यक्ति-चमत्कार, गुण, पद-लालित्य, अर्थ-गौरव, रस, छन्द और निर्दोषिता ये सभी तत्त्व आ जाते हैं। इन सभीको वे काव्य-शोभाका हेतु मानते थे। इसीलिए उन्होंने केवल अलंकार-ग्रन्थकी रचना नहीं

---

[1] रसवत होय सुजानिये, रसवत केशवदास।
नव रसको संक्षेप हीं, समझो करत प्रकास॥
—कविप्रिया, ग्यारहवाँ प्रभाव, पृ० २०३।

टिप्पणी—रसवत् अलंकारको आचार्य केशवने ठीकसे नहीं समझा है। रसवत् अलंकार वहाँ होता है जहाँ एक रस अंग-रूपमें उपस्थित होकर दूसरे अंगी रसको उपरंजित कर दे। जिस प्रकार प्रकृत वस्तुकी उपरंजकताके कारण उपमा आदिको अलंकार कहते हैं वैसे ही प्रकृत रसकी उपरंजकताके कारण अंगभूत रसको अलंकार कहना सर्वथा उचित है।
[अङ्गभूतस्य रसादेश्चालङ्कारत्वं युक्तम्। तथा च यावतोपमादीनां सर्वालङ्काराणां प्रकृत वस्तूपरञ्जकत्वमलङ्कारत्वे निबंधनम्, अङ्गभूतेनापि रसेन तत् क्रियत एव, प्रकृतस्य रसादेस्तदुपस्कृतत्वेन भावात्।] अलङ्कारसर्वस्व विमर्शिनी, पृष्ठ २३३।
—साहित्यदर्पण, व्याख्याकार, डॉ० सत्यव्रत सिंह, पृ० ८७६ पर उद्धृत।

[2] ज्यौं बिन दीठि न शोभिजै, लोचन लोल विशाल।
त्यों ही केशव सकल कवि, बिन बाणी न रसाल॥
—रसिकप्रिया, पृ० ३।

की । 'कविप्रिया'में उन्होंने काव्य-क्षेत्रमें प्रवेश करनेवाले बालक-बालिकाओंके लिए ज्ञातव्य कवि-पन्थकी सभो बातोंका वर्णन किया ।[1] कहना चाहें तो कह सकते हैं कि आचार्य दण्डीके समान केशव भी काव्यके शोभाकारक धर्ममात्रको अलंकार मानते थे, जिसमें शोभाके वर्द्धक और शोभाके जनक दोनों प्रकारके तत्त्व आ जाते हैं ।

आचार्यत्व

केशवदासजी हिन्दीके प्रथम आचार्य हैं । वे हिन्दी-रीति-काव्यके जनक हैं । 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' उनके शास्त्रीय ग्रन्थ हैं । 'कविप्रिया' की रचना काव्य-क्षेत्रमें प्रवेश करनेवाले नवीन जिज्ञासुओंको ज्ञान-वृद्धिके लिए की गई । इसमें **काव्य-दूषणों**—[**अन्ध** (कवि-पन्थ-विरुद्ध रचना करना), **बधिर** (शब्दोंका अनुचित प्रयोग), **पंगु** (छन्द-विरुद्ध-रचना), **नग्न** (भूषणहीन रचना), **मृतक** (अथहीन रचना) तथा **अगण** (अशुभ गण—जगण, रगण, सगण, तगण), **हीनरस, यतिभंग, व्यर्थ** (जहाँ एक ही कवित्तमें अर्थ-विरोध हो), **अपार्थ** (जिसका अर्थ समझमें न आवे), **हीनक्रम, कर्णकटु, पुनरुक्त, देशविरोध, काल-विरोध, लोकविरोध, न्याय और आगम-विरोध** आदि]; **कवि-भेद** (उत्तम, अनुत्तम, मध्यम); **कविरीति** (कभी सच्ची बातको झूठ, कभी झूठी बातको सत्य, कभी नियमानुकूल वर्णन करना) और **काव्यालंकारों** (सामान्य-विशिष्ट) का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । सबसे अधिक महत्त्व काव्यालंकारोंको दिया गया है । केशवने सामान्य अलंकारोंके अन्तर्गत प्राकृतिक (भू-श्री) और मानवकृत (राज्य-श्री) दोनों ही प्रकारको वस्तुओंको स्थान दिया है । इन वस्तुओंकी विस्तृत सूचीसे यह प्रकट होता है कि काव्यान्तर्गत इन्हें वर्ण्य-विषयके रूपमें स्वीकार करनेकी रूढ़ि बन गई थी । प्रत्येक वस्तुके रंग और रूप (वर्ण और वर्ण्य)को लेकर भी कुछ निश्चित मान्यतायें चल पड़ी थीं । इन स्वीकृत वर्ण्य विषयोंको निश्चित रूप-रंगोंमें प्रस्तुत करनेसे काव्यसौन्दर्यमें वृद्धि मानी जाती रही होगो । इसीलिए केशवने इन्हें भी अलंकार मानना ही ठीक समझा और उन्होंने **वर्ण** (रंग), **वर्ण्य** (रूप),

---

[1] समुझैं बाला बालकन, वर्णत पन्थ अगाध ।
कविप्रिया केशव करी, क्षमियहु कवि अपराध ।।
—तीसरा प्रभाव, पृ० १५ ।

भू-श्री (प्राकृतिक वैभव), **राज्यश्री** (मानवीय वैभव) को सामान्यालंकार माना। इस अलंकारके अन्तर्गत प्रस्तुत सामग्री केशवकी निजी नहीं है। उन्होंने इसके लिए मुख्यतः दो ग्रन्थोंका आधार लिया है। अमर कवि-कृत 'काव्य-कल्पलता-वृत्ति' और केशव मिश्रकृत 'अलंकार शेखर'।[1] केशवकी मौलिकता इस सामग्रीको अपने ढंगसे क्रमबद्ध करने तथा सामान्य और विशिष्ट अलंकारोंके रूपमें विभाजित करके प्रस्तुत करनेमें है।

विशिष्ट अलंकारोंके अन्तर्गत केशवने स्वभाव, विभावना, हेतु, विरोध, विशेष, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, क्रम, गणना, आशिष, प्रेय, श्लेष, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, ऊर्जस्व, रसवत्, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, अपह्नुति, उक्ति, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, अमित, पर्यायोक्ति, युक्ति, समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, रूपक, दीपक, प्रहेलिका, परवृत्त, उपमा, यमक तथा चित्रका उल्लेख किया है। केशव द्वारा वर्णित इन अलंकारोंमें अधिकांशका आधार आचार्य दण्डीका 'काव्यादर्श' है। कहीं-कहीं अमरकविके 'काव्य-कल्पलता वृत्ति' (गणना अलंकारके वर्णनमें) और रुय्यकके 'अलंकारसूत्र' (विभावना और क्रमालंकारके निरूपणमें)का आधार भी लिया गया है।[2] 'सुसिद्ध', 'प्रसिद्ध', 'विपरीत' अलंकार केशवकी निजी उद्भावना माने गये हैं। यह भी कहा गया है कि इनमें अलंकारत्व नहीं है। ऐसा मानना उचित नहीं प्रतीत होता। जब वर्णनकी विविध चमत्कारपूर्ण शैलियोंको ही अलंकार माना जाता है तो इनमें भी अलंकारत्व मानना होगा। जब 'कारणके अपूर्ण रहने पर भी कार्यकी सिद्धि'को अलंकार माना जाता है;[3] तब कोई कारण नहीं है कि 'कार्य करके तो कोई और मरे और सिद्धि कोई और भोगे' जैसे वर्णनको अलंकार ही न माना जाय।[4] इस दृष्टिसे देखा जाय तो केशवका

---

[1] आचार्य केशवदास, —डॉ० हीरालाल दीक्षित, पृ० २३३।

[2] केशवका 'क्रमालंकार' रुय्यककी 'एकावली' ही है।

[3] साधन कारण विकल जहँ, होय साध्य की सिद्धि।
केशव दास बखानिये, सो विशेष परसिद्धि॥
—'विशेष' अलंकारका लक्षण, कविप्रिया, पृ० १४९।

[4] साधि-साधि औरै मरैं, औरै भोगै सिद्धि।
तासों कहत सुसिद्धि सब, जे हैं बुद्धि समृद्धि॥
—'सुसिद्ध' अलंकारका लक्षण, पृ० २४३।

‘असित’ अलंकार भी अलंकार-कोटिमें नहीं आयेगा ।[१] केशवके कई अलंकारोंको लेकर शंका इसलिए उठती है कि उन्होंने अभिव्यक्ति-कौशलको ही नहीं कथ्य-वैशिष्ट्यको भी अलंकार माना है। इसीलिए उनकी दृष्टिमें ‘आशिष’ (आशीर्वादात्मक उक्ति) ‘प्रेम’, ‘आक्षेप’, ‘गणना’ आदि भी अलंकार हैं।

आचार्य दण्डीके आदर्शपर केशवने भी ‘उपमा’ अलंकारका सर्वाधिक विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उन्होंने संशय, हेतु, अभूत, अद्‌भुत, विक्रय, दूषण, भूषण, मोह, नियम, गुणाधिक, अतिशय, उत्प्रेक्षित, श्लेष, धर्म, विपरीत, निर्णय, लाक्षणिक, असंभावित, विरोध, मालोपमा, परस्परोपमा और संकीर्णोपमा इन बाइस भेदोंका उल्लेख किया है।[२] इन भेदोंके सम्बन्धमें विचार करते समय ध्यान रखना होगा कि उन्होंने उपमाका प्रयोग व्यापक अर्थमें किया है। ‘उपमा’ के अन्तर्गत सादृश्यमूलक सभी अलंकार आ जाते हैं। परवर्ती आचार्योंने इन्हें स्वतन्त्र अलंकारोंका स्वरूप प्रदान किया है। केशवका ‘**संशयोपमा**’, ‘सन्देह’ अलंकारसे भिन्न नहीं है। इसी प्रकार ‘**निर्णयोपमा**’, को ‘व्यतिरेक’, ‘**परस्परोपमा**’ को ‘उपमेयोपमा’, और ‘**अतिशयोपमा**’ को ‘अनन्वय’ के रूपमें देखा जा सकता है। केशवके ‘विपरीतोपमा’ और ‘संकीर्णोपमा’ के लिए डॉ० हीरालाल दीक्षितने कहा है कि ‘इनमें उपमा अलंकारका अस्तित्व ही नहीं है’।[३] किन्तु वास्तवमें दोनोंमें ‘औपम्य’ है। केशवके अनुसार ‘जहाँ पुण्यवानोंकी हीनोंसे उपमा दी जाय’ वहाँ ‘विपरीतोपमा’ अलंकार होता है।[४] उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है—‘राजनि श्री रघुनाथ के राज, कुमण्डल छोड़ि कमण्डल लीनो’[५] यहाँ राजाओंकी उपमा संन्यासियोंसे दी गई है। यहाँ राजा और

---

१. जहाँ साधनै भोगई, साधक की शुभ सिद्धि ।
अमित नाम तासों कहत, जाकी अमित प्रसिद्धि ॥
—कविप्रिया, पृ० २३७ ।

२. कविप्रिया, चौदहवाँ प्रभाव, पृ० २६१ ।

३. आचार्य केशवदास, डॉ० हीरालाल दीक्षित, पृ० २५५ ।

४. केशव पूरे पुण्यके तेई कहिये हीन ।
तासों विपरीतोपमा, केशव कहत प्रवीन ॥
—वही, पृ० २७६ ।

५. वही, पृ० २७७ ।

है। 'निर्वेद'का सुन्दरतम उदाहरण 'विनयपत्रिका' में देखा जा सकता है। यह 'निर्वेद' किसी क्षणिक मानसिक क्षोभकी प्रतिक्रियाके रूपमें न होकर जीवन के समस्त क्रिया-कलापोंपर शुद्ध ज्ञान-दृष्टिसे किये गये विचारपर आधृत है—

जनम गयौ बादिहि बर बीति।
परमारथ पाले न परयो कछु, अनुदिन अधिक अनीति।
खेलत खात लरिकपन गो चलि, जौबन जुवतिन लियो जीति॥
रोग-वियोग-सोक-स्रम-संकुल बड़ि बय बृथहि अतीति।
राग-रोष-इरषा-बिमोह बस रुची न साधु-समीति॥
× × ×
तुलसी प्रभु तें होइ सो कीजिय समुझि बिरद की रीति॥[1]

तुलसी-साहित्यमें उपर्युक्त स्थायी भावोंके अतिरिक्त काव्यशास्त्रमें वर्णित सभी सञ्चारियों की स्थिति देखी जा सकती है। वस्तुतः प्रत्यक्ष जगत्‌की प्रत्येक क्रिया मानव-मनपर प्रभाव डालती है। प्रत्येक परिस्थिति मनको उद्वेलित करती है। मानव-जीवनमें आनेवाली परिस्थितियोंकी गणना संभव नहीं है। अतः मनोवेगों और भावोंकी संख्याका निर्धारण भी असंभव है। अकेले तुलसीके रामचरित मानस में जीवनयात्राकी असंख्य स्थितियाँ चित्रित हैं। इसलिये इस ग्रन्थमें ऐसी अनेक मनःस्थितियाँ भी अंकित हैं जिन्हें नाम नहीं दिया जा सकता। पिछले पृष्ठोंमें जिन भाव-चित्रोंको उपस्थित किया गया है उनके आधारपर तुलसीके काव्य-सौष्ठव (भाव-चित्रणकी दृष्टिसे) की झलक मिल जाती है। उनका भाव-चित्रण शीलनिरूपणका अंग बन गया है। 'मानस'में तो सर्वत्र ऐसा ही हुआ है। अन्यकृतियोंमें भी राम-कथाका क्षीण आधार वर्तमान है, अतः वहाँ भी भावोंकी उपस्थिति पात्र विशेषके परिचित शीलके अनुकूल ही है। भावोंकी विविधता होनेपर भी उनके चित्रणमें पूरी तन्यमता और गहराई है। कविने ऐसे भावोंका सामञ्जस्य भी उपस्थित किया है जो सामान्यतः परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। 'मानस'में कविका ध्यान कथाके सन्तुलनपर अधिक रहा है। इसलिए किसी भी भावको आवश्यकतासे अधिक विस्तार नहीं दिया जा सका है। कथा-धाराको प्रभावित करनेवाली जो घटना जितनी ही महत्त्वपूर्ण है उससे उद्‌भूत भाव-धारा

---

[1] विनयपत्रिका, पद संख्या २३४।

भी उतनी ही विशद, व्यापक और गम्भीर है। अन्य कृतियोंमें इस क्रमका निर्वाह नहीं हुआ है। 'गीतावली'में कोमल भावनाओंको ही महत्त्व दिया गया है। इसीलिए उत्तरकाण्डको अधिक विस्तार देना पड़ा है। क्योंकि उसमें रामकी मधुचर्याका प्राधान्य है। 'कवितावली' में कथाकी दृष्टिसे 'सुन्दर' और 'लंकाकाण्ड' को महत्त्व दिया गया है। अतः इसमें परुष भावनाओंके चित्र अधिक सजीव हैं। 'उत्तरकाण्ड'में छन्दोंकी संख्या अन्य काण्डोंकी तुलनामें अधिक है किन्तु इसमें रामकी महिमाका गान ही अधिक है। कहीं-कहीं कवि के व्यक्तिगत जीवनके संकेत मिल जाते हैं। भाव-चित्रणकी दृष्टि से कवितावलीका उत्तरकाण्ड अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'विनयपत्रिका'में 'दैन्य' और 'निर्वेद'का ही प्राधान्य है। इन दोनो भावनाओंको इतना अधिक विस्तार समस्त हिन्दी-साहित्यमें अन्यत्र कहीं नहीं मिला है।

अभिव्यक्ति-सौंदर्य

तुलसीने 'वस्तु-तत्त्व'की सुन्दरता पर अधिक ध्यान दिया है। 'भणिति'के 'भदेस' होनेकी चिन्ता उन्हें नही थी; किन्तु 'वस्तु' और 'रूप' दोनो की स्थिति अन्योन्याश्रित है। तुलसीके काव्यका वस्तु-तत्त्व (राम-चरित) जितना रमणीय है उसका रुप-तत्त्व या अभिव्यक्ति पक्ष भी उतना ही कलात्मक है। काव्य-शैली, अलंकरण, शब्द-संघटन, छन्द-योजना आदि उपकरण अभिव्यक्ति सौन्दर्यके सहायक उपादान है। अतः इनपर अलग-अलग विचार किया जायगा।

शैली—'रामचरितमानस' प्रबन्ध काव्य है। रामके जीवनकी विशद गाथा प्रबन्ध शैलीमें ही सुन्दरतम रूपमें प्रस्तुतकी जा सकती थी। प्रबन्धशैलीमें लिखे गये काव्योंके मुख्यतः दो रूप मान्य हैं—महाकाव्य और खंडकाव्य। 'मानस' महाकाव्य है। महाकाव्यके लिये जिन लक्षणोंको भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्रमें आवश्यक माना गया है, वे सभी 'मानस' में विद्यमान हैं। यह सर्ग-बद्ध है। इसका आरम्भ सरस्वती और गणेशकी वन्दनासे किया गया है। इसके बाद क्रमशः पार्वती, शंकर, गुरु, वाल्मीकि, हनुमान, सीता, राम आदिकी वन्दनाकी गई है। इसके प्रत्येक सर्ग (काण्ड) में एक ही प्रकारके छन्द (दोहा-चौपाई) प्रयुक्त हुए हैं। सर्गान्तमें 'हरिगीतिका' छन्दका प्रयोग करके 'वृत्त-परिवर्त्तन'के नियमकी रक्षाकी गई है। इसका आधार रामका जीवन-वृत्त है जो समस्त

भारतीय समाजमें प्रचलित है। कथा-संघटनमें नाटक की सभी सन्धियाँ मिल जाती हैं। इसके नायक धीरोदात्त गुणयुक्त भगवान् राम हैं, जो क्षत्रिय कुमार भी हैं, विष्णुके अवतार भी हैं और ब्रह्म भी हैं। इसमें शान्तरस का प्राधान्य है। अन्य सभी रस भी प्रसंगानुसार प्रवाहित हैं। इसका लक्ष्य भगवान् रामके चरणोंमें प्रीति प्राप्त कराना और कलियुगके समस्त पापोंका शमन करना है। इसमें संध्या, प्रातः, सूर्य, वर्षा, शरद, पर्वत, नगर, युद्ध, नदी, सरोवर आदिका वर्णन भी किया गया है। इन वस्तुओंके वर्णनसे मानवकी विकास-यात्राके साथ विकसित सभ्यताके स्तरोंका बोध होता है। इसमें खलोंकी निन्दा और सज्जनोंकी प्रशंसा भी की गई है। इसका नामकरण कथा-नायक भगवान् रामकी जीवन-लीलाको ध्यानमें रखकर किया गया है। महाकाव्योंकी मर्यादाके भीतर आने-वाली केवल दो बातें 'मानस'में नहीं हैं। एक तो इसकी सर्ग (काण्ड) संख्या सात ही है। दूसरे इसमें ऐसा कोई सर्ग नहीं हैं जिसमें विविध वृत्तों का प्रयोग किया गया हो।

उपर्युक्त बाह्य लक्षणोंके अतिरिक्त 'मानस'में महाकाव्यकी मर्यादाकी रक्षा करनेवाले अन्य आन्तरिक विशिष्ट तत्त्व भी हैं। महाकाव्य 'महत्'की काव्यात्मक उपलब्धि है। 'मानस'का सब कुछ महान् है। भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति, जीवन-मर्यादा, सभ्यता, कला, साधना आदिका सुन्दरतम रूप 'मानस'में सुरक्षित है। 'मानस'का अध्ययन भारतवर्षकी महानतम उपलब्धियोंका अध्ययन है। मानव-कल्याणके लिये युग-युगमें जिन तत्त्वोंकी आवश्यकता हो सकती है, उन्हें हम इसमें एकत्र समन्वित पाते हैं। 'पूर्णमानव'की उपलब्धिके लिये हम युग-युगसे प्रयत्न करते आये हैं। 'रामत्व' उसी पूर्णताका पर्याय है।

'मानस'के अतिरिक्त 'रामललानहछू', 'जानकी मंगल' और 'पार्वती-मंगल'की शैली भी प्रबन्धात्मक है। इन्हें खण्डकाव्य कह सकते हैं। इनमें 'मानस'की तुलनामें प्रौढ़ता की कमी है।

तुलसीकी शेष कृतियाँ मुक्तक काव्यकी सीमामें आती हैं 'गीतावली', 'कृष्ण-गीतावली' और 'विनयपत्रिका' गीति-मुक्तक रचनाएँ मानी गई हैं। गीतिकाव्य-की सबसे बड़ी कसौटी है—'वैयक्तिकता'। सगीतात्मकता, तन्मयता, संक्षिप्तता, भावोंकी एकरूपता, अनुभूतिकी तीव्रता, पद-रचनाकी कोमलता, सहज

उच्छ्वसितता आदि विशेषताएँ तो वैयक्तिकताके अनुसारी परिणाम हैं। इस कसौटीपर एकमात्र 'विनयपत्रिका' ही शुद्ध गीतिकाव्य मानी जा सकती है। 'गीतावली'की रचना राग-रागिनियोंमें हुई है किन्तु इसमें कविके निजी रूपके दर्शन नहीं होते। इसमें भी राम-कथाका ही गान किया गया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्तके शब्दोंमें 'वह तो मूलतः 'पदावली रामायण' या 'पद-बन्ध रामायण' थी, 'गीतावली' नाम तो बादकी कल्पना है।'[१] यही स्थिति 'कृष्णगीतावली'की है। कृष्णके 'लीला-रस' के साथ तुलसीका मानसिक तादात्म्य कम ही कम था। इन दोनों कृतियोंमें कविको विविध पात्रोंकी भूमिकामें स्वयंको रखकर उपस्थित होना पड़ा है।

'विनय-पत्रिका' सच्चे अर्थोंमें एक पत्रिका है। पत्र लिखते समय हम अपनेको व्यक्त करते हैं। जिसके लिये पत्र लिखा जाता है उससे हमारी मानसिक दूरी कमसे कम रहती है। 'विनयपत्रिका' के भी सभी पद शुद्ध गीतिकी सीमामें नहीं आते। प्रारम्भमें गणेश, शिव, दुर्गा, गंगा, यमुना, काशी, चित्रकूट, हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता और रामकी महिमाका गान किया गया है। इसमें कविकी निजी मनःस्थितिके चित्र नहीं हैं। विनय-पत्रिकाके अन्तिम पदोंमें तुलसीका व्यक्तित्व कुछ अधिक निखरा है। तुलसीके समय तक दास्य-भक्तिके भी शास्त्रीय विधि-निषेध बन चुके थे। 'विनय-पत्रिका' का पर्याप्त अंश दास्य-भक्तिकी शास्त्रीय मर्यादाकी रक्षामें लग गया है। यहाँ भी कविने अपनेको कलिमल-ग्रसित जीवकी भूमिकामें प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं यह भूमिका यथार्थताके अति निकट पहुँच गई है और कविकी धूमिल छाया उभर आई है। "कैसे देउँ नाथहिं खोरि", "है प्रभु मेरोइ सब दोसु", "कहाँ जाउँ ? कासों कहों ? को सुनै दीन की ?", "मैं तोहिं अब जान्यों संसार।", "गरैगी जीह जो कहौं और को हौं।" "मोहिं मूढ़ मन बहुत बिगोयो", "कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?" आदि पदोंमें तुलसीका संघर्षरत व्यक्तित्व झाँक रहा है। तात्पर्य यह कि वैयक्तिकताकी दृष्टिसे 'विनय-पत्रिका' का गीतिकाव्यत्व भी सापेक्षिक दृष्टिसे ही मान्य है।

---

[१] तुलसीदास, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ३७३।

'कवितावली' मुक्तक-रचना है। इसमें भी राम-कथाका आधार लिया गया है। इसकी रचना पर्याप्त लम्बी अवधिमें हुई होगी। इसके उत्तरकाण्डमें राम-कथाके वर्णनपर ध्यान नहीं दिया गया है। राम-महिमाका गान ही कविका प्रधान लक्ष्य रहा है। इस काण्ड की दूसरी विशेषता कविकी आत्म व्यञ्जना है। आत्म-व्यञ्जना और सामयिक परिस्थिति-चित्रोंकी दृष्टिसे कवितावलीके उत्तरकाण्डका महत्त्व पूरे तुलसी-साहित्यमें सर्वाधिक है। उत्तरकाण्डमें १८३ छन्द हैं। शेष सभी काण्डोंकी सम्मिलित छन्द-संख्या भी इससे कम है। सन्तुलनका यह अभाव सिद्ध करता है कि यह एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें राम-कथासे सम्बद्ध परुष-भावोंको ही अधिक महत्त्व दिया गया है।

'दोहावली','वैराग्य-सन्दीपिनी','बरवै रामायण', और 'रामाज्ञाप्रश्न' ये सभी रचनायें मुक्तक शैलीमें ही हैं। दोहावलीमें नाम-माहात्म्य, धर्मोपदेश, नीति-कथन आदिका प्राधान्य है। वैराग्यसंदीपिनीमें सन्त-स्वभाव और सन्त-महिमाका वर्णन किया गया है। 'रामाज्ञा प्रश्न' में रामकथाके साथ ही शकुन विचारकी सामग्री भी प्रस्तुत की गई है। इसका उद्देश्य शकुन विचार ही है। काव्य-कला-की दृष्टिसे 'बरवै रामायण' का विशेष महत्त्व है। यह रचना भी स्फुट छन्दोंका संग्रह मात्र है। भाव और कलाका इतना सुन्दर संयोग अन्यत्र दुर्लभ है।

अलंकरण—तुलसीकी प्रवृत्ति चमत्कार प्रधान नहीं थी। इसीलिये अलंकारोंके प्रति उनका आग्रह अधिक नहीं था; फिर भी काव्यमें उनकी स्थिति उन्हें मान्य है। यदि उनका काव्य-विषय 'राम-सीय-जस-सलिल' है तो 'उपमा' (अलंकरण) उस सलिलमें 'मनोरम बीचि-विलास' हैं[1]। 'उपमा'का प्रयोग कविने व्यापक अर्थमें किया है। वह सभी प्रकारके अलंकारोंका उपलक्षण है। उपमाका आधार सादृश्य है। अलंकारोंकी कल्पनाके मूलमें सादृश्य-भावना प्रधान रही है। इसलिए उपमाको 'अलंकारशिरोरत्न' कहा गया है। यों तों तुलसीकी रचनाओंमें सभी अलंकार प्राप्त होते है किन्तु 'उपमा', 'रूपक', 'उत्प्रेक्षा','उदाहरण','प्रतीप', 'उल्लेख', 'व्यतिरेक','अपह्नुति', 'मीलित', 'संभावना','सन्देह' आदि अलंकारोंका प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। तुलसीका सर्वप्रिय अलंकार (रूपक) है। 'रूपक'का

---

[1] रामसीय जल सलित सुधासम। उहमा बिचिबिलास मनोरम।

—मानस, बालकांड, ७९।

प्रयोग वे वहीं करते हैं जहाँ कोई गम्भीर बात विशद और प्रभावोत्पादक ढंगसे कहनी होती है। सादृश्य-मूलक अलंकारोंका महत्त्व ही इसी बातमें है कि वे कथ्यको एक सर्वविदित वस्तुके बिम्बका आधार लेकर सर्व-सुलभ बना देते हैं। 'मानस'का सबसे बड़ा रूपक स्वयं रामचरित-मानस रूपक है। 'रामचरितमानस' (रामायण)के विविध वर्ण्य-विषयोंको सरोवरके विविध उपादानोंके साथ रखकर देखा गया है। सरोवर और उसके उपादान सर्वविदित हैं। उनके माध्यमसे कवि 'चरित-सरोवर'की कल्पनाको अधिक सरलतासे ग्राह्य बना सका है।

तुलसीने किसी अलंकारका प्रयोग मात्र प्रदर्शनके लिये नहीं किया है। कहीं किसी पात्रके स्वभावकी व्यञ्जनाके लिए; कहीं किसी भावकी पूर्ण उद्दीतिके लिए, कहीं किसी चित्रको आकार देनेके लिये; कहीं किसी सूक्ष्म-भावनाको स्थूल रूपमें मूर्त करनेके लिये; कभी किसी परिस्थितिके महत्त्वको उभारनेके लिये और कभी किसी एक ही व्यक्तिके प्रति विभिन्न व्यक्तियोंकी मनःस्थितियोंको व्यक्त करनेके लिये उन्होंने विभिन्न अलंकारोंका आधार लिया है। कुछ उदाहरणोंसे इस कथनकी सत्यता सिद्ध हो जायगी। 'दृष्टान्त' और 'उदाहरण' अलंकारोंका प्रयोग प्रायः पात्रविशेषकी सूक्ष्म स्वभावगत विशेषताओंके चित्रणके लिये किया गया है—

सहज सहल रघुबर बचन, कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जल वक्रगति जद्यपि सलिलु समान॥
—दृष्टान्त

उपर्युक्त दोहेमें कैकेयीकी कुटिलता व्यक्त करना ही कविको अभीष्ट है। इसीलिए जोंककी वक्रगतिका उदाहरण दिया दया है।

सखिन सहित हरषीं अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥
सीय सुखहिं वरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती॥
—उत्प्रेक्षा

उर्युक्त चौपाइयोंमें 'हर्ष' और 'सुख'की व्यञ्जनाके लिये 'उत्प्रेक्षा'का आधार लिया गया है।

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौं
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।

× × ×

तुलसी सुरेस-चाप कैधौं दामिनी कलाप,
कैधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।
—सन्देह-गर्भित उत्प्रेक्षा

यहाँ ज्वाल-जाल युक्त विशाल बालधीकी चित्र-कल्पनाको साकार करनेके लिये ही सन्देहगर्भित उत्प्रेक्षाका प्रयोग किया गया है।

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
त्यो रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥
—उपमा

उपर्युक्त दोहेमें रामके प्रति तुलसीकी उष्ण और उत्कट प्रेम-भावनाको मूर्त करनेके लिए ही 'उपमा'का आधर लिया गया है। यहाँ 'धर्म'की समताका औचित्य उसकी उत्कटताके आधारपर ही सिद्ध किया जा सकता है।

"पुनि आउब एहि बेरियाँ काली। अस कहि मन विहसी एक आली।"

उपयुक्त चौपाईमें 'काकुवक्रोक्ति'का प्रयोग किया गया है। यहाँ कविका लक्ष्य एक विशिष्ट क्षणके महत्त्वको उभारना है। रामके भुवनमोहन सौन्दर्यके गम्भीर प्रभाव के कारण सीता आत्म-विस्मृतिकी स्थितिमें हो गई हैं। परिस्थितिकी यह गम्भीरता चतुर सखीकी उक्तिवक्रतासे व्यञ्जित की गई है।

देखहिं रूप महा रनधोरा। मनहुँ वीर रसु धरें सरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छल छोनिप वेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा।
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषन लोचन सुख दाई॥
—उल्लेख

उपर्युक्त चौपाइयोंमें उल्लेख अलंकारका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इसके द्वारा 'राम'के प्रति विभिन्न व्यक्तियों की धारणा स्पष्ट हुई है।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रकट है कि तुलसी ने अलंकारोंका प्रयोग परिस्थिति-गत औचित्यको ध्यानमें रखकर किया है। 'बरवै रामायण'में उनकी मनोवृत्ति कुछ अधिक कलात्मक हो गई है। इसलिये उसके दो-एक छन्दोंमें चमत्कार प्रियता

झलकती है।[१] कदाचित् ऐसा इसलिये हुआ कि 'बरवै रामायण'का कोई गम्भीर उद्देश्य नहीं था। उसकी रचना अलंकारोंको उदाहृत करनेके लिये ही हुई होगी।

शब्द-संघटन—(पद-रचना) भावानुभूतिको सुन्दर ढंगसे व्यक्त करनेके लिये शब्द-संघटनपर ध्यान देना आवश्यक है। विशिष्ट पद-रचनाका भाव-सौन्दर्यसे अनिवार्य सम्बन्ध है। 'रीति'को काव्यकी आत्मा माननेका यही रहस्य है। तुलसीका काव्य-विषय व्यापक, गम्भीर तथा पूर्ण जीवनको व्यक्त करनेमें समर्थ है। अतः अनिवार्यतः उनका शब्द-संघटन व्यापक आधारपर प्रतिष्ठित है। आचार्य भिखारीदासने तुलसी-साहित्यमें विविध-भाषा-शब्दोंकी स्थितिको उनके गौरवके अनुकूल माना है।[२] राजशेखरने काव्यमीमांसामें काव्यपुरुषकी कल्पना करते हुये 'संस्कृत'को उसका मुख, 'प्राकृत'को बाहु, 'अपभ्रंश'को जघन, 'पैशाची' को पैर तथा भाषाके मिश्र रूपको उसका उरु बताया है[३]। इससे प्रकट है कि काव्य-पुरुषकी कल्पनामें भाषाकी विविधताका महत्त्वपूर्ण स्थान मान्य है। इस दृष्टिसे 'तुलसी' का महत्त्व हिन्दी-कवियोंमें अधिक बढ़ जाता है। उनके काव्योंमें 'शुद्ध संस्कृत', 'प्राकृत, 'अपभ्रंश', 'व्रजी', 'अवधी' 'बुन्देलखण्डी', 'राजस्थानी', 'भोजपुरी' और 'खड़ीबोली' आदिके साथ ही अरबी-फारसी जैसे विदेशी भाषा-शब्दोंका प्रयोग भी हुआ है। आज भी हिन्दी-भाषाके कोश-निर्माणमें उपर्युक्त सभी भाषाओंसे शब्द-ग्रहण करना ही समीचीन माना गया है।

विषयके अनुकूल भाषाको समृद्ध करनेके साथ ही भावानुकूल-शब्द-सौष्ठवपर भी तुलसीने पर्याप्त ध्यान दिया है। 'शृंगार'रसकी निष्पत्तिमें माधुर्य गुण विशेष सहायक होता है। 'करुण' और 'शान्त'रसों की अभिव्यक्तिमें भी यह उपकारक होता है। माधुर्य गुणके लिये 'टवर्ग'के वर्ण, 'र'के संयोगसे बने शब्द तथा समास

---

[१] विविध बाहिनी बिलसति सहित अनन्त।
जलधि सरिस को कहै राम भगवन्त॥ —बरवै रामायण।

[२] तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार॥ —भिखारीदास।

[३] "शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्"।
—काव्यमीमांसा, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, पृष्ठ ६।

बहुल पदावली वर्जित है। गीतावलीमें कोमल भावोंको ही प्रधानता दी गई है। इसीलिये इस कृतिमें माधुर्य गुण-युक्त पदावलीका ही प्रयोग किया गया है। ओज गुण-युक्त पदावली 'वीर' 'रौद्र' और 'वीभत्स' रसोंके अनुकूल पड़ती है। 'कवितावली' परुष भावोंसे युक्त रचना है। अतः इसमें ओज गुणका प्राधान्य है। 'प्रसाद गुण' सामान्यतः सभी रसोंका उपकारक है। 'मानस' में प्रसाद गुणपर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। यों, इस महान् कृतिकी भाषामें सभी गुण मिल जाते हैं क्योंकि इसमें सभी रसोंकी निष्पत्ति हुई है।

डॉ० रामकुमार वर्माने तुलसीकी पदरचना-सम्बन्धी एक अन्य विशेषताकी ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है। वे वर्ण-मैत्रीके आधारपर अर्थ-चमत्कार उत्पन्न करनेकी बात कहते हैं। उदाहरणके लिये—

जौं पटतरिय तीय महुँ सीया। जग अस जुबति कहाँ कमनीया।
गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥

इन चौपाइयोंमें कवि सरस्वती पार्वती, और रति तीनोंको सीतासे हीन (लघु) प्रदर्शित करना चाहता है। अतः उसने तीनोंके साथ लघु वर्णोंकी योजना की है।[1] वर्ण-मैत्रीका यह स्वरूप साभिप्राय प्रस्तुत किया गया होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता। अन्यत्र भी उपमानोंको हीन दिखाया गया है किन्तु सर्वत्र ऐसी विशेषता नहीं लाई गई है। जो कुछ भी हो, यह तो मानना ही होगा कि तुलसीको भाषापर अपार अधिकार है। मध्ययुगका अन्य कोई कवि भाषाकी इतनी शक्ति लेकर काव्य-क्षेत्रमें अवतीर्ण नहीं हुआ था। शब्द-भाण्डारकी विशालताके साथ ही कथ्यके अनुकूल वाक्य-विन्यास, शब्द-चयन, लोकोक्तियों और मुहावरोंका उचित प्रयोग, नाद-सौन्दर्य एवं चित्रमयता तुलसीकी भाषाकी प्रमुख विशेषतायें हैं।

---

१. गिरा = **मुखर** (मुखर शब्दमें सभी अक्षर लघु हैं।)
भवानी = **तनु अरध** (इसमें भी सभी अक्षर लघु हैं।)
रति = अति दुखित अतनु पति जानी (तुकान्तको छोड़कर सभी अक्षर लघु हैं)
—हिन्दी-साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ४६१।

कुछ उदाहरण लीजिए—

सहज वाक्य-विन्यास—अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे ।
—कवितावली

मुहावरोंका प्रयोग—रेख खँचाइ कहउँ बलु भाषी । भामिनि भइहु दूध कइ माखी ।
—मानस

शब्द-चयन—फटिक सिला मृदु विसाल, संकुल सुरतरु तमाल
ललित-लता-जाल हरति छवि वितान की ।
—गीतावली

नाद-सौंदर्य—कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि ।
—मानस

चित्रमयता—सुभग सरासन सायक जोरे ।
खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे ।
पीत बसन कटि, चारु चारि सर, चलत कोटि नट सो तृन-तोरे ।
स्यामल तनु स्रम-कन राजत ज्यों नव घन सुधा-सरोवर खोरे ।
ललित कंध, बर भुज, विसाल उर, लेहि कंठ-रेखैं चित चोरे ।
अवलोकत मुख देत परम सुख लेत सरद-ससि की छवि छोरे ।
जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गौंहैं तकत सुभौंह सकोरे ।
सोभा अमित समाति न कानन, उमगि चली चहुँ दिसि मिति फोरे ।
चितवत चकित कुरंग कुरंगिनि सब भए मगन मदन के भोरे ।
तुलसिदास प्रभु बान न मोचत, सहज सुभाय प्रेम बस थोरे ।
—गीतावली

छन्द-योजना

तुलसीने अपनी कृतियोंमें विविध प्रकारके मात्रिक और वर्णिक वृत्तोंका प्रयोग किया है । यद्यपि उनकी प्रवृत्ति छन्दोंके ज्ञान-प्रदर्शनकी नहीं थी; किन्तु उनकी सभी रचनाओंमें कुल मिलाकर लगभग २८ प्रकारके छन्द प्रयुक्त हुये हैं ।

रामचरितमानसमें—दोहा, सोरठा, चौपाई, चौपैया, तोमर, डिल्ला, त्रिभङ्गी, हरिगीतिका आदि मात्रिक तथा अनुष्टुप (श्लोक) इन्द्रवज्रा, तोटक,

नगस्वरूपिणी, भुजंगप्रयात, मालिनी, रथोद्धता, वसंततिलका, वंशस्थ, शार्दूल-विक्रीड़ित, स्रग्धरा आदि वर्णिक वृत्तोंका प्रयोग हुआ है।

कवितावलीमें—कवित्त, छप्पय, सवैया, झूलनाका प्रयोग किया गया है।

बाहुकमें—घनाक्षरी, छप्पय, मत्तगयन्द और झूलनाका प्रयोग किया गया है।

बरवैरामायणमें—'बरवै' छन्द प्रयुक्त है।

जानकीमंगल और पार्वतीमंगलमें 'अरुण' और 'हरिगीतिक'का प्रयोग हुआ है। रामललानहछूमें 'सोहर' छन्द प्रयुक्त है।

रामाज्ञाप्रश्न, सतसई और दोहावलीमें 'दोहा' छन्द प्रयुक्त है।

वैराग्यसंदीपनीमें 'दोहा' 'सोरठा' और 'चौपाई'का प्रयोग हुआ है। गीतावली, श्रीकृष्णगीतावली, और विनयपत्रिका पदशैलीमें लिखी गई हैं। इनकी रचना राग-रागिनियोंके आधारपर हुई है। छन्द-शास्त्रकी दृष्टिसे देखा जाय तो इन पदोंमें कई प्रकारके छन्दोंका आभास हो सकता है। इस प्रकार यह तो निर्विवाद है कि तुलसीको छन्द-शास्त्रका अच्छा ज्ञान था। उन्होंने कुछ सोच-समझकर ही कहा था—

आखर अरथ अलंकृत नाना। छंद प्रबंध अनेक बखाना॥
भाव-भेद रस-भेद अपारा। कबित दोष गुन विविध प्रकारा॥

उन्हें काव्य-शास्त्रके विविध अंगोंका पूर्ण ज्ञान था किन्तु इनका प्रदर्शन उनका ध्येय नहीं था। उन्होंने वर्ण्य-विषयको दृष्टिमें रखकर उसके अनुकूल ही छन्दों का प्रयोग किया है। उनका एकमात्र उद्देश्य अभिव्यक्तिकी पूर्णता है। भाषा, शैली, छन्द, गुण, रीति, अलंकार, उक्तिवैचित्र्य ये सभी उसकी पूर्णतामें सहायक हैं। इसलिये समर्थ कविकी रचनामें ये स्वतः साधन बनकर उपस्थित होते हैं। रससिद्ध कवि तुलसीकी रामभ्रमर-भूषित कवितामञ्जरीमें भी ये सभी उपकरण अभिव्यक्तिको पूर्ण और सुन्दर बनानेके लिये सहज रूपमें संघटित हैं।

तुलसी का समाज-दर्शन

तुलसी-साहित्यका जितना महत्व आध्यात्मिक दृष्टिसे है, उससे कम महत्त्व लौकिक या सामाजिक दृष्टिसे नहीं है। तुलसीका भक्ति-मार्ग ठोस सामाजिक दर्शन पर आधृत है। उन्होंने सामाजिक समस्याओंकी कहीं भी उपेक्षा नही की

है। 'रामचरितमानस' का प्रारम्भ ही संसारकी 'दारुणविपत्ति'के वर्णन और प्रभु द्वारा उसके निवारणकी संभावनासे हुआ है। तुलसीके सामने एक ऐसा समाज है जिसमें शासक स्वेच्छाचारी है। शासन हिंसा पर आधृत है। अनीति और अत्याचार ही शासक वर्गके क्रिया-कलाप हैं।[१] सारा संसार आचरण-भ्रष्ट हो गया है।[२] धर्मके निर्मूलनके लिये सभी प्रकारके प्रयत्न किये जाते हैं।[३] जप, तप, भक्ति, योग, वैराग्य, यज्ञ आदि धार्मिक कार्य समाप्त हो गये हैं।[४] चोरों, जुआरियों, और लम्पटों की वृद्धि हो रही है।[५] धर्मकी अत्यधिक ग्लानि देखकर पृथ्वी व्याकुल हो गई है।[६] समाजका यह रूप उन्हें मान्य नहीं है। समाजका जो आदर्श रूप उनकी मानसिक कल्पनामें साकार था उसका विस्तृत वर्णन उन्होंने राम-राज्यकी स्थापनाके रूपमें किया है। राम-राज्य वर्णनके प्रसंगमें तुलसीका समाज-दर्शन व्यावहारिक रूपमें सामने आता है। तुलसीने परम्परागत भारतीय समाज-व्यवस्थाके अन्तर्गत ही अपने युगकी समस्याओंका समाधान प्राप्त करनेकी चेष्टाकी है। भारतीय समाज-व्यवस्थाकी सबसे बड़ी उपलब्धि वर्णाश्रम धर्म है। राम-राज्यकी स्थापनाके साथ ही तुलसीने वर्णाश्रमधर्मकी पूर्ण प्रतिष्ठाकी है।[७] आश्रम धर्ममें (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, सन्यास) क्रमशः

---

[१] बरनि न जाइ अनीति, घोर निशाचर जे करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्हके पापन कवन मिति।
—मानस, पृ० १८५।

[२] अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
—वही, पृ० १८५।

[३] जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला,। सो सब करहिं वेद प्रतिकूला।
—वही, पृ० १८५।

[४] नहिं हरि भगति जग्य तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिअ न वेद पुराना।
—वही, पृ० १८५।

[५] बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा।
—वही, पृ० १८५।

[६] अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी।
—वही, पृ० १८६।

[७] बरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग,
—वही, पृ० ८९१।

व्यक्तित्वके उन्नयनका विधान है। वर्णव्यवस्था सामाजिक मर्यादा एवं लोकहितकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। यह व्यवस्था अपने वास्तविक रूपमें ऐसे समाजमें ही प्रतिष्ठित हो सकती थी जिसमें परपस्र भेद-भाव न हो। इसीलिये तुलसीके आदर्श समाजमें—कोई किसीसे वैर नहीं करता। इस समाजमें विषमता समाप्त हो गई है।[1] सब लोग परस्पर प्रेम करते हैं। श्रुति-नीति का अनुसरण करते हुये अपने धर्मका पालन करते हैं। न कोई दरिद्र है न दुखी न दीन। न कोई मूर्ख है न कुलक्षण।[2] कहनेकी आवश्यकता नहीं कि तुलसी द्वारा चित्रित यह समाज महात्मा गांधीके 'सर्वोदय समाज' के कितने निकट है। गांधीके सर्वोदय समाजका आधार भी भौतिक नहीं आध्यात्मिक है। वे सत्य और अहिंसाके बलपर सर्वोदयका स्वप्न देख सके हैं। सर्वोदय समाजमें व्यक्ति सभी प्रकारके शोषणसे मुक्त माना गया है। उसकी सभी आर्थिक आवश्यकताओंकी पूर्तिकी सम्भावना की गई है।[3] यही नहीं सर्वोददय समाजमें सभीके चरम कल्याणको लक्ष्य रूपमें स्वीकार किया गया है।[4] तुलसीने भी सभीके कल्याणका चित्र प्रस्तुत किया है। उनके सर्वोदयका आधार भी आध्यात्मिक है। जिस समताकी बात तुलसीने की है वह रामके प्रतापसे स्थापित होती है। 'राम' मानवताके चरम विकसित आध्यात्मिक गुणोंकी समष्टि हैं जो पीड़ितोंके हितके लिये अवतार

---

१. बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।

—मानस, उत्तरकाण्ड।

२. सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।

× × ×

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।

—मानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ८९२।

३. The Sarvodaya Samaj of Gandhiji is based on Truth and nonviolence in which the individual enjoys freedom from exploitation and fulfilment of economic needs.

—*Social Philosophy of Mahatma Gandhi*, p. 312.

४. He calls it 'Sarvodaya Samaj' in which 'The Greatest good of all' is the end.

—वही, पृ० ४५।

लेते हैं। लोक पीड़कोंका मूलोच्छेद करनेके लिये कटिबद्ध रहते हैं। जिनका प्रत्येक आचरण नीति-युक्त होता है। जो सदैव धर्म-रथपर आसीन रहते हैं। जो मर्यादावादी हैं। यह होते हुये भी तुलसीके रामराज्यको आजकी आदर्श समाजवादी व्यवस्थाके साथ रखकर नही देखा जा सकता। आजका समाजवादी पूँजीपति और उसके द्वारा स्थापित पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति सदैव शत्रुभाव रखता है।[१] रामराज्यमें कोई किसीसे बैर नहीं करता, किसीका स्वार्थ दूसरेसे नहीं टकराता। रामराज्यमें प्रतिष्ठित सामाजिक समता वर्ग संघर्षका परिणाम नहीं है वह रामके व्यक्तित्वके प्रभाव स्वरूप स्थापित हुई है जिसमें चारों वर्णोंकी स्थिति मान्य है। गाँधी भी वर्णव्यवस्थामें विश्वास करते हैं और उसे ही सच्चा समाजवाद मानते हैं।[२] किन्तु उनकी वर्णव्यवस्थाका आधार जन्म नहीं कर्म है। वे वर्ण-परिवर्त्तनमें विश्वास करते हैं। जन्म-जात ब्राह्मण उनकी दृष्टिमें तभी ब्राह्मण मान्य हो सकता हैं जब बड़ा होनेपर वह ब्राह्मणत्व (ब्राह्मणोचित गुण) प्राप्तकरले।[३] तुलसी इस सीमा तक नहीं जा सकते थे। उनके सामने यह प्रश्न ही नहीं था। ब्राह्मण जब विधिवत् अपने धर्मका पालन करेगा तो ब्राह्मणत्व अवश्य प्राप्त करेगा। सभी वर्णोंके लोग जब अपने परम्परागत

---

[१] The Socialists out-look must be one of persistent-hostility to the capitalists and their economic system; his whole life should be coloured by this out-look.

—*Recent Political Thought*, p. 142.

[२] We have submitted, earlier, that Gandhiji who is so proud of calling himself a Hindu conceives of social relations based on this law of Varna and calls it true socialism.

—*Social Phi. of M. Gandhi*, p. 252.

[३] Varna is determined by birth but can be retained only by observing its obligations. One born of Brahman parents will be called Brahman, but if his life fails to reveal the attributes of Brahman when he comes of age, he can not be called a Brahman.

—वही, पृ० २५३।

कार्योंमें लगे रहेंगे तो परस्पर स्वार्थगत संघर्ष भी न होंगे। कदाचित् ब्राह्मण संस्कृतिके उच्च आदर्शोंसे पूर्ण प्रभावित तुलसीका मन यह माननेको तैयार नहीं था कि शूद्र भी नाना प्रकारके जप-तप और व्रत करें तथा ऊँचे आसनपर बैठकर पुराणोंका उपदेश दें।[1] वे प्रत्येक व्यक्तिको अपनी मर्यादाका पालन करते हुये देखना चाहते हैं। उनके द्वारा चित्रित समाजमें प्रत्येक व्यक्तिका सामाजिक मूल्य निर्धारित है। निषाद, केवट, कोल-किरात, शबरी, गीध (जटायु) आदि निम्नवर्गीय तथा, वशिष्ठ, राम, जनक आदि उच्चवर्गीय सभी प्रकारके पात्र अपनी सामाजिक स्थितिके प्रति सचेष्ट और सजग हैं। उदाहरणके लिए—

(क) निषादराज मुनि वशिष्ठको अपना परिचय देते हुये दूरसे ही प्रणाम करते हैं।

(ख) केवटके गूढ़-प्रेमकी सार्थकता रामके पद-पखारनेमें ही है।

(ग) कोल-किरात आदि बनचर अपनी सामाजिक हीनतासे भलीभाँति अवगत हैं—

'तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा। पावा दरसनु राम प्रसादा'[2] ॥

(घ) शबरी जानती है कि वह अत्यन्त नीच जाति और मूढ़ बुद्धिवाली है—
"केहि विधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी[3]॥"

(ङ) गीध तो पक्षियोंमें भी अधम और मांसाहारी है—

'गीध अधम खग आमिष भोगी'[4]।

इसी प्रकार गुरु वशिष्ठ दशरथ-मृत्यु और राम-बनवासके पश्चात् अपने विज्ञानके प्रकाशसे सभीका शोक निवारण करके और स्वयं राज-कार्य संचालन करते हुये अपनी राजनैतिक एवं सामाजिक श्रेष्ठताका प्रमाण देते हैं। राम सदैव बड़ोंको आदर और छोटोंको स्नेह प्रदान करते हैं। चित्रकूटमें जनकके पहुचने-

---

[1] सूद्र करहिं जप-तप-व्रत नाना। बैठि बरासन करहिं पुराना॥
—मानस, उत्तरकांड, पृ० ९६०।

[2] मानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ५३२।

[3] मानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६३९।

[4] मानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६२८।

पर समस्याके समाधानका दायित्व उन्हींपर छोड़ा जाता है। इस प्रकार उनकी सामाजिक श्रेष्ठता स्वीकार की जाती है। भरतजी तो एक साथ ही जनक और गुरुको पितासे भी श्रेष्ठ स्थान प्रदान करते हैं—

प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुलगुरु सम हित माय न बापू ॥[1]

तुलसीके समाज-दर्शनका आधार यही सामाजिक मर्यादा है। समाजके अन्तर्गत अनेक स्तर उन्हें मान्य हैं किन्तु उन्होंने इन विविध स्तरोंको प्रेमके आधारपर सम-भूमिपर प्रतिष्ठित किया है। प्रेमके क्षेत्रमें सभी समान धरातलपर हैं। राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, ऊँच-नीच की सामाजिक सत्ता ही नहीं रहेगी ऐसी कल्पना मध्य-युगमे नहीं की जा सकती थी। तुलसीने जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्थाकी परम्परागत मान्यताको स्वीकार करके उसीके अन्तर्गत अपने युगकी सामाजिक समस्याओंको सुलझानेकी चेष्टा की उसी प्रकार राजतन्त्रकी प्राचीन परम्पराको स्वीकार करके एक बृहत् सुशासित साम्राज्यके अन्तर्गत ही राजनैतिक समस्याओं-का समाधान देनेका प्रयत्न किया।[2] इसके लिये एक ओर तो उन्होंने राजामें आदर्श गुणोंकी प्रतिष्ठा की दूसरी ओर प्रजामें राजाके प्रति पूर्णनिष्ठाकी भावना जाग्रत की। आदर्श राजा साधु, सुजान और सुशील होता है।[3] उसके अनीतिमय आचरणपर प्रजाको बोलनेका अधिकार होता है। उसे प्रजाके दुःखका सदैव ध्यान रहता है।[4] वह स्वेच्छाचारी नहीं होता[5]। वह सभीको समान दृष्टिसे देखता है[6]। वह अवसरके अनुकूल साम, दाम, दण्ड, भेद सभी

---

[1] मानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ५६६।

[2] भूमि सप्तसागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला।
—मानस, उत्तरकाण्ड ८९२।

[3] साधु सुजान, सुशील नृपाला।

[4] जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

[5] जो पाँचहिं मत लागइ नीका। करहु हरषि हिय रामहिं टीका।
जौं अनिति कछु भाखौं भाई। तो मोहि बरजहु भय बिसराई।

[6] मुखिया मुख सो चाहिये खान पान को एक।
—दोहावली, दोहा ४२२।

मधुसाह नंद इमि उच्चरइ खंड खंड पिंडहि करहुँ ।
कट्टरहुँ सुदंत हथियान के मर्दहुँ दल यह प्रन धरहुँ ॥[1]

यद्यपि यह वर्णन चारण कवियोंकी छप्पय-पद्धतिपर किया गया है और इसमें परम्परागत उक्तियोंका आधिक्य है किन्तु इसमें निहित उत्साह-भावना और उसकी ओजपूर्ण व्यञ्जना केशवकी युद्ध-वर्णन-क्षमताकी परिचायिका है। राजदरबारमें रहते हुए केशवने 'भय' 'आतंक' और 'उत्साह' की प्रत्यक्ष अनुभूति की थी। सम्भवतः उन्हें युद्ध-भूमिमें भी उपस्थित होना पड़ा था। अतः उनकी कृतियोंमें इस प्रकारके वर्णनोंका सजीव होना स्वाभाविक है।

'रामचन्द्रिका' में 'राम-विरक्ति-वर्णन-प्रसंग'के अन्तर्गत 'निर्वेद' की व्यञ्जना करनेमें भी केशवको सफलता मिली है—मूढ़ मनकी भर्त्सना करते हुए वे कहते हैं—

पैरत पाप पयोनिधि मैं नर मूढ़ मनोज जहाज चढ़ोई ।
खेल तऊ न तजै जड़ जीव जऊ बड़वानल क्रोध डढ़ाई ।
झूठ तरंगनि में उरझै सु इते पर लोभ-प्रवाह बढ़ाई ।
बूड़त है तेंहि ते उबरै कह केशव काहे न पाठ पढ़ोई ॥[2]

इस प्रकार यदि सब मिलाकर देखा जाय तो भावाभिव्यक्तिमें केशव सर्वथा असफल नहीं हैं। वे असफल इसलिए प्रतीत होते हैं कि मानव जीवनके साथ व्यापक और गम्भीर सहानुभूतिका उनमें अभाव है। आचार्य शुक्लने उन्हें हृदयहीन इसीलिए कहा था कि मनुष्यका मनुष्यके प्रति जो सहज राग है उसका पूर्ण विकास केशवकी कवितामें नहीं मिलता। शुक्लजीकी सहृदयता मनुष्यताका पर्याय है। 'सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र और समस्त चराचर क्षेत्रसे मार्मिक तथ्योंका चयन' केशवके बूतेकी बात नहीं थी। 'सर्वभूतको आत्मभूत करके अनुभव कराना' भी उनके वशका न था। 'केवल असाधारणत्व-दर्शनकी रुचि' का त्याग केशव नहीं कर सकते थे जिसे शुक्लजी सच्ची सहृदयतामें सबसे बड़ी बाधा मानते हैं। सच्ची भावुकता या सहृदयता, शुक्लजीके शब्दोंमें—मुखके

---

[1] 'आचार्य केशवदास', डॉ० हीरालाल दीक्षित, पृष्ठ १५८ पर उद्धृत।

[2] 'केशव-कौमुदी' चौबीसवाँ प्रकाश, छन्द २२।

लावण्य, वनस्थलीकी सुषमा, नदी या शैल तटीकी रमणीयता, कुसुम-विकासकी प्रफुल्लता, ग्रामदृश्योंकी सरल माधुरीको देखकर मुग्ध होना; किसी प्राणीके कष्टव्यञ्जक रूप और चेष्टापर करुणार्द्र होना; किसीपर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोधसे तिलमिला उठना—अर्थात् व्यक्त प्रकृतिके समस्त रूपों और मानव-जीवनकी सभी परिस्थितियोंके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करनेमें है।[१] जो प्रकृतिकी विराट् रमणीयतासे आँख मूँदकर केवल कामिनीकी मुख छवि निहारा करते हैं, जो दुःखियोंके दुखको देखकर करुणार्द्र नहीं हो सकते जो अत्याचारीके अत्याचारपर क्रोध न कर मानिनीके मान-जनित-कोपको ही काव्यका विषय बना सकते हैं, उन्हें पूर्ण सहृदय कैसे कहा जाय ? जो लोग 'रसिकप्रिया' की स्फुट रसात्मक उक्तियोंके आधारपर केशवको सहृदय प्रमाणित करते हैं वे हृदयको केवल रति भाव' का ही अधिष्ठान मान लेते हैं और 'रति' भी वह जो केवल नायक-नायिकाकी विलास-चेष्टाओंके माध्यमसे व्यक्त हो सकती है। शेष सृष्टिके साथ भी तो कवि रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। व्यावहारिक धरातलपर भी रसिक और सहृदय एक ही कोटिके प्राणी नहीं हैं। निर्मम डाकू भी कामिनीके कटाक्ष-बाणोंसे आहत होकर उसकी ओर बार-बार लोलुप दृष्टिसे निहारता हुआ अपनी रसिकताकी ही व्यञ्जना करेगा किन्तु उसे सहृदय कहना तो सहृदयताके साथ अन्याय करना होगा। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि शुक्लजीकी सहृदयताकी कसौटी पर तुलसीको छोड़कर हिन्दी-साहित्यका अन्य कोई कवि खरा नहीं उतरता। यदि केशवने भी प्रबन्धकाव्य न लिखा होता तो उनकी यह छीछालेदर न होती। प्रबन्ध-काव्यकी रचनामें मानव जीवनकी प्रत्येक परिस्थितिके साथ तादात्म्य स्थापित करके अवसरके अनुकूल भाव-योजना करनी पड़ती है, क्योंकि शील-प्रतिष्ठा प्रबन्धकाव्यकी सबसे बड़ी विशेषता है। उसमें अनेक पात्रोंका चरित्र स्फुटित होता है। पात्र-विशेषके शील-वैशिष्ट्यका ध्यान रखकर ही भाव-योजना की जाती है। ऐसा न करनेपर पात्रोंका उचित चारित्रिक विकास नहीं हो पाता। तुलसीके आदर्श काव्यकी कसौटीपर ही शुक्लजीने केशवको हृदयहीन कहा है। स्मरण रखना होगा कि केशवकी रसिकतासे शुक्लजी अवगत थे। अपने

---

[१] 'रसमीमांसा', पृष्ठ २६१।

इतिहासमें उन्होंने लिखा है—"कहते हैं, वे रसिक जीव थे।"[1] 'रसिकता' और 'सहृदयता' ये दोनों शब्द उनकी दृष्टिमें पर्याय नहीं थे। यदि केशवदासने केवल मुक्तक-काव्य-रचनाकी होती तो कदाचित् शुक्लजीको यह कहनेका अवसर न मिलता कि 'केशवको कवि-हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए'।[2] शुक्लजीके आदर्श कवि यदि 'बिहारी', 'मतिराम' या 'देव' होते तो भी काम चल जाता। वे तो जब भी कविकी बात करते हैं तो उनके मनमें 'तुलसी' प्रतिष्ठित रहते हैं। तुलसी और केशवको साथ रखकर देखनेपर तो वही कहा जायगा जा शुक्लजीने कहा है। भाव-चित्रणमें केशवने परिस्थितिगत औचित्यका भी ध्यान नहीं रखा है। एक उदाहरण लीजिए—युद्ध-विजयके लिए रावण यज्ञ कर रहा है। अंगद आदि सेनानायक मख-भंग करने जाते हैं। अंगद मन्दोदरीको पकड़कर घसीटते हुए चित्रशालासे बाहर ले आते हैं। उसके गलेका हार टूट जाता है; वेणीके फूल बिखर जाते हैं; कंचुकी फट जाती है। वह आर्त्त-स्वरसे रक्षार्थ रावणको पुकारती है। निश्चय ही यह चित्र करुणापूर्ण कहा जायगा। केशव ऐसी परिस्थितिमें मन्दोदरीके कंचुकी-रहित उरोजोंके वर्णनमें तल्लीन हो जाते हैं। वे एकके बाद एक उत्प्रेक्षाएं करते चले जाते हैं—

बिना कंचुकी स्वच्छ वक्षोज राजैं।
किधौं साँचहू श्री फलै सोभ साजैं॥
किधौं स्वर्ग के कुम्भ लावण्य पूरे।
वशीकर्ण के चूर्ण सम्पूर्ण पूरे॥[3]

शत्रुकी स्त्रीकी भी एक मर्यादा है और ऐसा शत्रु जिसे लोक-पीड़कके रूपमें नहीं दिखाया जा सका है। 'रामचन्द्रिका' में रावण रामके व्यक्तिगत शत्रुके रूपमें ही चित्रित किया गया है। अंगदका मन्दोदरीको पकड़ना और घसीटना ही बहुत था। दुर्दशा-ग्रस्त शत्रु-नारीकी फटी कचुकीमे उभरे हुए उरोजोंका वर्णन किस भावकी उद्भावना करनेके लिए किया गया है? विज्ञ पाठक स्वयं निर्णय

---

[1] 'हिन्दी साहित्यका इतिहास', रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २१३।

[2] वही, पृष्ठ २०९।

[3] 'रामचन्द्रिका', उन्नीसवाँ प्रकाश, छन्द ३१।

कर सकते है कि यह वर्णन रसिकताके तकाजेसे किया गया है या सहृदयताके आग्रह से !

चरित्र-चित्रण—केशवका चरित्र-चित्रण देखकर सर्वाधिक निराशा होती है। केशवके 'राम' उग्र, रसिक और स्त्रैण हैं। उग्र ही रहते तो कोई बात नहीं थी। उन्हें रसिक और स्त्रैण सामन्तकी भूमिकामें देखकर केशवकी बुद्धिपर तरस आता है। 'सीता'के आदर्श चरित्रकी रक्षा भी केशवदास नहीं कर सके हैं। रामकी सेवा करना तो दूर, मार्गमें श्रमित हो जानेपर वे स्वयं रामसे पंखा झलवाती हैं और रामका श्रम तो उनके 'चंचल चारु दृगंचल'से ही दूर हो जाता है। केशवके 'भरत' हठी हैं। स्वयं रामको उनके चरित्रपर विश्वास नहीं है। 'कौशल्या'का चरित्र तो सामान्य स्त्रियोंकी कोटिसे भी नीचे गिर गया है। वे महाराज दशरथके लिए निस्संकोच कह सकती हैं—

लगी अब बाप तुम्हारेहि बाइ।
करैं उलटी विधि क्यों कहि जाइ ॥[1]

राम-कथाके ये प्रमुख पात्र हैं। अन्य साधारण पात्रोंकी चर्चा करना ही व्यर्थ है। पात्रोंके चारित्रिक पतनका कारण भी केशवकी हृदयहीनता ही है। वे किसी भी पात्रके साथ सहृदयता नहीं दिखा सके। यदि उनमें प्रत्येक मानव-स्थितिमें अपनेको डालकर उसके साथ मानसिक तादात्म्य-स्थापनकी क्षमता होती तो 'रामचन्द्रिका'के पात्रोंकी यह दुर्दशा न होती। शील-निरूपण केशवका लक्ष्य भी नहीं था। वे तो अपने छन्द-ज्ञानका प्रदर्शन करना चाहते थे। उन्होंने बहुत साफ शब्दोंमें कह भी दिया है—

"रामचन्द्रकी चन्द्रिका वर्णत हौं बहुछन्द।"[2]

वस्तुवर्णन—रामचन्द्रिकामें छन्द-ज्ञान प्रदर्शनकी प्रवृत्तिके बाद दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति वस्तु-वर्णन की है। किसी वस्तुको लेकर उसके प्रस्तुत रूपके समानान्तर अनेक उत्प्रेक्षायें करते हुए सम्भावित चित्र अंकित करनेकी प्रवृत्ति केशवमें कम नहीं है। यह प्रवृत्ति उन्हें संस्कृत-साहित्यके परवर्ती काव्यकारोंसे विरासतमें मिली

---

[1] 'रामचन्द्रिका' नवाँ प्रकाश, छन्द, ८।

[2] 'रामचन्द्रिका' पहिला प्रकाश, छन्द २१।

थी। प्रबन्धकाव्यमें वस्तु-वर्णनकी अपनी महत्ता होती है। उससे हमें मानवीय सभ्यताके विकासका ज्ञान प्राप्त होता है। कभी-कभी प्रकृतिकी नैसर्गिक रमणीयताके सुरम्य चित्रों और मानवीय कला-कृतियोंके सुष्ठु शब्द-चित्रोंको एक साथ उपस्थित करके प्रबन्धकार कवि न केवल अपनी विशाल हृदयताका परिचय देता है वरन् मानवीय सौन्दर्य-चेतनाके ऐतिहासिक विकासकी रूप-रेखा भी प्रस्तुत कर देता है। केशवने भी प्राकृतिक वस्तुओं और मानव निर्मित कला-कृतियों, दोनोंका वर्णन किया है। प्रकृति-वर्णनके अन्तर्गत, 'बारहमास' और षटऋतु' वर्णनके साथ ही प्राकृतिक दृश्यों—सूर्योदय, चन्द्रोदय, गिरि, सरिता, समुद्र, पंचवटी, राजबाटिका—और कृत्रिम पर्वत एवं सरिताका वर्णन भी केशवने किया है। 'बारहमासा' का वर्णन तो 'आक्षेप' अलंकारके बहाने किया गया है। कविने 'शिक्षाक्षेप' अलंकारका बारह प्रकारसे वर्णन करते हुए बारहों महीनोंका वर्णन किया है। प्रत्येक महीनेके कामोद्दीपक तत्त्वोंको सामने रखते हुए नायिका प्रियतमको विदेश जानेसे रोकती है। प्रकृतिको यहाँ उद्दीपन विभावके रूपमें ही ग्रहण किया गया है। एक उदाहरण अप्रासंगिक न होगा।

फूली लतिका ललित तरुनितर फूले तरुवर।
फूलीं सरिता सुभग सरस फूले सब सरवर॥
फूलीं कामिनी कामरूप करि कतनि पूजहिं।
शुक-सारी-कुल-केलि फूलि कोकिल कल कूजहिं॥
कहि केशव ऐसी फूल महि शूलन फूल लगाइये।
पिय आप चलन की को कहै चित्त न चैत चलाइये॥[1]

ऋतुओंका वर्णन भी अलंकार विशेषको उदाहृत करते हुए किया गया है। ऋतुवर्णन यों भी केशवके अनुसार वर्ण्य अलंकारोंके अन्तर्गत ही आता है। आलंकारिक दृष्टि होनेके कारण ही 'कविप्रिया' और 'रामचन्द्रिका' दोनोंमें ऋतु-वर्णनवाले छन्द प्रायः एक ही हैं। जो भी हो, ऋतु-वर्णन करते हुए केशवका ध्यान ऋतुगत प्राकृतिक सौन्दर्यकी ओर न होकर दूसरी ही ओर था। वसन्त-ऋतुकी सुषमामें उन्हें शिवका समाज दिखाई पड़ता

---

[1] 'कविप्रिया' दशवाँ प्रभाव, छन्द २४।

है ।[1] ग्रीष्मके प्रकाशमें वे शवर-समूह देखते हैं ।[2] वर्षाके आगमनमें उन्हें कालिका का आगमन भासित होता है ।[3] सुहावनी शरद उन्हें शारदाकी प्रतीति कराती है ।[4] हेमन्तको वे वियोगिनी स्त्रीके रूपमें देखते हैं ।[5] शिशिरमें वे गणिकाकी कल्पना कर लेते हैं ।[6] जिस प्रकार योगी समस्त ब्रह्माण्डको अपने पिण्डमें ही देख लेता है उसी प्रकार महाकवि केशव ऋतु अनुकूल परिवर्तित समस्त प्राकृतिक सुषमाको मानवीय सौन्दर्यकी सीमाओंमें ही देख लेते हैं । नर-क्षेत्रके बाहर उन्होंने सम्भवतः काव्य-रीति-पालनके लिए ही पैर रखा है । प्रकृतिके मुक्त-विराट् वैभवके प्रति उनके मनमें कोई विशेष राग नहीं था । उनके 'सूर्योदय' और 'चन्द्रोदय' वर्णनकी भी यही कहानी है । सूर्य-बिम्बमें तो वे एक साथ ही कामदेवका मुख, रावणका मुख, बुद्धिका विकास, विष्णुके चरण, मनुकी नीतिका प्रकाश और भगवान् राम, सभीको देख लेते हैं ।[7] चन्द्र-बिम्बमें वे नारद भगवान्के दर्शन करते हैं ।[8] 'रामचन्द्रिका'में प्रभातकालीन सूर्यका वर्णन करते समय भी केशवदासजीने आलंकारिक उक्तियोंसे ही काम लिया है । सूर्यके अरुण बिम्बमें उन्हें कभी लक्ष्मणके अनुरागकी लालिमा दिखाई पड़ती है, कभी चिताकी ज्वाला । कभी वे उसे सिन्दूर-पूरित मंगल घटके रूपमें देखते हैं; कभी माणिक्यकी किरणोंसे निर्मित इन्द्र-छत्रके रूपमें । यहाँतक तो ठीक था, किन्तु अन्तमें महाकविने भगवान् सूर्यदेवके अरुण बिम्बको कालरूपी कापालिकके हाथमें रक्त-रंजित मुंडके रूपमें कल्पित करके पूर्वोल्लिखित सारे रमणीय कल्पना-चित्रोंपर वीभत्सताकी कूँची फेर दी है ।[9] अलंकारोंके प्रति अतिशय मोह होनेके कारण ही

---

१. 'कविप्रिया', सातवाँ प्रभाव, छन्द २८ ।
२. " " " ३० ।
३. " " " ३२ ।
४. " " " ३४ ।
५. " " " ३६ ।
६. " " " ३८ ।
७. " " " २४ ।
८. " " " २६ ।
९. 'रामचन्द्रिका', पाँचवाँ प्रकाश, छन्द १० ।

केशवदासजीने 'दण्डक बन'की शोभाको प्रलयकालकी वेलाके रूपमें देखा।[१] पंचवटीको धूर्जटीके गुणोंसे युक्त समझा[२] और 'पम्पासर' में श्वेत कमलकी छतरीपर भौंरोंको देखकर ब्रह्माके सिरपर विष्णुके विराजमान होनेकी कल्पना की।[३] जहाँ-कहीं कवि इस प्रकारके चमत्कारिक वर्णनोंसे थोड़ा मुक्त है वहाँ उसने वस्तु परिगणना कराकर ही छुट्टी पाली है। 'रामचन्द्रिका'में विश्वामित्रके तपोवनका वर्णन इसी प्रणालीपर किया गया है—देखिये—

तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर,
मंजुल वंजुल लकुच वकुल केर नारियर।
एला ललित लवंग संग पुंगी फल साहै।
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि माहै।[४]

'कादम्बरी' के कथामुख भागमें ठीक इसी प्रकारका वणन महाकवि बाणने भी किया है—

"तालतिलकतमालहिन्तालबकुलबहुलैः एलालताकुलितनारिकेलिकलापैः लोललोध्रधवलीलवगपल्लवैः उल्लसितचूतरेणुपटलैः अलिकुलझंकारमुखरसहकारैः उन्मदकोकिलकुलकलापकालाहलिभि उत्फुल्लकेतकीरज…"[५]

सत्य यह है कि केशवदासजीने काव्यके वर्ण्य विषयोंके चयन और उनके वर्णनमें भी काव्य-रीतिका अक्षरशः पालन किया है। प्राकृतिक वस्तुओंकी एक निश्चित सूची सामने रखकर ही वे उनका वर्णन करने बैठे थे।

भूमि-भूषण के अन्तर्गत—

देश, नगर, बन, बाग, गिरि, आश्रम सरिता, ताल,।
रवि, शशि, सागर, भूमि के, भूषण, ऋतु सब काल॥[६]

---

१. रामचन्द्रिका ग्यारहवाँ प्रकाश २०।
२. ,, ,, ,, १८।
३. ,, बारहवाँ ,, ४९।
४. ,, तीसरा ,, १।
५. कादम्बरी, निर्णय सागर प्रेस, पृ० ८३, ८४।
६. कविप्रिया, साँतवाँ प्रभाव, छन्द १।

कुल गिनी-चुनी ग्यारह वस्तुयें वर्णनकी जानी चाहिए। इनमें भी प्रत्येकके वर्णनका एक निश्चित विधान हैं, जो केशवको पूर्णतः मान्य है। उसका उल्लंघन वे नहीं कर सकते थे। उदाहरणके लिए बाग-वर्णनकरनेमें लता, तरुवर, कुसुम, कोकिल, कलरव, मोर और भवरोंका चारों ओर भ्रमित होना वर्णन करना चाहिए—

ललित लता, तरुवर, कुसुम, कोकिल, कलरव मोर।
बरनिे बाग अनुराग स्यों, भँवर भँवत चहुँ ओर ॥[1]

बस, जहाँ-कहीं बाग-वर्णन करना हुआ चट उपर्युक्त वस्तुओंका नाम लिया और आगे बढ़े। या यदि रुके तो चमत्कार-प्रदर्शनके लिए प्रकृतिके उपकरणोंमें मानवीय सौन्दर्य या दैवी गुणोंका आरोप करने लगे। इसालिए केशवके प्रकृति-वर्णन में कहीं भी प्राकृतिक रमणीयताका नैसर्गिक रूप-चित्र देखनेको नहीं मिलता। कहा जाता है कि 'वीरसिंहदेव चरित' में प्राकृति-वर्णन उत्तम है। किन्तु सची बात है कि केशवका प्रकृति-वर्णन-विषयक दृष्टिकोण सर्वत्र एक-सा है। रामकी वाटिका और वीरसिंह देवकी वाटिकामें कोई अन्तर नहीं है। रामचंद्रिकाके बत्तीसवें प्रकाशमें राम-वाटिकाका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

अति मंजुल वंजुल कुंज विराजैं। बहु गुंज निकेतन पुंजनि साजैं।
नर अंध भए दरसे तरु मोरे। तिनके जनु लोचन हैं इक ठौरे ॥[2]

अब वीरसिंहदेवकी वाटिका पर गौर कीजिए—

सोहत वंजुल कुञ्जल कुंज। जनु लिपटे गुंजनि के पुंज।
काम अंध मुनिजन के नैन। एक ठौर जनु राखे मैन[3] ॥

दोनों ही वर्णन आलंकारिक हैं और दोनोंमें एक ही प्रकार के शब्दोंमें एकही बात कही गई है। कुल मिलाकर केशव के काव्यमें प्रकृति-वर्णनकी तीन शैलियाँ लक्षित होती हैं। आलंकारिक शैली, वस्तुपरिगणन शैली और मानवीय भाव-सापेक्ष शैली (उद्दीपक रूपमें प्रकृतिको देखना और उसे मानव-भावनाको जागृत

---

[1] वही, सातवाँ प्रभाव, छन्द, ८।

[2] रामचन्द्रिका, बत्तीसवाँ प्रकाश, छन्द १३।

[3] वीरसिंहदेव चरित, पृष्ठ २८२, मातृभाषा मंदिर, दारागंज प्रकाशन।

करनेवाली मानकर उसका वर्णन करना)। जो लोग केशवके काव्यमें प्रकृतिका मुक्त रूप देखना चाहते हैं या उसका बिम्ब-ग्रहण करना चाहते हैं उन्हें निराश होना पड़ता है।

प्रकृतिसे इतर वस्तुओंके वर्णनमें केशवको अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है। विशेषतः राजवैभव, सेना-प्रयाण, युद्धस्थल, आदिके वर्णन सजीव और सुन्दर बन पड़े हैं। जनकपुरीमें सीताकी सखियोंका वर्णन रमणीय और काव्य-सौष्ठव युक्त है। आलंकारिक होने पर भी यह वर्णन स्वभाविक रूप-चित्रणकी सीमाओंमें ही आता है। देखिये—

मुख एक है नत लोक-लोचन लोल लोचन कै हरै।
जनु जानको संग सोभिजै शुभ लाज देहहिं का धरै।
तहँ एक फूलन के विभूषन एक मोतिन के किए।
जनु छीरसागर देवता तन छीर-छीटन को छिए।[1]

सम्भावना मूलक होनेके कारण उत्प्रेक्षा अलंकार सदैव उक्तिको स्वाभाविकताकी सीमासे अधिक दूर नहीं ले जाता। इसलिए कथनकी रमणीयता बनी रहती है। नताननना और लोल-लोचना सखीके लिए 'लज्जा' उपमान लाकर कविने बड़ी ही सुन्दर कल्पनाका परिचय दिया है। इसी प्रकार रामके 'शयनागार' का वर्णन राजकीय मर्यादाके अनुसार वैभव-विलासपूर्ण किया गया है। रामके तिलकोत्सवका भी सांगोपांग वर्णन किया गया है। 'वीरसिंहदेवचरित'में गोपाचलसे नरवरके लिए प्रयाण करती हुई अकबरकी सेनाका बड़ा ही यथार्थ चित्र अंकित हुआ है। देखिये—

देस-देस के राजा घनै। मुगल पठाननि कौ को गनै।
जहाँ तहाँ गज गाजन घनै। पुरवाई के जनु घन घनै।
चौपद दुपद कहाँ लौं कहौं। कहें लगौं तो अंतु न लहौं।
या रङ्ग एक चलेई जात। एक देखिए पीवत खात।
ठलहत ऊंट एक देखिए। लादत साज एक पेखिए।
एकन तम्बू दियौ गिराइ। रखत उठावत एक बनाइ।[2]

---

[1] रामचन्द्रिका, छठा प्रकाश, छन्द ६१।

[2] वीरसिंहदेवचरित, मातृभाषा-मन्दिर, दारागंज, प्रयाग, पृष्ठ ५९।

कुल गिनी-चुनी ग्यारह वस्तुयें वर्णनकी जानी चाहिए। इनमें भी प्रत्येकके वर्णनका एक निश्चित विधान हैं, जो केशवको पूर्णतः मान्य है। उसका उल्लंघन वे नहीं कर सकते थे। उदाहरणके लिए बाग-वर्णनकरनेमें लता, तरुवर, कुसुम, कोकिल, कलरव, मोर और भवरोंका चारों ओर भ्रमित होना वर्णन करना चाहिए—

ललित लता, तरुवर, कुसुम, कोकिल, कलरव मोर।
बरनि बाग अनुराग स्यों, भँवर भँवत चहुँ ओर॥[1]

बस, जहाँ-कहीं बाग-वर्णन करना हुआ चट उपर्युक्त वस्तुओंका नाम लिया और आगे बढ़े। या यदि रुके तो चमत्कार-प्रदर्शनके लिए प्रकृतिके उपकरणोंमें मानवीय सौन्दर्य या दैवी गुणोंका आरोप करने लगे। इसीलिए केशवके प्रकृति-वर्णन में कहीं भी प्राकृतिक रमणीयताका नैसर्गिक रूप-चित्र देखनेको नहीं मिलता। कहा जाता है कि 'वीरसिंहदेव चरित' में प्राकृति-वर्णन उत्तम है। किन्तु सच्ची बात है कि केशवका प्रकृति-वर्णन-विषयक दृष्टिकोण सर्वत्र एक-सा है। रामकी बाटिका और वीरसिंह देवकी बाटिकामें कोई अन्तर नहीं है। रामचंद्रिकाके बत्तीसवें प्रकाशमें राम-वाटिकाका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

अति मंजुल वंजुल कुंज विराजैं। बहु गुंज निकेतन पुंजनि साजैं।
नर अंध भए दरसे तरु मोरे। तिनके जनु लोचन हैं इक ठौरे॥[2]

अब वीरसिंहदेवकी बाटिका पर गौर कीजिए—

सोहत वजुल कुञ्जल कुंज। जनु लिपटे गुंजनि के पुंज।
काम अंध मुगधन के नैन। एक ठौर जनु राखे मैन[3]॥

दोनों ही वर्णन आलंकारिक हैं और दोनोंमें एक ही प्रकार के शब्दोंमें एकही बात कही गई है। कुल मिलाकर केशव के काव्यमें प्रकृति-वर्णनकी तीन शैलियाँ लक्षित होती हैं। आलंकारिक शैली, वस्तुपरिगणन शैली और मानवीय भावसापेक्ष शैली (उद्दीपक रूपमें प्रकृतिको देखना और उसे मानव-भावनाको जाग्रत

---

१. वही, सातवाँ प्रभाव, छन्द, ८।

२. रामचन्द्रिका, बत्तीसवाँ प्रकाश, छन्द १३।

३. वीरसिंहदेव चरित, पृष्ठ २८७, मातृभाषा मंदिर, दारागंज प्रकाशन।

करनेवाली मानकर उसका वर्णन करना)। जो लोग केशवके काव्यमें प्रकृतिका मुक्त रूप देखना चाहते हैं या उसका बिम्ब-ग्रहण करना चाहते हैं उन्हें निराश होना पड़ता है।

प्रकृतिसे इतर वस्तुओंके वर्णनमें केशवको अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है। विशेषतः राजवैभव, सेना-प्रयाण, युद्धस्थल, आदिके वर्णन सजीव और सुन्दर बन पड़े हैं। जनकपुरीमें सीताकी सखियोंका वर्णन रमणीय और काव्य-सौष्ठव युक्त है। आलंकारिक होने पर भी यह वर्णन स्वभाविक रूप-चित्रणकी सीमाओंमें ही आता है। देखिये—

मुख एक है नत लोक-लोचन लोल लोचन कै हरै।
जनु जानकी संग सोभिजै शुभ लाज देहहिं को धरै।
तहँ एक फूलन के विभूषन एक मोतिन के किए।
जनु छीरसागर देवता तन छीर-छीटन को छिए।[1]

सम्भावना मूलक होनेके कारण उत्प्रेक्षा अलंकार सदैव उक्तिको स्वाभाविकताकी सीमासे अधिक दूर नहीं ले जाता। इसलिए कथनकी रमणीयता बनी रहती है। नताननना और लोल-लोचना सखीके लिए 'लज्जा' उपमान लाकर कविने बड़ी ही सुन्दर कल्पनाका परिचय दिया है। इसी प्रकार रामके 'शयनागार' का वर्णन राजकीय मर्यादाके अनुसार वैभव-विलासपूर्ण किया गया है। रामके तिलकोत्सवका भी सांगोपांग वर्णन किया गया है। 'वीरसिंहदेवचरित'में गोपाचलसे नरवरके लिए प्रयाण करती हुई अकबरकी सेनाका बड़ा ही यथार्थ चित्र अंकित हुआ है। देखिये—

देस-देस के राजा घनै। मुगल पठाननि कौ को गनै।
जहाँ तहाँ गज गाजन घनै। पुरवाई के जनु घन घनै।
चौपद दुपद कहाँ लौं कहौं। कहें लगैं तो अंतु न लहौं।
या रङ्ग एक चलेई जात। एक देखिए पीवत खात।
उलहत ऊंट एक देखिए। लादत साज एक पेखिए।
एकन तम्बू दियो गिराइ। रखत उठावत एक बनाइ।[2]

---

[1] रामचन्द्रिका, छठा प्रकाश, छन्द ६१।

[2] वीरसिंहदेवचरित, मातृभाषा-मन्दिर, दारागंज, प्रयाग, पृष्ठ ५९।

यह मध्य-युगकी अर्द्ध नियन्त्रित सेना है जो अपने रंगमें मस्त ज्यों-त्यों चली जा रही है। केशवदासजीने राजवैभव और युद्ध दोनों ही देखे थे। इसलिए उन सभी दृश्योंका वर्णन वे अच्छा कर लेते हैं जिनका सम्बन्ध राजकीय वातावरणसे है। इस प्रकारके वर्णन अत्यधिक आलंकारिक, परिस्थिति-प्रतिकूल या अतिदीर्घ होनेपर ही अशोभन लगते हैं। उदाहरणके लिए रामको मनानेके लिए जाते हुए भरतके साथ विशाल वाहिनीका विशद वर्णन केशवदासजीके प्रबल समर्थक लाला भगवानदीनको भी खटका है।[1] यह वर्णन परिस्थिति-प्रतिकूल है। इसी प्रकार अयोध्या-वर्णन भी अलकारोंकी अतिशयतामें प्रभावहीन हो गया है। यदि केशवने काव्य-रीतिका मोह और अलंकारोंके प्रति एकान्तनिष्ठाका कुछ देरके लिए त्याग कर दिया होता तो उनका वस्तुवर्णन पर्याप्त रुचिकर और हृदयस्पर्शी होता।

सौन्दर्यांकन

सौन्दर्यांकन—केशवका सौन्दर्यांकन भी काव्यकी बँधी हुई परिपाटीके अनुकूल होनेके कारण सहज रमणीयतासे दूर जा पड़ा है। सौन्दर्यके प्रति उनका दृष्टिकोण बड़ा स्थूल है। वे बनिताको अलंकृता होनेपर ही सुन्दर मानते हैं। पता नहीं कैसे एक बार उनके मुँहसे निकल गया था—

काहे के सिंगार कै बिगारति है मेरी आली,
तेरे अंग बिना ही सिंगार के सिंगारे हैं।[2]

महाकविके लिए सौन्दर्यांकनका तात्पर्य था 'शिख-नख' वर्णन। 'रामचन्द्रिका' के इकतीसवें प्रकाशमें कविने सीताकी दासियोंका शिख-नख वर्णन किया है। इस परम्परामें केश, कबरी, शिरोभूषण, नेत्र, नासिका, ताटंक, दन्त, और मुखबास, मुसुकानि और बाणी, अलक, मुख, ग्रीवा-भूषण, बाहु, हाथ, करभूषण, कुच, रोमावली, कटि, नितम्ब, जंघा, चरण, महावर और कंचुकीका वर्णन किया गया है।[3] इस प्रसंगमें शरीरके विविध अंगों तथा उनसे सम्बन्धित

---

[1] श्रीरामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, पृष्ठ १५३, १५४।

[2] कविप्रिया, नवाँ प्रभाव, छन्द १२।

[3] रामचन्द्रिका, इकतीसवाँ प्रकाश।

भूषणोंके वर्णनकी परम्परा चल पड़ी थी। छठवें प्रकाशमें श्रीरामका भी नखशिख वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत रामके शिरकी पाग, उनकी भौहों, श्रवणों, मुख, दन्तपंक्ति, ग्रीवा, बाहु, वक्षस्थल और पगतलका वर्णन किया गया है। अन्तमें कविने रामके सौन्दर्य-वर्णनमें अपनी असमर्थता प्रकट की है। भला जिसके सौन्दर्यसे सारे संसारकी शोभा है उसके सौन्दर्यका क्या वर्णन किया जाय! सौन्दर्यके अलौकिक प्रभावका वर्णन केशवने नहीं किया है। राम और लक्ष्मणका सौन्दर्य देखकर जनकजी इतना ही सोच पाते हैं कि जान पड़ता है कि ये दोनों विष्णु और ब्रह्म हैं।[1] रामके सौन्दर्यका प्रभाव परशुरामके मनपर भी पड़ता है किन्तु वे यही सोचकर रह जाते हैं कि 'जानत हौं बीस बिसे राम भेस काम है'।[2] रामचरितमानसमें रामका सौन्दर्य उनकी शक्ति और शीलसे कम प्रभावशाली नहीं दिखाया गया है। रामका प्रबलतम शत्रु भी उन्हें देखकर यही कहता है—

हम भरि जन्म सुनहु सब भाई।
देखी नहिं असि सुन्दरताई॥[3]

सौन्दर्यका यह शत्रुजयी प्रभाव केशवके काव्यमें दुर्लभ है। स्त्रियोंकी छवि अंकित करनेमें केशवने अधिक रुचि दिखाई है। यह चित्रण भी परम्परागत मान्यताओंको उदाहृत करनेके लिए आलंकारिक प्रणालीपर किया गया है। इन स्वयं स्वीकृत सीमाओंमें भी कहीं-कहीं केशवने कुछ अच्छे चित्र प्रस्तुत किये हैं—

गोरे गात, पातरी, न लोचन समात मुख,
उर उरजातन की बात अवरोहिये।
हँसति कहत बात, फूलसे झरत जात,
ओठ अवदात राती देख मन मोहिये।
स्यामल कपूर-धूर ओढ़नी ओढ़े उड़ि,
धूरि ऐसी लागी 'केशा' उपमा न टोहिये।

---

[1] 'रामचन्द्रिका', पाँचवाँ प्रकाश, छन्द २८।

[2] 'रामचन्द्रिका', सातवाँ प्रकाश, छन्द १४।

[3] 'मानस', अरण्यकाण्ड, पृष्ठ ६१९, गीताप्रेस संस्करण।

काम ही को दुलही-सो काके कुल उलहीसु,
लहलही ललित लता-सा लोल सोहिये ।[1]

तात्पर्य यह कि सौन्दर्यकी अलौकिक, भुवनमोहिनी, एवं रहस्यात्मक सत्ताकी भावना केशवदास नहीं कर सके हैं। नख-शिख वर्णनके माध्यमसे जो सौन्दर्यांकन उन्होंने किया है वह परम्परा-विहित एवं आलंकारिक है। उसपर सामन्तीय जीवनकी रंगीनीकी छाप है। इस दृष्टिसे भी वे अपनी सीमाओंसे ऊपर नहीं उठ सके हैं।

संवाद—केशवके संवादोंकी बड़ी प्रशंसा की जाती है। रामचन्द्रिकामें 'सुमति-विमतिसंवाद', 'रावण-बाणासुर-संवाद', 'राम-परशुराम-संवाद', 'सूर्पणखा-राम-संवाद', 'सीता-रावण-संवाद', 'सीता-हनुमान-संवाद', और 'रावण-अंगद-संवाद' प्रमुख माने जा सकते हैं। 'विज्ञानगीता'में भी 'अहंकार-दंभ-संवाद', 'विवेक-जीवसंवाद', 'कलह-रति-काम-संवाद' आदि कई संवाद हैं। 'वीरसिंह-देवचरित' और 'जहाँगीर-जसचन्द्रिका' में भी संवादोंकी कमी नहीं है। महाकविकी प्रसिद्धि मुख्यतः 'रामचन्द्रिका' के संवादोंके ही कारण है। रामचन्द्रिका में 'सुमति-विमति-संवाद' 'प्रसन्नराघव' नाटकके उसी प्रसंगका छायानुवाद है। 'हनुमान-सीता-संवाद', 'हनुमन्नाटक' के आधारपर प्रस्तुत किया गया है। 'रावण-अंगद-संवाद' भी बहुत-कुछ 'हनुमन्नाटक'के आधारपर ही प्रस्तुत किया गया है। कई छन्द तो 'हनुमन्नाटक'के उसी भावके छन्दोंके अनुवाद हैं। 'रावण-बाणासुर-संवाद' भी 'प्रसन्नराघव' नाटकके आधारपर लिखा गया है। 'परशुराम और राम-संवाद' पर जगह-जगह 'प्रसन्न-राघव' नाटकी छाया है। ऐसी स्थितिमें केशवकी सफलता संवाद-लेखनमें नहीं अनुवाद प्रस्तवनमें मानी जा सकती है। इन संवादोंकी प्रशंसाका कारण यह है कि केशवके असंगत आलंकारिक एवं पांडित्यपूर्ण वर्णनोंसे ऊबा हुआ पाठक इन संवादोंको पढ़ते समय थोड़ा रुचि-परिवर्तन का अवसर पा जाता है। वह भूल जाता है कि ये अनुवाद हैं। ये संवाद उसे मौलिकसे प्रतीत होते हैं। यह सत्य है कि इन संवादोंसे केशवकी वाक्चातुरी, व्यवहार-कुशलता, व्यंग्य-

---

[1] 'कविप्रिया' नवाँ प्रभाव, पृष्ठ १४२।

शक्ति और भाषाधिकारकी सूचना मिलती है। कथा-क्रममें नाटकीयताका समावेश भी इन संवादोंके माध्यमसे हो जाता है। सम्भवतः इन्हीं कारणोंसे केशवके संवाद अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध हैं अन्यथा इनमें मौलिक अंश बहुत ही कम हैं।

काव्य-शैली—शैलीकी दृष्टिसे देखा जाय तो केशवने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकारकी शैलियोंमें काव्य-रचना की है। 'रामचन्द्रिका', विज्ञानगीता', 'वीरसिंहदेवचरित', 'रतनबावनी' और 'जहाँगीरजसचन्द्रिका' प्रबन्ध शैलीमें लिखे गये ग्रन्थ हैं। 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'नखशिख' मुक्तक रचनायें हैं। ध्यान पूर्वक देखा जाय तो न तो केशव के प्रबन्ध ग्रन्थ पूर्णतः प्रबन्ध कोटिमें आते हैं और न मुक्तक ग्रन्थ मुक्तक कोटि में। जिन्हें मुक्तक कहा गया है उनमें भी आद्योपान्त एक निश्चित योजना कार्य करती रही है। प्रत्येक छन्द किसी-न-किसी लक्षणका अनिवार्य उदाहरण बनकर आया है। अतः 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'नखशिख' को पूर्णतः मुक्तक कोटिमें नहीं रख सकते। इनमें भी एक प्रकारका बन्ध है। 'गाथा सतसई' या 'बिहारी सतसई' जिस कोटिके मुक्तक हैं उस कोटिमें इन शास्त्रीय बन्धोंको नहीं रखा जा सकता। विद्वानोंने इन्हें 'लक्षण-निष्ठ मुक्तक' कहा है।[1] यह संज्ञा अधिक उचित है। ये मुक्तक इसीलिए हैं कि कथा-प्रबन्ध नहीं हैं। दूसरी ओर जिन ग्रन्थोंको प्रबन्ध कहा गया है वे भी प्रायः संवादात्मक शैलीमें लिखे गए हैं। 'वीरसिंहदेवचरित' दान, लोभ और बिन्ध्यवासिनी देवीके संवाद रूपमें लिखा गया है। तुलनात्मक दृष्टिसे देखा जाय तो केशवकी प्रबन्ध-रचनाओंमें यही रचना ऐसी है जिसमें कथा-सम्बन्ध-निर्वाह उचित रीतिसे हुआ है। इसे चरित-ग्रंथ कह सकते हैं। 'विज्ञानगीता' एक प्रकारसे नाट्य-रूपक ग्रंथ है। यह भी 'जीव-विवेक', 'श्रद्धा-शान्ति', 'बलि-शुक्र' आदि संवादोंसे भरा है। तेरहवें प्रभावके बाद तो शेष पूरे ग्रंथमें स्फुट कथाओंके द्वारा वैराग्य, चित्त-शुद्धि, ज्ञान, अज्ञान, भक्ति आदिका उपदेश दिया गया है। 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' भी उद्यम और भाग्यके संवाद रूपमें रची गई है। इसका अन्तिम भाग तो

---

[1] हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, पृष्ठ २१।

काम ही को दुरुही-सो काके कुल उलहीसु,
लहलहीललित लता-सा लोल सोहिये ।[१]

तात्पर्य यह कि सौन्दर्यकी अलौकिक, भुवनमोहिनी, एवं रहस्यात्मक सत्ताकी भावना केशवदास नहीं कर सके हैं। नख-शिख वर्णनके माध्यमसे जो सौन्दर्यांकन उन्होंने किया है वह परम्परा-विहित एवं आलंकारिक है। उसपर सामन्तीय जीवनकी रंगीनीकी छाप है। इस दृष्टिसे भी वे अपनी सीमाओंसे ऊपर नहीं उठ सके हैं।

संवाद—केशवके संवादोंकी बड़ी प्रशंसा की जाती है। रामचन्द्रिकामें 'सुमति-विमतिसंवाद', 'रावण-बाणासुर-संवाद', 'राम-परशुराम-संवाद', 'सूर्पणखा-राम-संवाद', 'सीता-रावण-संवाद', 'सीता-हनुमान-संवाद', और 'रावण-अंगद-संवाद' प्रमुख माने जा सकते हैं। 'विज्ञानगीता'में भी 'अहंकार-दंभ-संवाद', 'विवेक-जीवसंवाद', 'कलह-रति-काम-संवाद' आदि कई संवाद हैं। 'वीरसिंह-देवचरित' और 'जहाँगीर-जसचन्द्रिका' में भी संवादोंकी कमी नहीं है। महाकविकी प्रसिद्धि मुख्यतः 'रामचन्द्रिका' के संवादोंके ही कारण है। रामचन्द्रिका में 'सुमति-विमति-संवाद' 'प्रसन्नराघव' नाटकके उसी प्रसंगका छायानुवाद है। 'हनुमान-सीता-संवाद', 'हनुमन्नाटक' के आधारपर प्रस्तुत किया गया है। 'रावण-अंगद-संवाद' भी बहुत-कुछ 'हनुमन्नाटक'के आधारपर ही प्रस्तुत किया गया है। कई छन्द तो 'हनुमन्नाटक'के उसी भावके छन्दोंके अनुवाद हैं। 'रावण-बाणासुर-संवाद' भी 'प्रसन्नराघव' नाटकके आधारपर लिखा गया है। 'परशुराम और राम-संवाद' पर जगह-जगह 'प्रसन्न-राघव' नाटकी छाया है। ऐसी स्थितिमें केशवकी सफलता संवाद-लेखनमें नहीं अनुवाद प्रस्तवनमें मानी जा सकती है। इन संवादोंकी प्रशंसाका कारण यह है कि केशवके असंगत आलंकारिक एवं पांडित्यपूर्ण वर्णनोंसे ऊबा हुआ पाठक इन संवादोंको पढ़ते समय थोड़ा रुचि-परिवर्तन का अवसर पा जाता है। वह भूल जाता है कि ये अनुवाद हैं। ये संवाद उसे मौलिकसे प्रतीत होते हैं। यह सत्य है कि इन संवादोंसे केशवकी वाक्चातुरी, व्यवहार-कुशलता, व्यंग्य-

---

[१] 'कविप्रिया' नवाँ प्रभाव, पृष्ठ १४२।

शक्ति और भाषाधिकारकी सूचना मिलती है। कथा-क्रममें नाटकीयताका समावेश भी इन संवादोंके माध्यमसे हो जाता है। सम्भवतः इन्हीं कारणोंसे केशवके संवाद अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध हैं अन्यथा इनमें मौलिक अंश बहुत ही कम हैं।

काव्य-शैली—शैलीकी दृष्टिसे देखा जाय तो केशवने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकारकी शैलियोंमें काव्य-रचना की है। 'रामचन्द्रिका', विज्ञानगीता', 'वीरसिंहदेवचरित', 'रतनबावनी' और 'जहाँगीरजसचन्द्रिका' प्रबन्ध शैलीमें लिखे गये ग्रन्थ हैं। 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'नखशिख' मुक्तक रचनायें हैं। ध्यान पूर्वक देखा जाय तो न तो केशव के प्रबन्ध ग्रन्थ पूर्णतः प्रबन्ध कोटिमें आते हैं और न मुक्तक ग्रन्थ मुक्तक कोटि में। जिन्हें मुक्तक कहा गया है उनमें भी आद्योपान्त एक निश्चित योजना कार्य करती रही है। प्रत्येक छन्द किसी-न-किसी लक्षणका अनिवार्य उदाहरण बनकर आया है। अतः 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'नखशिख' को पूर्णतः मुक्तक कोटिमें नहीं रख सकते। इनमें भी एक प्रकारका बन्ध है। 'गाथा सतसई' या 'बिहारी सतसई' जिस कोटिके मुक्तक हैं उस कोटिमें इन शास्त्रीय बन्धोंको नहीं रखा जा सकता। विद्वानोंने इन्हें 'लक्षण-निष्ठ मुक्तक' कहा है।[1] यह संज्ञा अधिक उचित है। ये मुक्तक इसीलिए हैं कि कथा-प्रबन्ध नहीं हैं। दूसरी ओर जिन ग्रन्थोंको प्रबन्ध कहा गया है वे भी प्रायः संवादात्मक शैलीमें लिखे गए हैं। 'वीरसिंहदेवचरित' दान, लोभ और बिन्ध्यवासिनी देवीके संवाद रूपमें लिखा गया है। तुलनात्मक दृष्टिसे देखा जाय तो केशवकी प्रबन्ध-रचनाओंमें यही रचना ऐसी है जिसमें कथा-सम्बन्ध-निर्वाह उचित रीतिसे हुआ है। इसे चरित-ग्रंथ कह सकते हैं। 'विज्ञानगीता' एक प्रकारसे नाट्य-रूपक ग्रंथ है। यह भी 'जीव-विवेक', 'श्रद्धा-शान्ति', 'बलि-शुक्र' आदि संवादोंसे भरा है। तेरहवें प्रभावके बाद तो शेष पूरे ग्रंथमें स्फुट कथाओंके द्वारा वैराग्य, चित्त-शुद्धि, ज्ञान, अज्ञान, भक्ति आदिका उपदेश दिया गया है। 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' भी उद्यम और भाग्यके संवाद रूपमें रची गई है। इसका अन्तिम भाग तो

---

[1] हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, पृष्ठ २१।

जहाँगीरकी राजधानी आगरा, जहाँगीरकी सभा, सभासद और अधीनस्थ राजाओंके वर्णनसे भरा पड़ा है। कथा-प्रवाह मन्द पड़ गया है। 'रतनबावनी' ओड़छा नरेश मधुकरशाहके पुत्र रतनसेनकी प्रशंसामें लिखी गई है। इसमें रतनसेनका चरित-वर्णन मुख्य न होकर उनके रूप, गुण, बल, वीर्यकी प्रशंसा और उनके जीवनकी महत्त्वपूर्ण घटनाओंका उल्लेख ही प्रधान है। अतः इन सभी ग्रन्थोंको सापेक्षिक दृष्टिसे ही प्रबन्धकाव्यकी संज्ञा दी गई है। जहाँतक 'रामचन्द्रिका'का प्रश्न है, वह तो स्वयं कविके शब्दोंमें छन्द-प्रबन्ध है। उसमें कविका लक्ष्य छन्द-वैविध्य-प्रदर्शन है। कविकी वर्णन-विस्तारप्रियता, असम्बद्ध स्थलोंकी योजना और अनियमित कथा-प्रवाहके कारण यह ग्रन्थ और सब कुछ हो सकता है, प्रबन्ध-काव्य नहीं। न तो इसमें पात्रोंके शील-निरूपण पर विशेष ध्यान दिया गया है और न कथा-प्रवाहक्रममें आनेवाले हृदय-स्पर्शी प्रसंगोंके संवेदनात्मक वर्णन में रुचि दिखाई गई है। इसीलिए आचार्य शुक्लको कहना पड़ा था कि—"उनकी रामचन्द्रिका अलग-अलग लिखे हुए वर्णनोंका संग्रह जान पड़ती है।"[१] यदि महाकविने केवल मुक्तक-काव्य रचनाकी होती तो उन्हें कवि रूपमें अधिक सफलता प्राप्त होती। पण्डित-मण्डलीको वे केवल आतंकित ही नहीं आकर्षितभी कर सके होते।

अलंकार-योजना—केशवने अपने काव्यको अलंकृत करनेकी भरपूर चेष्टा की है। वे अलंकार-रहित काव्यको नग्न मानते थे।[२] आचार्य दण्डीकी भाँति वे भी अलंकारोंको 'काव्यकी शोभा-वृद्धि करनेवाले धर्म' मानते थे। इसीलिए उनकी कविता अलंकारोंके बोझसे दब गई है। 'कविप्रिया' तो अलंकारका लक्षण ग्रन्थ है ही अतः यदि उसे छोड़ दें तो भी केशवकी कदाचित् ही कोई रचना हो जिसमें अलंकारों का प्रयोग-बाहुल्य न हो। 'रसिकप्रिया' में भी उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, विभावना, अपन्हुति, अतिशयोक्ति आदि अलंकारोंका प्रचुर प्रयोग हुआ है। यदि केशवने अलंकारोंको रसका उपकारक मानकर उनका

---

[१] हिन्दी साहित्यका इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २१०।

[२] छन्द विरोधी पंगु गुनि नगन जो भूषणहीन।
मृतक कहावै अरथ विन केशव सुनहु प्रवीन॥

—कविप्रिया, तीसरा प्रभाव, छन्द ८।

प्रयोग किया होता तो बात ही दूसरी होती। 'रामचन्द्रिका'में तो कदाचित् ही ऐसा कोई छन्द हो जिसमें एकसे अधिक अलंकार न हों। उत्प्रेक्षा, रूपक, श्लेष, परिसंख्या, अतिशयोक्ति, विभावना, सन्देह, विरोधाभास, उपमा, अनुप्रास, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति आदि केशवके प्रिय अलंकार हैं। केशवके न चाहते हुए भी 'रसिकप्रिया'में प्रयुक्त अलंकार रसके उपकारक बन गए हैं। इस ग्रन्थकी रचनामें केशवका ध्यान शृङ्गार रसके अंगोंकी योजनाकी ओर था अतः अलंकारों का प्रयोग परिस्थितिके अनुकूल हुआ है। 'उत्प्रेक्षा'का एक सुन्दर उदाहरण देखिये—

> हरि राधिका मान सरोवर के तट ठाढ़े री हाथ सों हाथ छिये।
> प्रिय के सिर पाग प्रिया मुकतालर, राजत माल दुहून हिये।
> कटि केशव काछनी श्वेत कसे सबही तन चंदन चित्र किये।
> निकसे जनु क्षार-समुद्रहिं ते सँग श्रीपति मानहुँ श्री ही लिये।[1]

'रामचन्द्रिका'में अलङ्कारोंकी योजनामें कई प्रकारके अनौचित्य आ गये हैं। एक तो अलंकारोंका प्रयोग करते समय कविने पात्र, परिस्थिति और कथा-क्रमका ध्यान नहीं रखा है। सीता और राम वन-पथपर जा रहे हैं। मार्गमें ग्रामीण स्त्रियाँ सीताजीको देखकर उनके मुखका वर्णन करने लगती हैं और श्लेष, उपमा, अनन्वय, विरोधाभास आदि अलंकारोंकी झड़ी लगा देती हैं। ग्रमीण स्त्रियोंके सरल हृदयके मार्मिक उद्गारोंको ओर ध्यान न देकर केशवने उन्हें अलंकारशास्त्रकी पण्डिताओंके रूपमें उपस्थित कर दिया है। इसी प्रकार रावण-विजयके उपरान्त जब राम सीताको शीघ्र देखना चाहते हैं—'हमको तुम बेगि दिखावहु सीता'—तो कविने कुल दो छन्दोंमें हनुमानका सीताके पास जाना, राम-विजयका समाचार देना, सीताका अलंकृत होकर चलनेके लिये उद्यत होना और ब्राह्मणों तथा देवताओं द्वारा उनकी विरुदावलीका गान करना, दिखाकर बिना किसी प्रस्तावके सीताजीका अग्निकी गोदमें आसीन करा दिया है और आठ छन्दोंमें उपमा, उत्प्रेक्षा और सन्देह अलंकारोंकी झड़ी लगा दी है। लगता है रामको सीतासे मिलनेकी उतनी उत्कण्ठा न थी जितनी केशवदासजीको

---

[1] 'रसिकप्रिया', पाँचवाँ प्रकाश, छन्द ३५।

सीताजीको अग्निदेवकी गोदमें बिठाकर अलंकारोंकी (विशेषतः सन्देह अलंकार की) झड़ी लगाने की।

दूसरी गड़बड़ी उपमान-ग्रहण करनेमें की गई है। इसी गड़बड़ीके कारण रामको 'उलूक' और 'ठग' बनना पड़ा है—

वासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत,
चकवा ज्यों चंद चितै चौगुनो चँपत हैं[१]।

× × ×

किधौं कोऊ **ठग हौ** ठगौरी लीन्हें किधौं तुम
हर हरि श्री हौ सिवा चाहत फिरत हौ।[२]

भगवान् सूर्यदेवको रक्तरञ्जित नरमुण्ड बनना पड़ा है—

कै **शोणित कलित कपाल** यह किल कापालिक काल को।

ब्रह्माके सिरपर विष्णुको बैठना पड़ा है—

केशव केशवराय मनो **कमलासन के सिर** ऊपर सोहै।[३]

चन्द्रमाको अंगदका बाप बना दिया गया है—

अंगदको पितु सो सुनिए जू। सोहत तारहिं संग लिए जू।[४]

और 'रसिकप्रिया'में बेचारे कृष्णको 'घूघू' बनना पड़ा है—

घूघू ज्यों घुसन प्रात मेरे गृह आये हौ'।[५]

तीसरा अनौचित्य अकारण शब्द-जाल-गुम्फन है जो कोरे चमत्कार-प्रदर्शनकी प्रवृत्तिके कारण आ गया है। इस प्रवृत्तिने दुरूह कल्पना और पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रवृत्तिको उभाड़ा है। अयोध्या-वर्णनमें मुद्रालंकारकी योजना कोरे चमत्कार-प्रदर्शनके लिए ही की गई है—देखिए—

---

[१] रामचन्द्रिका, पृष्ठ, २३४।

[२] वही, पृष्ठ, १४२।

[३] वही, बारहवाँ प्रकाश, पृष्ठ, १९४।

[४] रामचन्द्रिका, तीसवाँ प्रकाश, पृष्ठ १५६, छन्द, ४२।

[५] रसिकप्रिया सातवाँ प्रकाश, छन्द, १७।

कवि कुल विद्याधर, सकल कलाधर, राजराज वर वेश बने।
गणपति सुखदायक, पशुपति लायक, सूर सहायक कौन गने।
सेनापति बुधजन, मंगल गुरुगण, धर्मराज मन बुद्धि घनी।
बहु शुभ मनसाकर, करुणामय अरु सुरतरंगिनी शोभ सनी।[1]

इस छन्दमें देवपुरीकी समस्त वस्तुओंकी सूचनाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

उपर्युक्त अनौचित्योंके होते हुए भी कहीं-कहीं केशवकी अलंकार-योजना बड़ी ही रमणीय है और काव्य-शोभा-वृद्धिमें सहायक हुई है। कुछ सुन्दर उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं—

रूपक— चढ़्यो गगन तरु धाय, दिनकर-वानर अरुन मुख।
कीन्हों झुकि झहराय, सकल तारका-कुसुम बिन[2]।

उत्प्रेक्षा— धरे एक बेणी मिली मैल सारी।
मृणाली मनों पंक तें काढ़ि डारी।[3]

सहोक्ति— प्रति अंगन के संग ही दिन नासै।
निशि सों मिलि बाढ़ति दीह उसासैं।[4]

उपमा— भरि भरि रीति जाति, रीति रीति भरै पुनि।
रहट घरी सी आँख साहि अकबर की।[5]

परिसंख्या— मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय।
होम हुताशन धूम नगर एकै मलिनाइय॥[6]

विभावना— काहे के सिगार कै बिगारति है मेरी आली,
तेरे अंग बिना ही सिगार के सिगारे हैं।[7]

---

[1] 'रामचन्द्रिका', पहिला प्रकाश, पृष्ठ १८।

[2] वही, पाँचवाँ प्रकाश छन्द १३।

[3] वही, तेरहवाँ प्रकाश, छन्द ५३।

[4] वही, चौदहवाँ प्रकाश, छन्द २८।

[5] वीरसिंहदेवचरित, पृष्ठ ९७।

[6] 'रामचन्द्रिका', पहिला प्रकाश, पृष्ठ २१।

[7] कविप्रिया, नवाँ प्रभावं, छन्द, १२।

प्रतीप— पून्योंई को पूरन पै प्रतिदिन दूनो-दूनो,
क्षण-क्षण क्षीण होत छीलर को जल सों।
चन्द्रसो जो वरणत रामचन्द्र की दुहाई,
सोई मतिमंद कवि केशव कुशल सों।[1]

रूपकातिशयोक्ति—[विरुद्ध रूपक]

सोने की एक लता तुलसी बन क्यों बरनौ सुनि बुद्धि सकै छ्वै।
'केसवदास' मनोज मनोहर ताहि फले फल श्री फल से ब्वै।
फूलि सरोज रह्यो तिन ऊपर, रूप निरूपत चित्त चलै च्वै।
तापर एक सुआ सुभ तापर खेलत बालक खंजन के द्वै।[2]

उपर्युक्त उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि केशवमें कल्पना-शक्तिकी कमी नहीं थी। विविध-प्रसंगोंमें वस्तु-वर्णन करते समय उन्होंने जो अनेक उत्प्रेक्षायें की हैं, किसी एक प्रस्तुतके लिए उन्होंने जो अनेक अप्रस्तुत चित्र उपस्थित किये हैं, वे उनकी उर्वर कल्पना-शक्तिके परिचायक हैं। उनमें सूझ है, कल्पना वैभव है, काव्य-रीतिका सम्यक् ज्ञान है, वर्णनकी क्षमता है और संस्कृतकी महत्त्वपूर्ण काव्य-कृतियोंका अध्ययन है किन्तु परिस्थितिके अनुकूल औचित्यका ध्यान रखते हुए वर्ण्य-विषयके स्वरूपके अनुसार अलंकार-योजना करनेकी ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया है। इसीलिए कहीं वे कोरे चमत्कारवादी, कहीं शुष्क पण्डित, कहीं रूढ़िवादी और कहीं असंगत अलंकार-विधान करनेवाले प्रतीत होते हैं। राजसी तड़क-भड़क, वैभव-विलासके बीच रुद्ध मनःस्थितिपूर्ण जीवन बितानेके कारण भी वे असंगत अलंकरण और संकीर्ण मानदण्डको त्यागनेमें सर्वथा असमर्थ रहे हैं। जहाँ कहीं वे अपनेको भूल गये हैं वहाँ उनके अलंकार काव्यकी रमणीयता-वृद्धिमें निश्चय ही सहायक हुए हैं।

छन्द-योजना—छन्द-योजनाकी दृष्टिसे केशवदासका स्थान हिन्दी-साहित्यमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है किन्तु यह महत्ता वैविध्यकी दृष्टिसे ही है। व्यापक दृष्टिसे विचार करनेपर अभिव्यक्ति मात्रका छन्द या सीमा-रेखासे अनिवार्य सम्बन्ध है।

---

[1] 'रामचन्द्रिका', नवाँ प्रकाश, छन्द, ४१।

[2] कविप्रिया, तेरहवाँ प्रभाव, छन्द १८।

इसलिए छन्दोंके स्वरूपमें परिवर्तन हो सकता है किन्तु उनके नितान्त अभावमें भावानुभूतिकी अभिव्यक्ति असम्भव हो जायगी। केशवदासजी छन्द-विरोधी रचनाको पंगु मानते हैं।[1] उन्होंने अपनी रचनाको पंगु होनेसे बचानेकी खूब चेष्टा की है। छन्दोंकी विविध-वीथियोंमें खूब दौड़नेके कारण कविता-कामिनीके पद इतने पुष्ट हो गये हैं कि उनकी तुलनामें शेष अंग दुर्बल प्रतीत होते हैं। इन दुर्बल अंगोंमें अलंकारोंको गूँथकर कविता-कामिनीका कार्टून खड़ा किया गया है जो पाठकोंको आतंकित करनेका अच्छा साधन हो गया है। महाकविने छन्दोंके प्रयोगातिशयको भी पाण्डित्यका ही एक अंग मान लिया था। इसलिए उन्होंने 'रामचन्द्रिका'में चौबीस मात्रिक तथा अट्ठावन वर्णिक छन्दोंका प्रयोग किया है। छन्दोंका यह वैविध्य 'विज्ञानगीता'में भी देखा जा सकता है किन्तु इसमें प्रयुक्त प्रायः सभी छन्द रामचन्द्रिकामें आ गए हैं। 'मरहट्टा' और 'तोमर' ये दो मात्रिक छन्द तथा 'दोधक', 'तोटक', 'हरिलीला' और 'नलिनी' ये चार वर्णिक छन्द इसमें नवीन प्रयुक्त हुए हैं। शेष कृतियोंमें सब मिलाकर मात्रिक छन्दोंमें 'चौपही' और वर्णिक छन्दोंमें 'प्रमानिका' तथा 'कवित्त' ऐसे छन्द हैं जिनका प्रयोग 'रामचन्द्रिका'में नहीं किया गया है। इस प्रकार कुल मिलाकर इक्यानबे प्रकारके छन्दोंका प्रयोग महाकविने किया है। ध्यान रखना होगा कि छन्दोंके प्रयोगमें वैविध्यही काव्य-कथाका घातक नहीं है। वर्ण्य-विषयके अनुकूल होना भी छन्दके लिए आवश्यक हो जाता है। आख्यानक काव्योंमें कथा-प्रवाहकी निरन्तरताके कारण दोहा और चौपाई छन्द अधिक समीचीन होते हैं। 'वीरसिंहदेवचरित'में केशव ने इन्हीं छन्दोंका प्रयोग अधिक किया है। लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करने वाले काव्योंमें दोहा, कवित्त और सवैयाका प्रयोग अधिक किया जाता रहा है। 'रसिकप्रिया'में केशवने इन्हीं छन्दोंका प्रयोग किया है। वीररसात्मक एवं ओजपूर्ण काव्योंके लिए 'छप्पय' छन्द अधिक अनुकूल पड़ता है। 'रतनबावनी' में केशवने इसीका प्रयोग किया है। 'कविप्रिया' में अधिक छन्दोंके प्रयोगकी प्रवृत्ति है किन्तु इसमें वर्ण्य-विषयोंकी विविधताके कारण यह प्रयोग अनु-

---

[1] 'छन्द विरोधी पंगु गुनि'

—कविप्रिया, तीसरा प्रभाव, छन्द ८।

चित नहीं प्रतीत होता। 'विज्ञानगीतामें' छन्द-वैविध्यकी प्रवृत्ति पूर्णतः प्रकट है। आध्यात्मिक विषयोंका प्रतिपादन दोहे, सोरठे जैसे छोटे-छोटे छन्दोंमें अधिक उचित ढंगसे किया जा सकता है। सन्त कवियोंकी साखियाँ और तुलसीकी 'दोहावली' इसके प्रमाण हैं। 'विज्ञान-गीता' में यह प्रयोग-वैविध्य खटकता है। 'रामचन्द्रिका' में केशवकी छन्द-प्रयोग-वैविध्यकी प्रवृत्ति खुलकर प्रकट हुई है। प्रबन्ध-काव्योंमें कथा-प्रवाहके नैरन्तर्यका ध्यान रखना आवश्यक है। क्षण-क्षण छन्द-परिवर्तन ऐसी कृतियोंमें अनुचित ही नहीं अक्षम्य है। छन्द-ज्ञानका प्रदर्शन पृथक् पिंगल ग्रन्थ लिखकर किया जा सकता है। 'रामचन्द्रिका'के प्रबन्ध-विधानमें यह छन्द-परिवर्तनकी प्रवृत्ति घातक सिद्ध हुई है।

केशवने दो छन्दोंको मिलाकर छन्द-प्रयोगमें चमत्कार लानेकी चेष्टा भी की है। कहीं-कहीं उन्होंने एक बातके लिए डेढ़ छन्दोंका प्रयोग करके नवीनता लानेकी चेष्टा की है। यह प्रेरणा उन्हें संस्कृतके कवियोंसे मिली थी। यह सब होते हुए भी पण्डितोंकी सम्मतिमें केशवके छन्द कहीं-कहीं लक्षणोंके अनुकूल ठीक नहीं उतरते।[1] कहीं लक्षणके अनुकूल होनेपर भी उनका प्रवाह ठीक नहीं जान पड़ता है और कहीं 'यति' ठीक स्थानपर नहीं होती। जिस कविने सैकड़ों प्रकारके छन्दोंका प्रयोग किया हो उसमें इस प्रकारके दोषोंका आ जाना अस्वाभाविक नहीं है। सबसे अधिक गड़बड़ी, प्रबन्ध-काव्यकी कथा-धारामें व्याघात डालकर छन्द-प्रयोग-वैविध्यके प्रदर्शनके कारण हुई है। 'रामचन्द्रिका'के प्रारम्भमें ही एकाक्षरसे लेकर अष्टाक्षर तकके छन्दोंका प्रयोग एक तमाशा खड़ा कर देना है। इसीलिए लाला भगवानदीनको तीन छन्दोंको एकमें बाँधकर अन्वय करना पड़ा है। छन्द इतना छोटा हो कि उसमें बात ही न कही जा सके तो उसके प्रयोगसे क्या लाभ ? देखिये—

सी, धी। री, धी॥
राम, नाम। सत्य, धाम॥
और नाम। कौन, काम॥[2]

---

[1] 'आचार्य केशवदास' डॉ० हीरालाल दीक्षित, पृ० २१२।

[2] 'रामचन्द्रिका' पहिला प्रकाश, छन्द ८, ९, १०।

पहले छन्दका अन्वय करनेपर दो शब्द बनते हैं 'सिद्धि' 'ऋद्धि'। इनसे क्या अर्थ लिया जाय? यह तो कोई चमत्कारकी बात भी नहीं हुई। तात्पर्य यह कि यदि कविने 'रामचन्द्रकी चन्द्रिका वर्णत हौं बहु छन्द'का संकल्प न किया होता तो 'रामचन्द्रिका'की महत्ता कुछ अधिक ही होती।

भाषा—कविकी भाषापर कई दृष्टियोंसे विचार किया जा सकता है। सामान्य स्वरूपकी दृष्टिसे, प्रौढ़ता और परिमार्जनकी दृष्टिसे, पद-रचना-वैशिष्ट्य (गुण-रीति आदि)की दृष्टिसे, शब्द-समृद्धिकी दृष्टिसे, व्याकरण सम्मतताकी दृष्टिसे और अभिव्यक्तिकी पूर्णताकी दृष्टिसे। सामान्यतः केशवदासजीकी भाषाके तीन रूप हैं। (क) संस्कृत-सी प्रतीत होनेवाली पदावली, (ख) द्वित्व-प्रधान पदावली। (ग) हिन्दीकी जातीय प्रवृत्तिके अनुकूल पदावली। संस्कृत-सी प्रतीत होनेवाली पदावली अधिक नहीं है। उसका एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

सीता शोभन ब्याह उत्सव सभा संभार संभावना।
तत्तत्कार्य समग्र व्यग्र मिथिलावासी जना शोभना॥
राजा राज पुरोहितादि सुहृदा मत्री महामंत्रदा।
नाना देश समागता नृपगणा पूज्यापरा सर्वदा॥[1]

द्वित्व-प्रधान पदावली चारण कवियोंकी पद्धतिपर लिखी गई 'रतनबावनी' में मिलती है—

किधौं सत्त की शिखा शोभ साखा सुखदायक।
जनु कुल दीपक जोति जुद्ध तम मेटन लायक।
किधौं प्रकट पति पुञ्ज पुन्य कर पल्लव पिक्खिय।
किधौं कित्ति परभात तेज मूरति करि लिक्खिय।
कहि केशव राजत परम पर रतनसेन सिर सुम्मियहु।
जनु प्रलय काल फणपति कहूँ फणपति-फण उद्दित कियहु।[2]

ब्रजभाषा हिन्दीकी जातीय प्रवृत्तिके अनुकूल भाषा विशेषतः 'रसिकप्रिया'में देखी जा सकती है—

---

[1] 'रामचन्द्रिका' तीसरा प्रकाश, छन्द १३।

[2] 'आचार्य केशवदास', डा० हीरालाल दीक्षित, पृ० २१६ पर उद्धृत।

बोलै न बाल बुलावत हूँ, नख-रेख लिखै भव प्रेम परेखो।
आपने हाथ विलोक विलोक, कहो तब केशव बुद्धि विशेखो।
छोटी बड़ी विधिरेख लिखी युग आयु की रेख सु कौन सुलेखो।
प्रेम तें बाल सह्यो न परौ, अकुलाई कही पिय कैसी है देखो।[१]

केशव द्वरा प्रयुक्त भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित नहीं है। उसे बिहारी या घनानन्दकी भाषाके समान टकसाली भाषा नहीं कह सकते। सम्भवतः उन्होंने परिमार्जनकी ओर ध्यान हीं नहीं दिया। अनेक छन्दोंके प्रयोगके कारण भी उनकी भाषा सुगठित नहीं हो सकी। कोई भी व्यक्ति अनेक छन्दोंकी जानकारी रख सकता है किन्तु सभीपर अधिकार नहीं रख सकता। जब कविका ध्यान छन्द गढ़नेकी ओर लगा रहेगा तो वह भाषाकी कसावटपर कैसे ध्यान देगा?

पदरचना-वैशिष्ट्य पर केशवने अवश्य ध्यान दिया है। वे स्वयं मानते थे कि कवि प्रत्येक पद न्यस्त करते समय खूब सोच-विचार लेता है—

चरण धरत चिन्ता करत नींद न भावत शोर।
सुवरण को सोधत फिरत कवि, व्यभिचारी चोर ॥[२]

महाकविने पद-रचना करते समय सोच-विचार तो किया किन्तु वह इसीलिए कि चमत्कार कैसे उत्पन्न किया जाय। सुन्दर वर्णोंकी योजनासे माधुर्य, प्रसाद और ओज गुणोंकी प्रतिष्ठा करके भावगत सौन्दर्य-वृद्धि करना उनका लक्ष्य नहीं था। 'रसिकप्रिया' में माधुर्य गुण भली प्रकार इसलिए आ सका है कि इस ग्रन्थमें कविकी दृष्टि शृङ्गार रस और उसके अंगों पर रही है और शृंगाररसकी निष्पत्ति माधुर्य गुणपर ही आधृत है।[३] 'रामचन्द्रिका' के तीसवें प्रकाशमें प्रभात-वर्णन करते समय भी केशवने बड़ा ही प्रवाहपूर्ण एवं सुन्दर पद-विन्यास

---

१. 'रसिकप्रिया' तीसरा प्रकाश, छन्द ३१।

२. 'कविप्रिया', तीसरा प्रभाव, छन्द ४।

३. 'संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्'
[माधुर्य गुण संभोग शृंगार, करुण रस, विप्रलम्भ शृंगार और शान्तरसमें अनुगत रहा करता है और इनमें उत्तरोत्तर मधुर लगा करता है] —सा० दर्प०, अष्टम परिच्छेद।

किया है। 'रतनबावनी' में ओजगुण-युक्त पदावलीका उचित प्रयोग किया गया है। यदि वे चाहते तो कोमलकान्तपदावलीमें बड़ी ही सरस तथा ओजपूर्ण पदोंमें वीरदर्प पूर्ण कविता कर सकते थे। किन्तु छन्द-परिवर्त्तन तथा पांडित्य-प्रदर्शनकी प्रवृत्तिने उनको इस क्षमताको उभरने ही नहीं दिया। कहा गया है कि 'रामचंद्रिका' के कुछ छन्दों और 'कविप्रिया' के दो-चार छन्दोंको छोड़कर महाकविकी शेष सभी रचनाओंमें प्रसाद गुण है।[1] बात ऐसी नहीं है। सरल शब्दोंके प्रयोगसे काव्यमें प्रसाद गुण नहीं आता। ऋजुता और सरलताकी उपलब्धि आसान नहीं है। सरल शब्दोंमें अर्थ गाम्भीर्य भी होना चाहिए। सरल शब्दोंमें सरस रचना करना कठिन है। केशवने जहाँ सुगम शब्दोंका प्रयोग किया है वहाँ भी बात समझनेमें मानसिक तनावका अनुभव होता है। 'प्रसाद' भी एक गुण है जो मात्र सरल रचनासे विशिष्ट वस्तु है। प्रसाद गुण वहाँ होता है जहाँ शुष्क ईंधनमें अग्निकी भाँति और स्वच्छ वस्त्रादिमें जलकी भाँति सहृदय के हृदयकी निर्मलता शीघ्र ही (काव्य-पाठ करते ही) चित्तमें व्याप्त हो जाती है।[2]

केशवकी शब्दावली सूर और तुलसीको छोड़कर हिन्दीके अन्य सभी कवियोंसे अधिक समृद्ध है। उन्होंने संस्कृत, हिन्दी (ब्रज और बुन्देलखंडी) तथा यथावसर अरबी-फारसीके शब्दोंका भी प्रयोग किया है। बुन्देलखण्डी शब्दोंको तो एक अच्छी संख्या इनकी कृतियोंमें उपलब्ध हो जाती हैं। गेंडुआ (तकिया), खारक (छोहारा), चोली (पिटारी), घोरिला (खूँटी), बरँगा (कड़ी), दुगई, (दालान), कुची (कुंजी), गौरमदाइन (इन्द्रधनुष) आदि शब्द बुन्देलखडी हैं। संस्कृतके कुछ अप्रचलित शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने किया है। कहीं-कहीं ब्रजभाषाके भी अप्रचलित शब्दोंको काव्यमें चलानेकी चेष्टा की है। लाँच (रिश्वत), ऐलौ (आड़), नारी (समूह) आदि शब्द इसी प्रकारके हैं। तात्पर्य यह कि केशवकी भाषा शब्दोंकी दृष्टिसे द्ररिद्र नहीं है। केशवकी भाषामें व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियाँ भी हैं। कविने स्त्रीलिंगके साथ पुल्लिंग क्रिया और पुल्लिंगके साथ स्त्रीलिंग क्रियाका प्रयोग भी किया है। कहीं-कहीं विभक्तियोंके प्रयोगमें भी गड़बड़ी है।

---

१. आचार्य केशवदास, पृ० १९९।

२. काव्यप्रकाश, मम्मटाचार्य, अष्टम उल्लास, श्लोक ७०।

कुछ तो उनके संस्कृत भाषाके संस्कारके कारण ऐसा हुआ है और कुछ संयमके अभावके कारण। 'देवता' शब्दका प्रयोग उन्होंने बराबर (संस्कृतकी परम्पराके अनुसार) स्त्रीलिंगमें किया है।

अभिव्यक्तिको सभी प्रकारसे पूर्ण बनानेका प्रयत्न काव्य-साधनाका चरम लक्ष्य है। सारी शब्द-साधना इसीलिएकी जाती है। इसके लिए अध्ययन, अनुभव, प्रतिभा आदि सभीकी आवश्यकता पड़ती है। केशवकी भाषामें अभिव्यक्तिकी अपूर्णता भी खटकती है। शास्त्रोंमें दोषोंकी गणना एक प्रकारसे अभिव्यक्तिकी अपूर्णताकी ही गणना है। कहना न होगा कि केशवमें **संदिग्धत्व** (जहाँ कविके वांछित अर्थका पता न चले) **न्यूनपदत्व** (जहाँ शब्दोंकी न्यूनताके कारण अभिप्रेत अर्थ न प्रकट हो सके) **अक्रमत्व** (जहाँ शब्द-प्रयोग क्रमसे न हो) **अधिकपदत्व** (जहाँ आवश्यकतासे अधिक शब्द आ जायँ) **निहतार्थ** (जहाँ शब्दका प्रयोग अप्रचलित अर्थमें किया जाय) **समाप्तपुनरात्तत्व** (जहाँ वाक्य समाप्त करके विशेषण आदिके द्वारा उसे पुनः उठा लिया जाय) आदि सभी दोष आ गये हैं।[1] इनमेंसे कुछ पद-दोष हैं और कुछ वाक्य-दोष। इनके अतिरिक्त अर्थ-दोष और रस-दोष भी महाकविके काव्यमें आ गये हैं।

शब्द-शक्तियाँ भी अभिव्यक्तिको पूर्ण बनाती हैं। केशवने लाक्षणिक प्रयोग बहुत कम किये हैं। इसीलिए उनके काव्यमें लक्षणामूला व्यञ्जनाका भी अभाव है। कहीं-कहीं अभिधामूला व्यञ्जनाका सुन्दर प्रयोग हुआ है—रावण हनुमानजीसे प्रश्न करता है कि रे बन्दर ! तू बन्धनमें कैसे पड़ा? इसपर वे उत्तर देते हैं—

कैसे बँधायो ? जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो।[2]

अर्थात् तुम्हारी सोती हुई सुन्दरियोंको नेत्रोंसे मैंने स्पर्श किया था उसी पापके कारण बँध गया। संकेत (व्यंग्य) यह है कि तूने तो पर स्त्रीका अपहरण किया है तो तुम्हारी क्या गति होगी। अंगद-रावण-संवादमें भी इस प्रकारकी व्यञ्जना मिलती है।

---

[1] उपर्युक्त दोषोंके उद्धरण पं० कृष्णशंकर शुक्लके 'केशवकी काव्य-कला'में पृष्ठ १३०, १३१ पर देखिये।

[2] रामचन्द्रिका, चौदहवाँ प्रकाश, छन्द १।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ भी वाक्यको प्रभावशाली बनाती हैं। मुहावरे भी एक प्रकारके लाक्षणिक प्रयोग ही हैं जो धीरे-धीरे रूढ़ हो गये हैं। लोकोक्तियाँ पूरे प्रसंगको रंजित करके कथनमें जान ला देती हैं। इनका प्रयोग उचित प्रसंगमें ही जँचता है। केशवदासजीने इन दोनोंका प्रयोग किया है किन्तु उनकी लोकोक्तियाँ अधिक सजीव हैं। उदाहरणके लिए—

'होनहार ह्वै रहै मिटै मेटी न मिटाई',
'होय तिनूका वज्र वज्र तिनुका ह्वै टूटै',
'ऊँटहिं ऊँट कटारहिं भावै',
'प्यास बुझाइ न ओस के चाटे',
'कहि केशव आपनी जाँघ उघारि के आपही लाजन को मरई।'

आदि, लोकोक्तियोंका प्रयोग देखा जा सकता है। इनका प्रयोग उचित अवसरोंपर किया गया है। प्रथम दो लोकोक्तियाँ राम द्वारा—परशुरामको यह परितोष देनेके लिए प्रयुक्त हुई है कि धनुष टूटनेमें होनहार (दैवीगति) ही प्रबल थी। अतः आपका क्रोध व्यर्थ है। तीसरी लोकोक्ति शंखिनी नायिकाका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए प्रयुक्त हुई है। कवि यह कहना चाहता है कि जैसे ऊँट अपनी आदत और स्वभावसे बाज नहीं आता वैसे ही शंखिनी नायिका भी अपनी नीच आदतोंसे बाज नहीं आती। चौथी लोकोक्ति उस प्रसंगमें प्रयुक्त हुई है जब रामजनी नायिका कृष्णपर यह प्रकट करना चाहती है कि आप अन्य कामिनियोंसे प्रेम करके भले ही सन्तुष्ट होनेका ढोंगकर लें किन्तु बिना राधिकाको देखे वास्तविक सुख न प्राप्त होगा। भला कहीं ओस चाटनेसे प्यास बुझती है! पाँचवीं लोकोक्तिका प्रयोग भी ठीक अवसरपर किया गया है। मानिनी नायिको मनाने वही स्त्री आई है जिसके प्रति कृष्णको आकर्षित देखकर नायिकाने मान किया है। ऐसी स्थितिमें नायिका अपना रहस्य प्रकट करके संसारकी निगाहोंमें हल्की नहीं बनना चाहती और वह कहती है—भला अपनी ही जाँघ उघारकर स्वयं अपनी ही लाजसे कौन मरना चाहेगा? इन लोकोक्तियोंमें अधिकांश 'रसिकप्रिया'से ली गई हैं। 'रसिकप्रिया' भाषा, भाव और छन्द-प्रयोग सभी दृष्टियोंसे कविकी सर्वाधिक सरस रचना है। यदि इसी

प्रकार भावानुकूल भाषाका प्रयोग सर्वत्र किया गया होता तो बात ही और होती।

सब मिलाकर केशवकी काव्य-भाषाकी दाद नहीं दी जा सकती। उसे हम ब्रजभाषा-काव्यकी आदर्श भाषा भी नहीं मान सकते। अधिकसे-अधिक यही कहा जा सकता है कि एक संस्कृतज्ञ पण्डित कवि लोकरुचिको दृष्टिमें रखकर संस्कृतके क्षेत्रको छोड़कर ब्रज-भाषा-हिन्दीमें प्रयोग कर रहा था। उसमें संस्कृतका मोह बना हुआ था, वह पाण्डित्य-प्रदर्शन भी करना चाहता था। इन तीन रास्तोंपर एक साथ चलनेके कारण उसकी भाषामें अनेक प्रकारकी दुर्बलताएँ आ गई हैं।

भक्ति-भावना

केशवका मूल्यांकन करते हुए आचार्य शुक्लने एक वाक्य कहा है—'रामायणकी कथाका केशवके हृदयपर कोई विशेष प्रभाव रहा हो, यह बात नहीं पाई जाती।'[१] जिसके हृदयपर रामकथाका कोई विशेष प्रभाव न रहा हो उसे भक्त-कवियोंकी कोटिमें कैसे रखा जा सकता है? पूरी 'रामचन्द्रिका' पढ़ जानेपर वस्तुतः ऐसा नहीं लगता कि केशव रामके शीलसे प्रभावित होकर उनके प्रति पूर्णतः अनुरक्त थे। उनके विषयमें तुलसीकी यह उक्ति—'सुनि सीतापति शील सुभाऊ मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहरि खाऊ' अंशतः अवश्य लागू होती है। सुननेके लिए तो उन्होंने ऋषि वाल्मीकिके मुखसे सुना था—

भलो बुरो न तू गुनै। वृथा कथा कहै सुनै।
न रामदेव गाइहै। न देवलोक पाइहै।[२]

और यह सुनकर भगवान् रामको अपना इष्टदेव भी मान लिया था—

मुनिपति यह उपदेश दै जबहीं भये अदृष्ट।
केशवदास तही करयो रामचन्द्र जू इष्ट॥[३]

किन्तु उनके मनसे न इन्द्रजीतसिंह निकल सके और न भगवान् राम

---

[१] हिन्दी-साहित्यका इतिहास, पृ० २२०।

[२] रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, पृ० ६।

[३] वही, पृ० ७।

उनके हृदयमें समा सके। न तो उनका मन मुदित हुआ न तन पुलकित। यों तो महाकविने 'रामचन्द्रिका'की रचना करते समय प्रारम्भमें रामकी वन्दना भी की है।[1] उनके नामका प्रभाव भी स्वीकार किया है।[2] उन्हें अविकारी, जगकर्त्ता और भक्तोंके लिए अवतार लेनेवाला भी बताया है।[3] ब्रह्माके मुखसे उन्हें त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु, महादेव—मय भी कहलवाया है।[4] किन्तु स्वयं उनसे उस प्रकारका व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं स्थापित किया है जिस प्रकारका एक भक्त अपने आराध्यसे स्थापित करता है। 'रामचन्द्रिका' की रचना कविने अपने अन्तस्‌के मूल्योंको मूर्त- करनेके लिए नहीं की है वरन्‌ अपने पाण्डित्य, वर्णन-क्षमता और छन्द-ज्ञानके प्रदर्शनके लिए की है। तुलसीकी दृष्टिमें वे 'प्राकृत' कवि ही रहे। इन्द्रजीतसिंहके राजमें राजसी जीवन व्यतीत करनेवाले केशवका हृदय भक्ति-भावनासे आप्लावित कैसे हो सकता था?

---

१. पूरण पुराण अरु पुरुष पुराण परिपूरण बतावै न बतावैं और उक्ति को।
दरशन देत जिन्हें दरशन समुझैं न नेति नेति कहैं वेद छाँडि आन युक्ति को।
जनि यह केशौदास अनुदिन राम राम रटत रहत न डरत पुनरुक्ति को।
रूप देहि अणिमाहि गुण देहि गरिमाहि भक्ति देहि महिमाहि नाम देहि मुक्ति को।
—रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, पृ० ३।

२. कहैं नाम आधो सो आधो नसावै। कहै नाम पूरो सो बैकुंठ पावै।
—वही, उत्तरार्द्ध

३. निजु ये अविकारी, सब सुखकारी सबही विधि सन्तोषी
—वही, पूर्वार्द्ध, पृ० १२०।

× × ×

यद्यपि जग करता पालक हरता, परिपूरण वेदन गाये।
अति तदपि कृपाकरि, मानुष वपु धरि, थल पूछन हमसों आये।
—वही, पूर्वार्द्ध, पृ० १६६।

४. इक है जो रजोगुण रूप तिहारो।
तेहि सृष्टि रची विधि नाम विहारो॥
गुण सत्व धरे तुम रक्षक जाको। अब विष्णु कहैं सिगरो जग ताको।
तुमहीं जग रुद्र सरूप सँहारो। कहिये तेहि मध्य तमोगुण सारो।
—वही, पूर्वार्द्ध पृ० ३४६।

लोक-चेतनाने भी केशवको भक्त-कविके रूपमें स्वीकार नहीं किया। जब भी उनका स्मरण किया, 'रसिक जीव', 'बड़े रसिया', 'प्राकृत कवि', 'कठिन काव्यके प्रेत' आदि नामोंसे ही उन्हें अलंकृत किया गया। भक्ति-भावपूर्ण हृदय लेकर दरबारी वातावरणमें नहीं रहा जा सकता। केशवकी आन्तरिक प्रवृत्तिकी ओर संकेत करते हुए डॉ॰ हीरालाल दीक्षितने लिखा है—'उनकी जीवन-घटनाओंपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि वे निवृत्ति-मार्गके अनुगामी आध्यात्मिक साधक नहीं थे तथा उनकी मनोवृत्ति निवृत्ति-धर्ममें नहीं थी। वे लोक-व्यवहारके धर्मको मानते थे और प्रवृत्ति-कारक साधनोंमें मन लगाते थे।'[1] डॉ॰ दीक्षितने आचार्य केशवके काव्यका अनुशीलन कई वर्षोंतक किया है। वे उनको अधिक निकटसे जानते हैं। उनका निर्णय अन्तिम चाहे न हो विश्वसनीय तो है ही। केशवके पक्षमें रह-रहकर एक ही बात हृदयमें अनुगुञ्जित हो उठती है। काव्य-दोषोंसे अपनेको यथासाध्य दूर रखनेवाले इस पण्डित कविने राम नाम रटनेमें 'पुनरुक्ति दोष' की चिन्ता नहीं की। वह अनुदित राम नाम रटता रहा।[2] यही नहीं उसकी मतिरूपी सीताके नेत्र रामके पद-पद्ममें उसी प्रकार अनुरक्त रहे जिस प्रकार चंचरीक कमल-पुष्पमें आसक्त होता है।[3] कमसे कम रामचन्द्रिकाकी रचना आरम्भ करते समय कविकी मनःस्थिति कुछ ऐसी अवश्य रही होगी। अतः यह कहा जा सकता है कि केशवका व्यक्तित्व तो निस्सन्देह भक्तकविका व्यक्तित्व नहीं था किन्तु कभी-कभी रह-रहकर उनके अन्तस्में भक्ति-भावका स्फुरण अवश्य हो जाया करता था।

व्यक्तित्व और मूल्यांकन

आचार्य केशवका व्यक्तित्व बहुमुखी है। वे काव्यरीति-प्रवर्तक आचार्य हैं। वे संस्कृतज्ञ पण्डित हैं। वे राजमन्त्री और नीतिज्ञ हैं। उन्हें वैद्यक और

---

[1] 'आचार्य केशवदास', पृ॰ ३४४।

[2] जानि यह केशौदास अनुदित राम राम रटत रहत न डरत पुनरुक्ति को।
—रामचंद्रिका, पृ॰ ३।

[3] रामचन्द्र पदपद्मं वृंदारकवृन्दाभिवंदनीयम्।
केशवमति भूतनया लोचन चंचरीकायते।
—वही, पूर्वार्द्ध, पृ॰ ७।

ज्योतिषका भी थोड़ा-बहुत ज्ञान है। संगीतमें उनकी अच्छी गति है और उसके भेद-प्रभेद उन्हें ज्ञात हैं। वे दर्शन और अध्यात्म-ग्रन्थोंके अध्येता हैं। उन्हें अस्त्र-शस्त्रोंकी भी अच्छी जानकारी है। यही नहीं भगवान् राम उनके इष्टदेव है।[1] उनकी मति रुपिणी सीताके नेत्र रामके चरण-कमलोंमें अनुरक्त रहते हैं।[2] वे अपने पुरातन पापोंको दूर करनेके लिए ही भगवान् रामके गुणोंका गान करते हैं।[3] उनके राम परब्रह्म हैं[4]। इस प्रकार वे भक्तोंकी कोटिमें आ जाते हैं। उनके ग्रन्थोंमें इतिहासकी अच्छी सामग्री है। अतः एक प्रकारसे वे इतिहास-निर्माता भी हैं। ऐसे महिमामय और बहुमुखी व्यक्तित्वको लोक-चेतना ने सूर और तुलसीके बाद तीसरा स्थान प्रदान करके उचित ही किया है। उनके परवर्ती आचार्योंने उनका अनुकरण चाहे न किया हो किन्तु कवियोंने उनके भावोंके अनुसार रचनाएँ की हैं। 'बिहारी' और 'मतिराम' इसके प्रमाण हैं। 'देव'ने तो अलंकारोंके निरूपणमें भी केशवकी ही पद्धतिका ध्यान रखा है। ऐसे महाकविकी सर्वाधिक उपेक्षा आचार्य शुक्ल द्वारा की गई। आचार्य शुक्लके निर्णय साहित्यके यथार्थ निर्णय हैं। ऐसी स्थितिमें उनके द्वारा किया गया महाकवि केशवदासका मूल्यांकन विचारणीय है। वास्तवमें केशवके सबसे बड़े समर्थक और मर्मज्ञ लाला भगवानदीनके निर्णय भी ठीक नही हैं जो आचार्य शुक्लके। दीनजीके निर्णयों पर ध्यान दीजिए—

[(केशव) कुछ रूखे जान पड़ते हैं; राजसी कवि हैं; बहुत-से मनमाने शब्द गढ़े हैं; वर्णन प्रधान कवि हैं; यह गुण (आन्तरिक भाव व्यक्तकरनेका)

---

१. मुनिपति यह उपदेश दै जबहीं भये अदृष्ट।
केशवदास तही कस्यो रामचन्द्र जू इष्ट॥
—रामचन्द्रिका, पहिला प्रकाश, छन्द १८।

२. रामचन्द्र पदपद्मं वृन्दारक वृन्दाभिवंदनीयम्।
केशवमति भू-तनया लोचनं चंचरीकायते॥
—वही, छन्द १९।

३. 'तिनके गुण कहिहौं सब सुख लहिहौं पाप पुरातन भागै।'
—वही, छन्द, २०।

४. 'यदपि जग करता पालक हरता, परिपूरण वदन गायो।'
—वही, ग्यारहवाँ प्रकाश, छन्द १५।

बहुत कम है; आचार्यत्व, कवित्व और पांडित्य-प्रदर्शन हेतु कविता करते थे; अपने गुणोंका अहंकार रखते थे; माघ, श्री हर्ष, भासके अनुगामी हैं।'][१] मूल्यांकनके आधारपर दिये गए निर्णय प्रायः एक होनेपर भी महत्त्व और गौरवकी स्वीकृतिमें अन्तर हो सकता है। प्रश्न निर्णयका नहीं मूल्योंका है। केशवके काव्यमें जो कुछ है वही जिसके काव्यादर्शोंकी सीमा होगी उसे केशवदासजी संसारके सबसे बड़े कवि प्रतीत होंगे। जिनकी आस्था भिन्न प्रकारके मूल्योंमें होगी उसे वे हीन प्रतीत होंगे। आचार्य शुक्लके आदर्श तुलसी हैं। वे रसवादी आलोचक हैं। वे मर्यादाको सर्वोपरि महत्त्व देते हैं। वे काव्य-की मान्यताओंको लोक-हृदय-समर्थित देखना चाहते हैं। वे काव्यको उस भूमिको महत्त्व देते हैं जिसमें लोक-मंगलकी भावना प्रधान हो। कोरी कलाबाजीसे उन्हें चिढ़ है। वे प्रबन्ध-रचनाको अधिक महत्त्व देते हैं। केशवकी स्थिति इसके ठीक विपरीत है। वे अलंकारवादी हैं। उनके काव्यमें मर्यादाको उचित स्थान नहीं दिया गया है। उन्होंने लोक-मंगलके लिए नहीं लिखा है। वे चमत्कार-प्रिय हैं। उनकी मनोवृत्ति दरबारी है। वे समाजको विधि-निषेध नहीं दे सकते। अतः आचार्य शुक्लकी निगाहोंमें उनका मूल्य कम है। लाला भगवानदीन भी चमत्कार प्रिय व्यक्ति थे। उन्हें अलंकारोंके प्रयोगोंमें आनन्द आता था। उनका केशवकी मनोवृत्तिसे मानसिक तादात्म्य था। यदि दीनजीके समयमें कोई रामसिंह या इन्द्रजीत होता तो वे अपनी टीका उसे ही समर्पित करते। इसीलिए केशव उन्हें प्रिय हैं। अब बात रह जाती है सत्यासत्य की। इसका निर्णायक सदैव काल रहा है। जिसमें शक्ति होती है वह कालको चुनौती देता हुआ मुसकराता रहता है। दुःखके साथ कहना पड़ता है कि केशवकी कविता इन्द्रजीत सिंहके अखाड़ेकी कविता है जिसका जमाना लद चुका है। बहुत पहले ही लद चुका था। शुक्लजी नवीन जीवन-चेतनाके प्रतीक हैं और दीनजी पुरानी। उन्होंने केशवके प्रेत काव्यका उद्धार अवश्य किया किन्तु उन्हें वह स्थान न दिला सके जो सूर और तुलसीका है। डॉ० हीरालाल दीक्षितने आचार्यत्वकी दृष्टिसे भी केशवको देव और भिखारीदाससे नीचा स्थान दिया है। तुलसी और सूर आज़के उद्भ्रान्त विकल मानवको भी कुछ दे सकते हैं, केशवके पास आज

---

[१] 'रामचन्द्रिका' उत्तरार्द्ध, भूमिका भाग।

देनेको कुछ भी नहीं है। ऐसी स्थितिमें लोक प्रचलित सूक्तियोंमें जो स्थान केशवको प्राप्त है। भगवान् करें वही बना रहे—

सूर-सूर तुलसी ससी, उडुगण केशवदास ।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ-तहँ करत प्रकाश ॥

× × ×

कविता कर्त्ता तीन हैं, तुलसी केशव सूर ।
कविता खेती इन लुनी, सीला बिनत मजूर ॥

× × ×

सुन्दर पद कवि गंग के, उपमा को बरबीर ।
केशव अर्थ गँभीरता, सूर तीन गुण धीर ॥

पठनीय सामग्री

केशव कौमुदी	लाला भगवानदीन
केशव की काव्य-कला	पं० कृष्णशंकर शुक्ल
संक्षिप्त रामचन्द्रिका	सं० डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
केशवदास	पं० चन्द्रबली पाण्डेय
आचार्य केशवदास	डॉ० हीरालाल दीक्षित
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डॉ० रामकुमार वर्मा

Sri Pratap Singh
Library
Srinagar.

उपसंहार

मध्ययुगीन हिन्दी-कवियोंके लिए काव्य-रचना साधनाकी वस्तु रही है, या यों कहिये कि उनकी जीवन-साधना ही काव्यके रूपमें साकार हुई है। कबीरने मनुष्यकी सहजताको आवृत्त करनेवाले समस्त आरोपित जीवन-मूल्योंको विघटित करके उसके अकृत्रिम एवं सहज रूपको प्रत्यक्ष करनेकी साधनाकी थी। जायसीने प्रेमकी स्निग्धतामें युगकी समस्त कटुताको प्रक्षालित करके जीवनको मधुमय बनानेकी साधनाकी थी। सूरदास और नन्ददासने प्रेम एवं ममत्वसे पूर्ण निश्छल सम्बन्धोंके आधारपर एक नैसर्गिक समाज-स्थापनाके स्वप्नको रूपायित करनेकी साधनाकी थी। तुलसीने परंपरागत सांस्कृतिक मूल्योंके परिष्कृत रूपको सामने रखकर व्यक्ति और समाजको मर्यादित करनेकी अभूतपूर्व साधनाकी थी। केशव इस कोटिके साधक तो नहीं थे किन्तु उन्होंने संस्कृत साहित्यके परंपरागत अभिजात-मूल्योंको हिन्दीमें रूपान्तरित करनेकी साधनाकी थी। पिछले पृष्ठोंमें मध्ययुगके सामान्य काव्य एवं जीवन-मूल्योंके प्रकाशमें इन कवियोंकी काव्य-कृतियोंके मूल्याङ्कनकी चेष्टाकी गई है। लेखकने जो कुछ कहा है उसमें पूर्व अध्येताओंके अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णयों एवं निष्कर्षोंको आत्मसात् कर लिया गया है किन्तु फिर भी मध्ययुगीन हिन्दी-काव्यको एक नये सन्दर्भमें रखकर देखनेका उसका प्रयास मौलिक है। नितान्त मौलिकताका दावा वह नहीं करता। आशा है, लेखकका यह प्रयास पाठकोंको सन्तोष दे सकेगा।

सहायक ग्रन्थ-सूची

अँग्रेजी-ग्रन्थ

Akbar the Great Mogal —Vincent A. Smith, 1958
Medieval India Under Mohammadan Rule —Lane-poole
Life and Conditions of the People of Hindustan —K. M. Ashraf, 1959
Travel in the Mogal Empire —Francsois Bernier, 1916
The Legacy of India —Ed. G. T. Garratt
Some Contribution of South India to Indian Culture —K. S. Ayainger
Influence of Islam on Indian Culture—Dr. Tarachand
Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar —Vol. IV
History of the Sikhs —Joseph Davey Cunningham, 1955
Kabir and the Kabir Panth —Rev. Westcott
Obscure Religious Cults —S. B. Das Gupta
Mysticism in Maharastra —Dr. R. D. Ranade
The Religion of Man —Rabindranath Tagore
Outlines of Islamic Culture —A. M. A. Shushtery, 1954
History of Philosophy : Eastern and Western —Sarvepalii Radha Krishnan
Social Philosophy of Mahatma Gandhi — Dr. Mahadeva rasad
Recent Political Thought —Francis W. Coker

हिन्दी-ग्रन्थ

हिन्दी-साहित्य का इतिहास —आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ।
हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव —डॉ० सरनाम सिंह
भूषण —पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
बिहारी —पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
भारतीय इतिहास का उन्मीलन —जयचन्द्र विद्यालंकार, १९५६
व्रजभाषा और उसके साहित्य की भूमिका—कपिलदेव सिंह
रहिमन विलास —व्रजरत्न दास
भक्ति का विकास —डॉ० मुंशीराम शर्मा
हिन्दी काव्य-धारा —राहुल सांकृत्यायन
कबीर —डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय —डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह
कबीर ग्रंथावली (सभा संस्करण) १९२८ ई०
सूरसागर (सभा संस्करण)
जायसी ग्रंथावली — (सं०) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
रामचरितमानस (गीता प्रेस संस्करण)
श्रृंगार शतक —(भर्तृहरि)
कविप्रिया —केशवदास
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय —डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
तसव्वुफ अथवा सूफीमत —पं० चन्द्रबली पाण्डेय
गोरखबानी —(सं०) डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
मंत्रयोग संहिता (भारतधर्म महामण्डल, काशी)
सन्तकवि दरिया : एक अनुशीलन —डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
उत्तरी भारत की संत परम्परा —पं० परशुराम चतुर्वेदी
हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग —डॉ० नामवरसिंह
कबीर की विचारधारा —डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, द्वि० सं०

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा
नाथयोग : एक परिचय —अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय
दक्खिनी हिन्दी का पद्य और गद्य —श्रीराम शर्मा
तुलसी ग्रंथावली (सभा संस्करण)
संत कबीर —डॉ० रामकुमार वर्मा
हिन्दी नवरत्न —मिश्रबन्धु सं० १८८१
हिन्दी साहित्य का आदिकाल —डॉ० हजारोप्रसाद द्विवेदी
कबीर साहित्य की परख —प० परशुराम चतुर्वेदी
भारत की भाषायें —डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
पद्मावत —(सं०) डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
पद्मावत सार —श्री इन्द्रचन्द्र नारंग
अपभ्रंश साहित्य —हरिवंश कोछड़
पद्मावत का काव्य सौन्दर्य —शिवसहाय पाठक
हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य —डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ
नाथ सम्प्रदाय —डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
भावना और समीक्षा —डॉ० ओम् प्रकाश
रस मीमांसा —आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
कबीर का रहस्यवाद —डॉ० रामकुमार वर्मा
भारतीय दर्शन —पं० बलदेव उपाध्याय
बौद्ध दर्शन और वेदान्त —डॉ० चन्द्रधर शर्मा
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय —डॉ० दीनदयालु गुप्त
ब्रह्म वैवर्त पुराण —(मनसुख राम मोर प्रकाशन, कलकत्ता)
सूर-साहित्य की भूमिका —डॉ० रामरतन भटनागर
सूर-निर्णय —प्रभुदयाल मीतल
सूर-सौरभ —डॉ० मुंशीराम शर्मा
अष्टछाप परिचय —प्रभुदयाल मीतल
साहित्यदर्पण —सं० डॉ० सत्यव्रतसिंह

भ्रमर गीत	—सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
भारतीय साधना और सूर साहित्य	—डॉ० मुंशीराम शर्मा
सूरदास	—डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा
सूर की झाँकी	—डॉ० सत्येन्द्र
सूर की काव्यकला	—डॉ० मनमोहन गौतम
सूरसागर सार	—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
सूर प्रभा	—डॉ० दीनदयालु गुप्त
काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध	—जयशंकर 'प्रसाद'
नन्ददास ग्रन्थावली	—सं० बाबू ब्रजरत्नदास
रास पञ्चाध्यायी	—सं० डॉ० उदयनारायण तिवारी
तुलसी ग्रन्थावली	तीसरा भाग, (ना०प्र०स० काशी)
तुलसी दर्शन	—डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र
तुलसीदास	—डॉ० माताप्रसाद गुप्त
काव्य मीमांसा	(ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा)
कल्याण (नारी अंक)	(गीता प्रेस, गोरखपुर)
कल्याण (साधनांक)	(गीता प्रेस, गोरखपुर)
मनुस्मृति	—सं० पं० रामेश्वर भट्ट
कविप्रिया	—आचार्य केशवदास
रसिक प्रिया	—आचार्य केशवदास
आचार्य केशवदास	—डॉ० हीरालाल दीक्षित
कामसूत्र	(वात्स्यायन)
विज्ञान गीता	—आचार्य केशवदास
रामचन्द्रिका	—सं० लाला भगवानदीन
कादम्बरी	(निर्णय सागर प्रेस, बम्बई)
वीरसिंहदेव चरित	(मातृभाषा मंदिर, दारागंज)
हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास	—जितेन्द्रनाथ पाठक
काव्य प्रकाश	—मम्मटाचार्य
केशव की काव्य-कला	—पं० कृष्णशंकर शुक्ल

नामानुक्रमणिका

अंडर हिल ११९
अकबर ५, ६, ७, ८, ३६, ३७, २८८, २९७
अक्षर अनन्य १०
अग्रदास २२
अमर कवि २७१
अमरचन्द २६६
अमीर खुसरो ४, ९३, ९४
अलाउद्दीन खिलजी ३६, ९१, ९३, ९४, ९५, ९७, १०७
अलाउल ८८
आलम ९
आशीर्वादीलाल ९४
इन्द्रचन्द्र नारग ९४
इन्द्रजीत सिह ६, २६६, २८७, ३१४, ३१५, ३१८
इस्पर्जन ११९
ईश्वरीप्रसाद ७६
उद्भट २६६
उसमान २२
ओम्प्रकाश ९२
औरगजेब ९, ११, २४, ३३, ३४, ३५, ३७
कबीर १४, २१, २२, २५, २७, २८, २९, ३८, ४०-८५, ९०, २६३
कर्णदेव ९४
करनेस ५
कासिम शाह २५
कुतुबन २२
कुम्भनदास २२
केशवदास ६,८,११, ३२, ७८, २६६-३१९
केशव मिश्र २६६
कृष्णदास २२
कृष्णशकर शुक्ल ३१२
ख्वाजामुईनुद्दीन चिश्ती ५७
खिजिर खाँ ९३
गंग ५
गाँधी २५३, २५४, २५७, २५८
ग्रियर्सन १८
गुरु तेगबहादुर १०, ११
गुरु रामदास १०
गुलामअली 'इशरत' ८८
गोकुल जाट १०, ११
गोरखनाथ २०, ४१, ४४, ४८, ४९, ५३
गोविन्द सिंह ११, २४, २५
घनानन्द ९, ३८, ३१०
चण्डीदास ६६
चतुर्भुजदास २२
चन्द्रसेन ६
चिन्तामणि ६
चैतन्य महाप्रभु २२
छत्रशाल ६, १०, ३५
जगतसिंह ६, १२
जयसिंह ६
जहाँगीर ६, ७, ८, २७९, ३०२
जायसी(मलिकमुहम्मद) १४, २२, २५,

२७-१२८, २६३
जियाउद्दीन 'इब्रत' ८८
टॉड ९२, ९३
टोडरमल ५
ठाकुर ९
तंतिपा ५२
ताराचन्द १८
तुकाराम ६२
तुलसीदास १४, २०, २२, २३, २५-३१८
दण्डी २६६, २७०-२७३, ३०२
दरियादास २२
दादू २०
दाराशिकोह २५, ३४
द्वारिकादास पारीख १४६
दीनदयालु गुप्त १३८, १४१, १४७, १७३, १७९
दुखहरनदास २५
दुर्गादास १०
दुरसाजी चारण १०
देव ९, १४, २८, ३१७
दौलत राव ६
धरणीदास २५
नन्ददास २२, २९, १७२, १७७-२०६
नरहरि ५
नज्मी ८७
नरोत्तमदास ३७
नानक २२
नाभादास २२, ८०, १७५, १७७,
नामदेव ६२
निम्बार्क १७
नूर मुहम्मद २५
पद्माकर ६, ११
परमानन्ददास २२
परशुराम चतुर्वेदी ५१, ५३, ७७, ८१, ८२
प्रतापसाहि ६
'प्रसाद' (जयशंकर) १७५
प्रिथीराज ५
पृथ्वीराज १२
प्रेमचन्द ८७
पारीछत ९
पीपा २२
पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव ७७
पोप १८
बड़थ्वाल (पीताम्बर दत्त)४९, ५४, ७७
बदनसिंह ६
बर्नियर ७, २५, ३४, ३७
बर्नेल १८
बर्नी ९४
बलबन ४, १२
बहादुर शाह १२
बाणभट्ट २९५
बाबर ५, ९४
बिहारी ६, ३१०, ३१७
ब्रिग्स ७६
बीरबल ५
बील ७६
बेनीमाधोसिंह १४
बोधा ९
भगवती सिंह २३३ (पा० टि०)
भगवानदीन ३०८, ३१७, ३१८
भंडारकर १८, २३, ५४, ७६
भरतमुनि २७७
भवभूति २८७
भारवि २६९

भावसिंह ६
भिखारीदास २४८
भीमसिंह ६
भूधरदास ११
भूपाल २७७
भूषण ६, १०
मकरंद शाह ६
मछन्दरनाथ ९०
मंझन २२
मत्स्येन्द्रनाथ ४८
मतिराम ६, ३१७
मध्वाचार्य १७
मधुकर शाह २७९, ३०२
मनमोहन गौतम १७०
मनोहर ५
मलूकदास २२
मम्मटाचार्य ३११
महाराणा साँगा ९४
माघ २६९
माताप्रसाद गुप्त २४४
माधव (कर्णदेव का मंत्री) ९४
मालदेव ६
मिश्रबन्धु ७७
मीराँबाई २२, ३८
मुअज्जम ९
मुंशीराम शर्मा ५४
मुहम्मद ४
मुहम्मद तुगलक ४
मुहम्मद कासिम फरिश्ता ९२
मुहम्मद साहब ९१
मेकालिफ ७६
मैगस्थनीज १
योगीन्दु (जोइन्दु) ४२
रहीम ५
रत्नसेन ९४, ९५, ९७, ९८, १०५, १०९
रतनसेन (मधुकर शाह के पुत्र) २७९, २८८, ३०२
रवीन्द्रनाथ टैगोर ६६, ७६
राघवाचार्य २१
राजवल्लभ पाठक ८८
राजसिंह १०
राजशेखर २४८
राजिया ८७
राणा प्रताप १०
राधाकृष्णन् ११९
रामशाह २६६
रामसिंह ६, ४२, ४३, ३१८
रामचन्द्र शुक्ल १४, ५४, ७७, ८९; ९१, ९२, १११, ११२, ११९, १२९, १६२, १६५, १६७, १९४, २०८, २८९, २९०, २९१, ३०२, ३१४, ३१७, ३१८
रामचरणदास २३
रामकुमार वर्मा ७७, ८४, ११९, २४९
रामसिंह तोमर ९५
रामानन्द २१, ४०, ४९, ५०, ५४, ५५, ५६
रामानुजाचार्य १७, १८, २७
राय गोविन्द मुंशी ८७
रावसूरज मल ९४
राहुल सांकृत्यायन २०
रूप गोस्वामी ३०
रुय्यक २०१
रैदास २२
लक्ष्मीबाई १४

२७-१२८, २६३
जियाउद्दीन 'इब्रत' ८८
टॉड ९२, ९३
टोडरमल ५
ठाकुर ९
तंतिपा ५२
ताराचन्द १८
तुकाराम ६२
तुलसीदास १४, २०, २२, २३, २५-३१८
दण्डी २६६, २७०-२७३, ३०२
दरियादास २२
दादू २०
दाराशिकोह २५, ३४
द्वारिकादास पारीख १४६
दीनदयालु गुप्त १३८, १४१, १४७, १७३, १७९
दुखहरनदास २५
दुर्गादास १०
दुरसाजी चारण १०
देव ९, १४, ३८, ३१७
दौलत राव ६
धरणीदास २५
नन्ददास २२, २९, १७२, १७७-२०६
नरहरि ५
नज्मी ८७
नरोत्तमदास ३७
नानक २२
नाभादास २२, ८०, १७५, १७७,
नामदेव ६२
निम्बार्क १७
नूर मुहम्मद २५
पद्माकर ६, ११
परमानन्ददास २२
परशुराम चतुर्वेदी ५१, ५३, ७७, ८१, ८२
प्रतापसाहि ६
'प्रसाद' (जयशंकर) १७५
प्रिथीराज ५
पृथ्वीराज १२
प्रेमचन्द ८७
पारीछत ९
पीपा २२
पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव ७७
पोप १८
बड़थ्वाल (पीताम्बर दत्त)४९, ५४, ७७
बदनसिंह ६
बर्नियर ७, २५, ३४, ३७
बर्नेल १८
बर्नी ९४
बलबन ४, १२
बहादुर शाह १२
बाणभट्ट २९५
बाबर ५, ९४
बिहारी ६, ३१०, ३१७
ब्रिग्स ७६
बीरबल ५
बील ७६
बेनीमाधोसिंह १४
बोधा ९
भगवती सिंह २३३ (पा० टि०)
भगवानदीन ३०८, ३१७, ३१८
भंडारकर १८, २३, ५४, ७६
भरतमुनि २७७
भवभूति २८७
भारवि २६९

भावसिंह ६

भिखारीदास २४८

भीमसिंह ६

भूधरदास ११

भूपाल २७७

भूषण ६, १०

मकरंद शाह ६

मछन्दरनाथ ९०

मंझन २२

मत्स्येन्द्रनाथ ४८

मतिराम ६, ३१७

मध्वाचार्य १७

मधुकर शाह २७९, ३०२

मनमोहन गौतम १७०

मनोहर ५

मलूकदास २२

मम्मटाचार्य ३११

महाराणा साँगा ९४

माघ २६९

माताप्रसाद गुप्त २४४

माधव (कर्णदेव का मंत्री) ९४

मालदेव ६

मिश्रबन्धु ७७

मीराँबाई २२, ३८

मुअज्जम ९

मुंशीराम शर्मा ५४

मुहम्मद ४

मुहम्मद तुगलक ४

मुहम्मद कासिम फरिश्ता ९२

मुहम्मद साहब ९१

मेकालिफ ७६

मैगस्थनीज १

योगीन्दु (जोइन्दु) ४२

रहीम ५

रत्नसेन ९४, ९५, ९७, ९८, १०५, १०९

रतनसेन (मधुकर शाह के पुत्र) २७९, २८८, ३०२

रवीन्द्रनाथ टैगोर ६६, ७६

राघवाचार्य २१

राजवल्लभ पाठक ८८

राजसिंह १०

राजशेखर २४८

राजिया ८७

राणा प्रताप १०

राधाकृष्णन् ११९

रामशाह २६६

रामसिंह ६, ४२, ४३, ३१८

रामचन्द्र शुक्ल १४, ५४, ७७, ८९; ९१, ९२, १११, ११२, ११९, १२९, १६२, १६५, १६७, १९४, २०८, २८९, २९०, २९१, ३०२, ३१४, ३१७, ३१८

रामचरणदास २३

रामकुमार वर्मा ७७, ८४, ११९, २४९

रामसिंह तोमर ९५

रामानन्द २१, ४०, ४९, ५०, ५४, ५५, ५६

रामानुजाचार्य १७, १८, २७

राय गोविन्द मुंशी ८७

रावसूरज मल ९४

राहुल सांकृत्यायन २०

रूप गोस्वामी ३०

रुय्यक २०१

रैदास २२

लक्ष्मीबाई १४

SPS
891.431 R 17 M
27925

लॉगन १८
लाल ६, १०
लेनपूल (स्टेन ले लेनपूल) १, ३५
व्रजेश्वर वर्मा १४१, १५८
वल्लभाचार्य १७, २२, १२९, १३०, १३१-१३४, १३७, १३९, १४०, १४३, १४४, १४६, १४८, १५१, १५२, १७७, १७८
वात्स्यायन २८२
विक्रम साहि ६
विचारदास ८३
विट्ठलनाथ १३९
विद्यापति ४, १४
विनयचन्द्र सूरि १०८
विश्वनाथ (साहित्य दर्पणकार) २७७
विश्वनाथप्रसाद मिश्र (पा० टि०) १०
विष्णु स्वामी १७
व्यासजी २२
वीरसिंह देव ६, २३६, २७९, २९६
वेस्कॉट ७६
वेबर १८
शंकराचार्य १६, २२३, १२९, १४२, १७९, १८०, २०९, २१०, २१६
श्यामसुन्दरदास ४९ ७७, ८४
शाहजहाँ ६, ७, ८, २५, ३४, ३७
शिरेफ ८८
शिवसिंह ४
शिवाजी ६, ९, १०, ३५
शुजा २५
शेख नबी २५
शेरशाह ३६
श्री कृष्ण स्वामी आयंगर १७
श्री भट्टजी ३३
सत्येन्द्र १७०
सरहपाद ४३
स्मिथ १
स्पेन्सर ११९
सुजान सिंह ६
सुन्दर कवि ६
सुन्दरदास ११, २२
सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ८४
सूदन ६, १०
सूरदास ८, २०, २२, २५, २६; २९, ३१, ३३, ३४, ३५, ३८, ७८, १२९, १३४-१७२, १७५, २६३, ३११, ३१७
सेनापति १३
सेन २२
हजारीप्रसाद द्विवेदी ४२, ४३, ४९, ५३, ५४, ७७, ८१, ८३, ९२, ९४, ९५, १०९
हंटर ७६
हरिदास स्वामी २२, १४७
हरिराय २२
हर्ष ८८, २६९
हृदयराम २२
हापकिन्स १८
हित हरिवंश २२
हीरालाल दीक्षित २७१, २७२, ३१६, ३१८
हुमायूँ ५
हुसैन गजनबी ८७
होलराय ५
क्षितिमोहन सेन ७६
ज्ञानेश्वर ६२, ६३